UNIVERSAL LIBRARY
OU_186688
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H294.592 M49G Accession No. P.G. H33

Author मेहरोत्रा, सिद्धिनाथ

Title गीता तत्वज्ञान : विश्व वियोग

This book should be returned on or before the date last marked below.

गीता तत्व प्रदीप

(विभूति योग)

सिद्धिनाथ मेहरोत्रा

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

मूल्य	आठ रुपये
प्रथम संस्करण	१९६३
मुद्रक	पियरलेस प्रिंटर्स इलाहाबाद
प्रकाशक	साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद

[सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित]

पूज्य ब्रह्मज्ञानियों के प्रति क्षमा याचना

(सूरदास के पद के माध्यम से)

द्वै लोचन तुम्हरे द्वै मेरे ।
तुम देखे प्रति अंग माधुरी, मैं भई मगन एक अंग हेरे ॥
अपनो अपनो भाग सखी री, तुम तनमय मैं कहूँ न नेरे ।
जो बुनिये सोई पुनि लुनिये, और नहीं त्रिभुवन भट मेरे ॥
स्याम रूप अवगाह सिंधु ते, पार होत चढ़ डोगिन केरे ।
सूरदास तैसे ये लोचन, कृपा जहाज बिना का पेरे ॥

भगवान आपके समान मेरे भी दो लोचन हैं। आपने श्रीमद्भगवत् गीता के द्वारा विभूति योग परमात्मा के प्रत्येक अंग की सुन्दरता को देखा है, परन्तु मैं तो एक ही अंग की माधुरी को देखकर मुग्ध हो गया यह तो अपना-अपना भाग है। आप लोग तो उनका रूप ही बन गये हैं, मैं तो उसकी क्या आपकी चरण धूलि के भी निकट नही हूँ। जैसा मैंने बोया था वैसा ही काटा है, इसलिये मैं लाख त्रिभुवन मे भटकूँ मुझे कुछ और नहीं मिलेगा। उनके सिंधु रूप को डोंगी पर चढ़ कर पार करना चाहता हूँ, परन्तु बिना आप सबकी जहाज रूपी कृपा के पार नहीं लग सकता।

मोहनिद्रा

हिमालय के हृदय से निकली गंगा जब तल हटी से नीचे उतरी, तो अपरिमित वनश्री ने उसे सिर आँखों में बसा लिया। दिशा-दिशा की वाणी ने मनुहारे की। थकी माँदी गंगा वैभव के इस विराम-कक्ष की उपेक्षा न कर सकी। वह वहीं उपत्यका के छोटे मोटे गड्ढों को सजल करती हुई निवास करने लगी। देव समाज ने देखा तो आश्चर्य-विकल रह गया। निष्फल प्रतीक्षा में अहोरात्रि आतुर खड़े समाज के संतापो का तो परावार नहीं था। गंगा के अमाध व्यवहार से स्वयं ब्रह्मा को बड़ी पीड़ा पहुँची। सुर और नर वृन्द के कातर आवाहन से वे पृथ्वी पर उतरे और गर्त गड्ढों में ही अलसायी पड़ी गंगा को संबोधित करते हुये बोले, 'गंगे मोहनिद्रा भंग कर, निज को मुक्त कर इस अज्ञान पास से। कहाँ जा रही थी और कहाँ रुक गई तू ? क्या यही सिद्धि है तपो यात्रा की ? गंगा ने नयन खोले, साथ ही उसके होठ भी खुले--क्या कहते है देव ? क्या मैंने अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं की ? क्या मैंने इन प्यासे गड्ढों को नहीं भरा ? ब्रह्मा किंचित हँसे--'सरलं कितनी भोली है तू ! केवल गड्ढे भरना हो तेरा काम नहीं है, तुझे तो इस सारी धरती को सीचना है। गड्ढे भरने का मोह त्याग। और फिर ये ही गड्ढे तो बस नहीं है--सारा रेगिस्तान तेरे दान का भिक्षु है। उठ, आगे--हाँ अंहकार कर, किन्तु नगण्य पर क्या अंहकार री। सब विराट पर ही शोभा देता है।

—वल्लतोल

मानव जीवन का हेतु, अपूर्णता तथा अज्ञान की रेखा को पार कर, पूर्णता (सिद्ध) और ज्ञान प्राप्त करना ही है।

सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य उद्देश्य ऐसे अनेक उदाहरण उद्धत करना है जो महेश्वर के दिव्य गुण, सामर्थ्य, विभूति आदि को अपने में प्रकाशित करे।

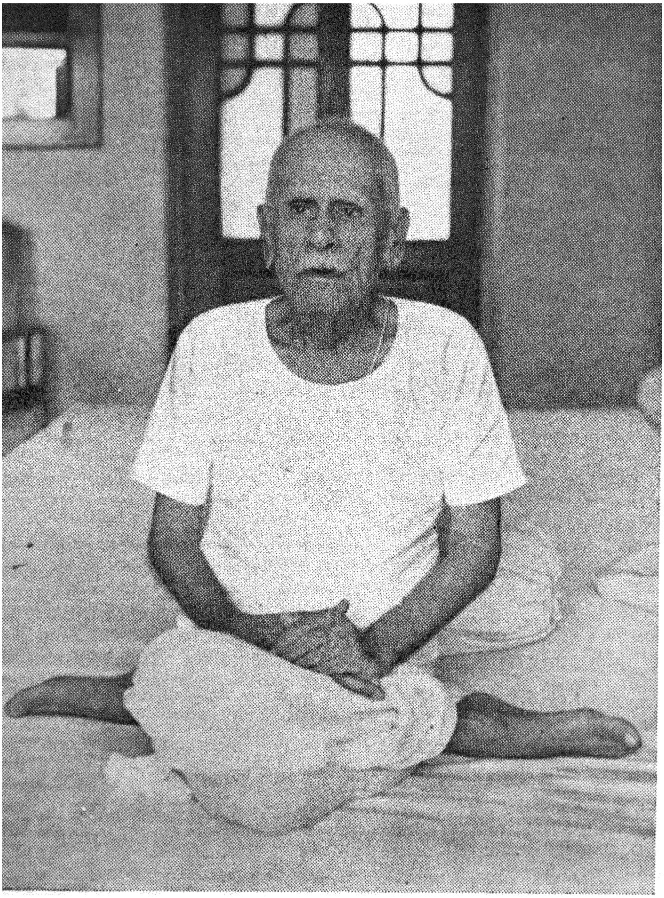

ग्रंथकार

पुस्तक परिचय

मैरे गुरु तुल्य मित्र स्वर्गीय श्री लालता प्रसाद जी टंडन, वकील, की प्रेरणा से हम लोगों ने सन् १६३० से गीता पर प्रति रविवार उनका प्रवचन सुनना प्रारम्भ किया, जो चार वर्षों मे समाप्त हुआ ।

बीच-बीच और अन्त में उनसे मेरा यही आग्रह था कि, "गुरु, आत्मा और परमात्मा को अलग कर, मुझे ऐसा उपदेश दीजिये कि मैं अपना जीवन कैसे सुन्दर बनाऊँ ।" यह चर्चा दस वर्षों तक चलती रही ।

इसी समय मैंने गीता के कुछ सिद्धान्तों को लेकर एक छोटी कापी में अपने भाव लिखे । उसके उपरान्त जो त्रुटियाँ थी, उनको मिटाते हुये और विस्तार कर एक पुस्तक के रूप में अपनी भावना बढ़ाई । टंडन जी का देहान्त असमय हो जाने पर, वह पुस्तक मैंने श्री ब्रजगोपाल जी तिवारी, जो उस समय बी० एन० एस० कालेज, कानपुर, में लेक्चरर थे उनको दिखाई । उन्होंने स्वयं आकर कुछ अंशों मे प्रोत्साहन दिलाया । मैं तब से इसी उधेड़बुन में लगा रहा, और कर्मयोग का विषय बढ़ चला । इस समय मुझे नवगॉव (बुन्देलखण्ड) जाना पड़ा । वहाँ स्थानीय राज्य के स्कूल के पं० बुद्धिबल्लभ जी शास्त्री को यह पुस्तक दिखाई, उन्होंने भी मुझे उत्साहित कर पांडुलिपि में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव और संशोधन किये ।

श्रीमद्‌भगवत् गीता आर्यों की जगत् प्रतिष्ठित पुस्तक है । यह अनन्त ज्ञान प्रस्तुत कर रही है । सहस्त्रों वर्ष बीत गया, जब यह गीता पहले पहल गायी गयी थी । तब से अब तक, यह हमारे कानों में गूँज रही है, मानों यह कल ही गायी गयी है । इस पुस्तक पर सन्त महात्माओं और सभी देशों के पंडितों तथा तत्व ज्ञानियों ने, अपने भावानुसार तत्व लेकर इसका विमर्श साहित्य इतना विस्तृत कर दिया है कि यदि इकट्ठा किया जाय तो एक वृहद् पुस्तकालय बन जाय । अब भी इसमें नये-नये अनूठे विचार प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते है ।

भगवद्‌गीता एक विश्वव्यापी मुक्ति को उपदेश ही नहीं, एक व्यावहारिक शास्त्र भी है । यह केवल मनुष्य के ध्येय ही को नहीं बताती है, अपितु यह मार्ग तथा निष्ठा को भी व्यक्त करती है । विभिन्न गुण और स्वाभाव रखते हुये भी लोग आज भी गीता से निर्धारित मार्ग पर चलने की चेष्टा करते हैं । इससे अधिक क्या होगा कि दैवी गुरु

हमारे हाथ अपने हाथ में लेकर एवम् कृपायुक्त होकर उस मार्ग पर नेतृत्व करता है। यदि हम मात्र उसकी शरण ग्रहण करले और वह जो आदेश दे, उस पर चलें तो हमें कभी भी भटकना नहीं पड़ता।

गीता हमसे कहती है कि धार्मिक जीवन में आँसू बहाना, कराहना या दुखित होकर तप करने की आवश्यकता नहीं है। इसमे तो सरलता से एक प्रेम और श्रद्धा या विश्वास की अदृश्य उन्नतिशील शक्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता है। यह भावना मनुष्य की सहज प्रकृति के साथ प्रारम्भ होती है। अपने जीवन की मूल शक्ति स्रोत को भी यह भावनायें सुधार सकती है और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और वातावरण का परिष्कार कर सकती है। हो सकता है, यह उसकी प्रवृत्तियो और परिस्थितियों के संशोधन में साधन बन जाय, और वह परमसुख व मुक्ति की अवस्था में पहुँच हा जाय।

गीता एक पूर्ण सिद्धान्त शास्त्र है। इन सिद्धान्तों को परमार्थ, स्वार्थ, उद्यम, व्यवसाय तथा विषाद से लेकर मुक्ति योग तक कहीं भी लगा सकते हैं। ये सनातन सत्य सिद्धान्त हैं जो हर समय लागू हो सकते हैं। इनमें अनेक सज्जन भक्ति, ज्ञान और कर्म को अलग अलग लेकर प्रति छः अध्याय में विभाजित करते हैं, परन्तु मेरी धारणा यह है कि इन तीनों का सभी अध्यायों और योगों में समावेश है। इसका मूल आधार इच्छा अर्थात् भक्ति है। यदि भक्ति (अर्थात् श्रद्धा, प्रेम और इच्छा) किसी भी योग मे न हुआ तो, ज्ञान व कर्म दोनों पंगु हो जाते हैं।

दूसरे भक्ति का तात्पर्य उपासना से भी है। साधन कार्य-सम्पन्नता के लिये हैं, साध्य नहीं। मेरी धारणा उपासना के लिये पहिले षोड़शोपचार तक सीमित थी। धीरे-धीरे मनन करने पर मैंने इसे केवल बड़ों का आदर भाव व्यक्त करने की रीति समझा। इस रीति को "तरीकते तमीज" के नाम से मैं समझता रहा। काफी दिनों बाद एक बारात में मैं कलकत्ते गया था। वहां मुझे श्री दामोदर दास जी खन्ना उपनाम लाला बाबू के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बातचीत में वे विवाह पद्धति का वर्णन करने लगे। उनके उस वर्णन से मुझे उपासना तत्व कार्यसिद्धि के लिये कर्म करने की प्रणाली के रूप मे समझ मे आया। आवाहन, संकल्प, विनियोग और कर्मकाण्ड अर्थात् कामना या इच्छा (भक्ति), रचना, निर्णय और योजना (Wish, idea, Design, Plannings, Work) आदि का सर्वथा नया अर्थ मेरे सामने खुलने लगा। यद्यपि स्वयं उनके भाव ऐसे न थे तथापि मुझको इन तत्वों का ऐसा आभास

मिला। इस आभास को लेकर इस दिशा में और आगे कर्म करने की प्रणाली मुझे ज्ञात हुई, और ऐसा प्रतीत हुआ कि जगत् में यावत् कर्म उपासना ही है, और इस प्रणाली से यदि उपासना का प्रयोग किया जाय तो वह अवश्य फलीभूत होते हैं।

माहात्माओं और गुरुजनो ने कर्म को ही उपासना कहा है, जिसको पाश्चात्य देशीय भी Work is Worship कहते हैं। श्री शङ्कराचार्य जी व श्री स्वामी विवेकानन्द जी भी कर्म के इस महत्वपूर्ण पक्ष का अनुमोदन करते हैं। तभी तो कहा है :—

"यत् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भोस्तवाराधनम्।"

उपासना का षोड़शोपचार अंग भी एक रहस्य है। देवता का आवाहन कर, वहाँ अर्घादि से उपचार कर, ताम्बूल पूँगीफलादि तथा प्रदक्षिणा नमस्कार कर उनकी तुष्टि कर दी जाती है। तब अपनी कामना की प्रार्थना करो और वह देवता उस उपचार से प्रसन्न होकर कामना सफल होने का बरदान देगा ही। परन्तु उपर्युक्त षोड़शोपचार मे आजकल पंडितों ने "प्रदक्षिणे नमस्कारः" का संशोधन कर उसको "दक्षिणा द्रव्यं नमस्कारः" मे परिवर्तित कर दिया है, क्योंकि आजकल के जगत् में बिना दक्षिणा दिये कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

इसका कारण यह है कि आजकल वह देवता नहीं है। स्वामी दयानन्द जी ने देवता की व्याख्या अपने सत्यार्थ प्रकाश में 'विद्वान सः देवाः कहा है। यह उचित ही है, अर्थात् देवता वही है, जो विद्या मे निपुण अर्थात् दक्ष हो और जिसने अपने कार्यक्षेत्र में सफलता प्राप्त की हो। उसी के अनुसार आजकल इस प्रकार के विशिष्ट कार्य को करने के लिये कुछ लोग वार्ता करते है क्योकि इस प्रकार के कार्य को सम्पन्न करने के लिये दक्ष पुरुषों के सहयोग एवम् उनकी मंत्रणादि लेना आवश्यक है। मंत्रणा "दक्षिणा द्रव्यं नमस्कारः" बिना नहीं मिल सकती, अर्थात् अपनी फीस लिये बिना वह महापुरुष बरदान कभी देते नहीं। अतः पंडितों का संशोधन उचित ही हुआ है।

षोड़शोपचार में यह रहस्य है कि जब मनुष्य की भोजनादि उपचार से तुष्टि हो जाती है, तब उसका मन शान्त होता है, और यजमान के हित की ही सोचता है। इसका अनुभव मेरे जीवन मे सत्यतः हुआ है। नेपोलियन हिल (Nepolian hill) की पुस्तक विचार और (Think and grow Rich) सन् १९४३ से मेरे पास पड़ी थी। अनायास ४ वर्ष हुये उसको निकाल

कर मैं पढ़ने लगा, तो देखा कि टंडन जी के अपने हाथ के लिखे शास्त्रीय भाव जगह जगह अंकित है। उनको देखकर और पुस्तक का भाव विभूति योग की पद्धति समझकर मेरी उपासना के अर्थ की भावना और पुष्ट हो गई तथा वृद्धि के साथ-साथ कुछ उत्साह भी मिला। इस प्रकार से व्यक्त दृष्टिकोण और गीता के सिद्धान्तो की व्याख्या ने मुझे विभूति योग पर लिखने के लिये प्रेरणा और साहस प्रदान किया है।

जब यह पुस्तक समाप्त हुई तो मैंने अपने प्रिय मित्र श्री ब्रजगोपाल जी तिवारी के पास, जो आजकल जबलपुर कालेज में दर्शन और मनोविज्ञान के मुख्य अध्यापक हैं, भेजी। उन्होंने कृपाकर अपने मित्र सह-अध्यापकों द्वारा इसमें कुछ संशोधन कर छपवाने के लिये विशेष आदेश दिया। उनको पुस्तक के भाव अतिरुचिकर प्रतीत हुए। मैं उनका बड़ा आभारी हूँ।

गीता से प्रायः सभी लोगों ने भक्ति, कर्म अथवा ज्ञान द्वारा परमात्मा के तत्व का दर्शन या सिद्धि पाई है :

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ १३-२४

उस (परमात्मा) को कितने ही मनुष्य तो ध्यान के द्वारा आत्मा में देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोग के द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग के द्वारा प्राप्त करते हैं।

किन्तु मेरी भावना में स्वकर्म में ही सिद्धि का आभास मिल रहा है। अपने इन्हीं विचारों को स्पष्ट रूप में परिणत करने के प्रयास में मैं पिछले तीस वर्षों से लगा रहा। अब फिर उपरोक्त पुस्तक से प्रोत्साहन मिलने पर इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि इसमें अनेक त्रुटियाँ होंगी, कदाचित् इसमें भाषा शैली का भी दोष दिखाई देगा, परन्तु यदि भाव को लेकर पाठकगण स्वयं सुधार लेंगे, तो मैं अपने को कृतज्ञ मानूँगा। "अवगुन तज सबके गुन गहहीं" के सिद्धान्त के अनुसार ही विद्वत् जन इस पुस्तक को ग्रहण करेंगे यह मेरा पूरा विश्वास है।

इस निबन्ध को पढ़ने योग्य पुस्तक के रूप में लाने का समस्त श्रेय पंडित बुद्धि बल्लभ जी को ही है। उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर, मेरे विश्रृंखल भावों को एकत्र कर उनको एक रूप देने में मुझे बड़ी सहायता दी है। मैं उनका भी बहुत आभारी हूँ।

विषय तथा वस्तुओं को किस प्रकार उपयुक्त बनायें

कुछ प्रधान व्यक्तियों का समूह एक स्थान पर इकट्ठा हुआ था। बातचीत में एक पुरुष के विषय में चर्चा होने लगी। इस व्यक्ति को वे सब लोग जानते थे और प्रत्येक के मन मे उसके प्रति आदर भाव था।

उसके विषय में बातचीत करते हुये किसी एक ने कहा, 'यह विचित्र बात है कि वे जिस काम में हाथ डाल देते हैं, सफलता प्राप्त कर लेते हैं।' इस बात पर सभी सहमत हुए और उनमे से एक ने कहा, 'यह सत्य है।' किन्तु इसका विवेचन करना कठिन है। वह केवल एक सरल हृदय साधारण व्यक्ति है और उनमें विशेष गुण भी नहीं है।'

तब तीसरे सज्जन कहने लगे, "मैं उनको कालेज से जानता हूँ, जब साथ पढ़ते थे। वहाँ उन्होने कोई विशेष स्थान नहीं पाया था, और न किसी विषय में प्रतिष्ठा ही पाई थी। जैसे और छात्र थे वैसे ही सामान्य वह भी थे।" तब और एक बोल उठे, 'आप जानते हैं, मेरे विचार में उनका व्यक्तित्व भी कोई आकर्षक नहीं है। वे निस्तेज हैं, उनमे कोई स्फूर्ति भी नहीं है।'

बातचीत आगे बढ़ी। लोगों ने उसके लजीलेपन और सब से अलग रहने के स्वभाव की निन्दा की! आदमियो से कम मिलने एवम् उसके आत्महीन सकीर्णता के विषय मे बातचीत चल पड़ी। अन्त में उन सब के भाव लेकर एक ने कहा, "यह सब कमी होते हुए भी उसमें वह जादू भरा है कि उसके छू लेने से ही सब काम ठीक बन जाते है। कहावत है कि मिट्टी छूते ही सोना हो जाती है।"

हम सभी प्रायः ऐसे लोगो को जानते हैं। हममे से बहुत ऐसे संसर्ग को मेधावीपन की अथवा ईश्वर की देन ही समझते हैं। उनके मतानुसार बहुत थोड़े लोगों को ही यह शक्तिप्राप्त होती है। मैं ऐसा विश्वास नहीं करता। मुझे नहीं लगता कि ऐसा नियम है। यह सत्य है कि हम में से कुछ ही विभूतिमान व्यक्ति हुए हैं और होते हैं, चाहे वह धनी, ज्ञानी, बली, आविष्कारक, उद्यमी, व्यवसायी, त्यागी और परमहंस इत्यादि कुछ भी हों, जो इसके उदाहरण रूप में है, परन्तु यदि उनके जीवन का अध्ययन किया

जाये, तो पता चलेगा कि प्रत्येक ने स्वयं ही यह सब सम्पन्नता पाई है। उनके निरन्तर श्रम अथवा तप, उनकी अनवरत चेष्टा और अन्यता का फल ही है जो उन्हें सफल बनाता है।

मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि ईश्वर थोड़े ही व्यक्तियों पर अपनी कृपा करता और शेष बीच वालों को अधर में लटका रहने देताहै, क्योंकि हमारे पूर्वज कहते है कि आप जैसी स्थिति में हैं, उससे कहीं अधिक क्षमता आप में है। पुरुषार्थ भी एक तत्व है। जिसका जितना पुरुषार्थ है उसी के अनुसार वह पाता है। इसलिए मेरा तो यही विश्वास है कि कोई भी स्त्री या पुरुष यदि अपनी क्षमता का पूरा उचित उपयोग करे, तो निसन्देह वह भी ऐसा ही सफल हो सकता है।

एक महापुरुष ने कहा है कि उनके मन पर जो अत्यधिक प्रभाव पड़ा वह इसका नहीं था कि मनुष्य ने कितना हृदयंगम किया किन्तु यह था कि मनुष्यों ने कितनी चूकें कीं—अर्थात् अवसर हाथ से जाने दिया। हम अपने मस्तिष्कों (बुद्धि) से कितना अधिक कर सकते हैं इस पर विचार नहीं करते। इसका कारण यह है कि हम अपनी शक्ति को भिन्न-भिन्न दिशाओ में अनेक भाँति से निकल जाने देते है!

हम अपना समय क्रुद्ध होकर इसलिये खो देते हैं क्योकि हम जो चाहते हैं वह वस्तु कोई दूसरा व्यक्ति रखता है या हम अपनी असफलताओ के कारण चिन्ता करते हैं। हम अपने मस्तिष्क से सहायता लेने में, कोई भी चेष्टा नहीं करते, यथापि वह सदैव आदेश ग्रहण करने की चेष्टा करता है यदि कोई व्यक्ति वास्तव मे जागरूक है तो वह अनजाने सहज भाव से उपयुक्त कार्य कर सकता है।

उदाहरणार्थ इसी संदर्भ मे एक भलीभाँति जागरुक व्यक्ति ने बड़े सुन्दर ढग से अपना अनुभव वर्णन किया है। वह युवा पहिले-पहिल कैसे एक कार्यालय में काम पर लिया गया इसी का वर्णन उसने किया है। जब वह नौकरी की तलाश में कार्यालय गया और उसे कार्यालय के अध्यक्ष से मिलने का अवसर दिया गया, तो अध्यक्ष ने बताया कि उसके यहाँ कोई जगह खाली नहीं है। वह निराश होकर लौटने लगा। जैसे ही वह अध्यक्ष के दफ्तर निकल रहा था, उसने एक सुतली का टुकड़ा जमीन मे पड़ा देखा। उसने उसको उठाकर रद्दी की टोकरी में डाल दिया। अध्यक्ष ने यह करते हुए उसे देख लिया और बुलाकर बोला, 'यहाँ लौट आओ, हमारे यहाँ

तुम्हारे लिए काम है।' यह कितना स्पष्ट है कि उस युवा का मन पूर्णरूप से जागरूक था !

हम लोगों में से अधिकाँश अपने मस्तिष्क को यथेष्ट चेष्टा नहीं करने देते। मस्तिष्क से अधिक काम लेने के लिए हमें एक रीति कहने दीजिये। एक सबसे कठिन रूखी पुस्तक जो आपको नीरस लग सकती हो ले लीजिए और बैठ कर पढ़िये। बिछौने पर सोने जाने के पहिले दृढ़ निश्चय हो जाइए कि आपने उसका कम से कम एक परिच्छेद समझ लिया है। अब आप प्रातः उठें, तब उस परिच्छेद का मनन करें। इस प्रकार शारीरिक व्यायाम की भाँति मस्तिष्क का व्यायाम करें।

सबसे उत्तम पुस्तक जो आपके मानसिक तथा आध्यात्मिक व्यायाम का काम देगी, श्रीमद्भगवद् गीता है। अपनी बुद्धि (मस्तिष्क) को इस पर कुशाग्र बनाइए। हो सकता है कि आप इसको सरल न पायें, फिर भी इस बृहत पुस्तक पर ध्यान लगाइये। इसको समझने का प्रयत्न कीजिये।

उसी गीता में कहा भी है :—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।४-३८

इस संसार ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निसन्देह कुछ भी नहीं है। योग द्वारा सिद्ध पुरुष उस ज्ञान का अनुभव समय पर भलीभाँति आत्मा में करता है।

ईशू मसीह की, कहावत है, पुस्तक में भी इसी पर महत्व दिया गया है :—

'ज्ञान (बोध) जीवन का एक कूप स्रोत है, इस शब्द पर विचार कीजिये। प्रत्येक भाव इसमें बुलबुला-उफना रहे हैं और नई कल्पनाये सभी समय निकलती रहती है।

गीता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्ययन कीजिए और जो आपके मन में दबी हुई शक्ति है, उसका उपयोग कीजिये। आप भी वैसा ही चमत्कार कर सकते हैं—वह संसर्ग जो प्रत्येक वस्तु को उपयुक्त बना दे—अर्थात् 'मिट्टी छूने से सोना बन जाय।'

प्राक्कथन

हो सकता है, इस विभूति योग के व्यवहारवाद के प्रोत्साहन को अनेक पुरानी परम्परावाले अध्यात्मवादी लोग कपोल कल्पित अथवा वितण्डावाद बतलायें। इस भावना के मन मे आने का कारण एकमात्र उनकी आस्तिकता है। उनकी आस्तिक भावना के बल पर ही मैं कहता हूँ कि मेरी युक्तियाँ उनके हृदय मे स्थ न प्राप्त करेंगी। इस सृष्टि का रचयिता परमात्मा है और उसी ने अपनी लीला के हेतु भिन्न-भिन्न जीव—स्वेदज, अण्डज और जरायुज—पात्र रूप में उपजाये है। अब उन पात्रों का धर्म है कि अपने आश्रम, पद और अवस्थानुसार अपने कर्त्तव्यों को शक्ति भर चरम सीमा तक निभायें। उस परमात्मा की लीला का आनन्द तभी आयेगा।

यह विचारणीय विषय है कि जिस परलोक का अभी तक कुछ भी पता या विवरण नहीं मिल पाया है, उसके विषय में तो उपदेशक प्रचुर मात्रा मे उपदेश करते हैं, किन्तु इह लोक को, जिसे वे प्रत्यक्ष देख रहे हैं, मिथ्या कह कर लोगों को अपने कर्तव्यों से विमुख कराते हैं। यहाँ पर एक महापुरुष के वचन प्रमाणिक हैं—"धर्मोन्माद परलोक सम्बन्धी विचारों का ऐसा आवेगपूर्ण प्रभाव है कि वह मनुष्य को इस लोक के कर्त्तव्यों के प्रति सर्वथा उदासीन कर देता है।" अथवा "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" अर्थात् जो मनुष्य ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, वह अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं (इशोपनिषद्)

अपने कर्त्तव्यों को, जो भगवान ने आपको सौंपे हैं, छोड़कर आप (Religion) रिलीजन शब्द के अक्षरशः अर्थ, (Re) री = (Again) पुनः फिर (Legio) लीजियो = (to go back) लौटना, का पालन कर रहे हैं। क्या यह ठीक है? मेरे विचार से तो हम लोगों को आगे बढ़ना चाहिये, अन्तिम लक्ष्य पा लेना चाहिये, और पीछे मुड़ने की प्रक्रिया छोड़ देनी चाहिये।

चक्र के जिस विन्दु से आप चले हैं, पीछे लौट कर भी वही विन्दु पायेंगे और आगे बढ़कर भी अन्त में उसी विन्दु पर पहुँचगे। पीछे लौटने में आप अपने आश्रम, कुल और पद से विमुख होकर पहुँचते हैं जो भगवान की

इच्छा के विरुद्ध है अर्थात् दो मार्ग हैं एक कर्त्तव्य विमुख होकर और दूसरा सीधे चल कर कर्त्तव्यों का पालन करते हुये। श्रेय और प्रेय की समस्या हल करने का प्रमुख विन्दु यही है।

अब रही बात जगत् मिथ्या की। ऐसा किसी के लिये नहीं सुना गया है कि इस कर्मभूमि (कुरुक्षेत्र) के अतिरिक्त उसने किसी और नई सृष्टि के द्वारा परमात्मा की उपलब्धि की हो। साधन-धाम तो यहीं है, यहीं से होकर जाना होगा और यहीं का प्रमाणपत्र प्राप्त करना होगा। "उतते कोउ आवे नहीं, जासों पूछौं जाय। इतते ही सब जात हैं, भार लदाय लदाय।" यह सृष्टि ही कहती है कि अमुक ने गोलोक या साकेत पाया है, वहाँ का कोई प्रमाण नहीं हैं और श्रुति भी कह रही है—"यदे वेह तदमुत्रयद मुत्र तदन्विह" अर्थात् जो यहाँ है वही अन्य हैं, जो अन्यत्र है वही यहाँ है (कठोपनिषद्) तब जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि पुरुषार्थियो के लिये जगत् कर्मक्षेत्र है और आलसियों के लिये मिथ्या। केवल आसक्ति को दूर करने के उद्देश्य से ही प्राचीन आचार्यों और शास्त्रकारों ने जगत् को मिथ्या बतलाया है, नकि कर्मक्षेत्र से भागने के लिये।

यह संसार सुख-दुःखमय है, बहुतों को यह दुःखमय अधिक प्रतीत होता है। जगत् मे सभी जीव चींटी से ब्रह्मा तक दु:ख को टाल कर सुख के लिये प्रयत्नशील हैं। और शान्तिपर्व मे भी भृगुजी भरद्वाज जी से कहते है—"इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तु प्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। न ह्यतः परं त्रिवर्गफूलं विशिष्टतरमस्ति।" अर्थात् इस लोक में तथा परलोक में सब जीवों की सारी प्रवृत्ति सुख के लिये है। धर्म, अर्थ और काम का फल सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

परमात्मा "सच्चिदानन्द" स्वयं सत्-चित्-आनन्द रूप है। अंश होने के नाते जीव उस आनन्द अंश को, जो उसने अज्ञानतावश विषयों में मोह जाने के कारण खो दिया है या भुला दिया है, यदि प्राप्त करने की इच्छा व चेष्टा करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

अपने सहज आनन्द को पुनः प्राप्त करने के हेतु, मनुष्य न्याय या अन्याय सभी प्रकार के कर्म करता रहता है। क्योकि 'स एव काम्यो गुण विशेषोधर्मार्थगुणारम्भरतद्धेतुरस्योसत्तिः सुख प्रयोजनार्थ आरम्भ.' वह सुख ही प्राणी का वाञ्छनीय गुण विशेष है। धर्म और अर्थ जिसके अंग है, उस सुख के लिये

ही कर्मों को आरम्भ किया जाता है, क्योंकि सुख की उत्पत्ति में उद्यम ही हेतु है।

आनन्द का एक रूप उपनिषद् में इस प्रकार है—

"युवास्यात्साधु युवाध्यापक आशिष्ठो दृढ़िष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णस्यात्। स एको मानुष आनन्दः"

अर्थात् साधुस्वभाव वाला नवयुवक हो, भली भाँति शिक्षित हो, कभी निराश न होने वाला हो, अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो, धनधान्यपूर्ण पृथिवी हो। यही एक मानवीय आनन्द है।

इसी सुख या आनन्द और शान्ति की प्राप्ति के लिये, पाण्डवों और कौरवों में युद्ध छिड़ गया। रण के बीच पाण्डव अर्जुन, अज्ञानता और मोह के वश फिर उन्हीं विषयो मे पड़कर सुख को तिलाञ्जलि देता हुआ, युद्ध न करने की भावना लाया। ऐसे समय मे उसके सौभाग्य से, श्रीकृष्ण के रूप मे परमात्मा ने कर्त्तव्य कर्म करने पर अनेक प्रकार के उपदेश दिये और उसको मोह का विनाश कर कर्त्तव्य-कर्म के माध्यम से उसे शान्ति व सुख दिलाया।

उन उपदेशों मे कर्म करने के अनेक मार्ग है, जिनको संकलित कर श्री वेदव्यास जी ने श्री मद्भगवद्गीता के रूप हमे दिया है। यह एक अनमोल रत्नहार है, इसका प्रत्येक श्लोक बहुमूल्य मणि है। इसमें सुख प्राप्ति के लिये अनेक युक्तियाँ हैं। युक्तियों को हम योग नाम से जानते है।

गीता मे श्री भगवान शब्द बार बार आया है। इस भगवान शब्द का अर्थ हैं—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रिय। ज्ञान वैराग्योश्चैव षण्णा भग इतीरणा", अर्थात् सम्पूर्ण बल, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, इन छः का नाम भग या विभूति है। यह सब विभूतिया जिसमें सम्पूर्ण हो, वही भगवान है। इन छहों मे बल के अन्तर्गत आत्मबल, तपोबल, बाहुबल आदि समस्त बलो का समावेश है। धर्म मे समस्त कुल, आश्रम, जाति, देश, राज्य, नीति और जीव के कर्त्तव्य कर्मादि सम्मिलित है। यश मे सभी प्रकार के यश है। श्री मे सभी सम्पदा, धन, अन्न, द्रव्य, पशु और भूमि इत्यादि हैं। ज्ञान के अन्तर्गत सभी प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, कला और आविष्कार आदि हैं। वैराग्य से जगत् के यावत विषयों मे रहते हुये उनमें लिप्त न होते हुये भोगने का अर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि इन सबको ईश्वर ही हस्तगत कर सकता है। परन्तु अंश के रूप में मनुष्य इसके किसी एक विभाग या विषय में भी सिद्धि प्राप्त कर ले तो उसी अंश रूप के अनुपात मे, अन्य शेष पाँच विभूतियाँ भी उसको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं यह एक विचित्रता है।

यदि आपने केवल त्याग में ही सिद्धि प्राप्त कर ली तो आपके भक्तों के रूप में बल, धर्म की वृद्धि, धन, यश, जन सम्पर्कादि अपने आप उपलब्ध हो जायेंगे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे ही युग में महात्मा गांधी हैं जिन्होंने अंश रूप मे सिद्धि प्राप्त की थी। आप लोगों ने स्वयं देखा है कि उनके कितने अनुयायी थे, उसी से उनके बल का अनुमान कर सकते हैं। फिर धन की क्या कमी थी, राष्ट्रपिता होने के कारण जो वह चाहते सब प्रस्तुत हो जाता। धर्म में वह अपने स्वभावानुसार पक्के थे, कभी विचलित नहीं हुये। यश तो संसार भर में फैल गया था। ज्ञान के विषय में जगत् का बड़े से बड़ा प्रत्येक विषय का ज्ञानी उनसे साक्षात् करने आता था। ये सब विभूतियाँ उन्हें एकमात्र वैराग्य या त्याग से उपलब्ध हुई थीं।

गीता के दसवें अध्याय में विभूति योग का वर्णन है, उसमे विभूतियों का वर्णन भगवान इस प्रकार करते है :—

हे अर्जुन ! सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ; आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ; आदित्यों मे विष्णु हूँ; ज्योतियों मे सूर्य हूँ: मरुतों मे मरीचि वायुदेवता; नक्षत्रो मे चन्द्रमा हूँ; वेदो में सामवेद हूँ; देवों मे इन्द्र हूँ; इन्द्रियो मे मन हूँ: भूत प्राणियो मे चेतना हूँ; रुद्रों मे शंकर हूँ; यक्ष तथा राक्षसों मे धन का स्वामी कुबेर हूँ; आठ वसुओ मे अग्नि हूँ: शिखर वाले पर्वतों में सुमेर हूँ; पुरोहितो में मुख्य बृहस्पति हूँ; सेनापतियों मे स्वामिकार्तिक तथा जलाशयों मे सागर हूँ, महर्षियों मे भृगु हूँ; स्थिर रहने वालों मे हिमालय हूँ; वृक्षों मे अश्वत्थ और देव ऋषियों में नारद हूँ; गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों मे कपिल मुनि हूँ; घोड़ो में उच्चैश्रवा, हाथियों में ऐरावत तथा मृगेन्द्रों में सिंह हूँ; मनुष्यों मे मुझको राजा जान ! इस प्रकार बीसवें श्लोक से उन्तालीसवें तक व्याप्त दृश्य-जगत् मे ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों को वस्तुओं के विशिष्ठ गुणों मे बताया गया है। चालीसवें श्लोक में कहा गया है कि यह तो संक्षेप मे कही गई विभूतियाँ है, 'वैसे मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है, फिर इकतालीसवें श्लोक में वे वर्णन करते हैं कि जितनी भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तुयें है उन सबको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान।'

इन विभूतियों के वर्णन के पहले भगवान कहते हैं :—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।। १०-७

अर्थात् , जो पुरुष इस मेरे विभूति योग (कर्म सुकौशलम्) को तत्त्व से जानता है, वह निश्चल योग द्वारा मुझमें ही आकर मिलता है अर्थात् मुझ में एकीभाव से स्थित हो जाता है, इसमें कुछ संशय नहीं है ।

इससे मालूम होता है कि कोई भी किसी पद या स्थिति का हो, जिसने विभूति प्राप्त कर ली, वह उन्हीं का रूप हो जाता है अर्थात् परमात्मा में सायुज्य हो जाता है । तथा उन्हीं विभूतियों को आनन्द जानकर, ऐश्वर्य इप्सु नये नये आविष्कारो और कलाओ (लोकहित) इत्यादि में तन्मयता से सिद्धि प्राप्त करने में लगा रहता है और उन्हीं विभूतियों को अपना उपास्य देव या इष्ट मानकर चेष्टा करता है । तथा :—

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। १०-९

निरन्तर मुझ में अर्थात् अपने इष्ट में चित्त लगाये हुये और अपने प्राणो को मुझ में अर्थात् अपने इष्ट में अर्पण करने वाले, परस्पर बोध करते हुए और (मेरा) इष्ट का वर्णन करते हुये सन्तुष्ट होते हैं, वे (मेरे ही) इष्ट में ही रमण करते हैं ।

ऐसा करने से भगवान कहते हैं :—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। १० १०

उन निरन्तर इष्ट के ध्यान में लगे हुये और प्रेम पूर्वक भजने वाले (उपासक = चेष्टा करने वाले) को मैं बुद्धि योग देता हूँ, **जिससे वे** (मेरे) इष्ट को प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपना अभीष्ट प्राप्त करते हैं ।

इससे निष्कर्ष निकला कि विभूति उपासना द्वारा ही प्राप्त होती है । उपासना की व्याख्या श्रीशंकराचार्य जी इस प्रकार करते हैं :—"उपासनं नाम यथाशास्त्रम् उपास्यस्य अर्थस्य विषयकारणेन सामीप्य उपगम्य तैलधारा-वत् समान प्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालम् यद् आसनं तद् उपासनम् आचक्षते ।" अर्थात् शास्त्रानुसार अपने उपास्य (ध्येय) को ग्रहण कर और उसके पास बैठकर अपने विचारों को सभी वाह्य विषयों से हटाकर अपने ध्येय की ओर तैल धारावत् दीर्घकाल तक लगाने का अभ्यास करना चाहिये । इस प्रकार

अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये तैलधारावत् या अनन्य भाव से चेष्टा करने को ही उपासना कहते हैं।

चूँकि साधारण जन अपने को स्वभाव से ही कर्ता-भोक्ता जानना है और उससे होने वाले कर्मफल में रागद्वेषों से युक्त है, उसके लिये कर्म का विधान किया गया है, इसलिये श्रुति कहती है कि यह सब (कर्मकाण्डी) पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं।

उपासना दो प्रकार की है—ब्रह्म (निष्काम) और अब्रह्म (सकाम)। ब्रह्म उपासना के लिये, "ईश्वरप्रणिधानाद्वा", ईश्वर प्रणिधान कहा है और अब्रह्म में "यथाभिमतध्यानाद्वा", अपने मत के अनुसार इष्ट का ध्यान करना है। हमारा विषय सकाम (अब्रह्म) होने के कारण यहाँ अब्रह्मोपासना के अन्तर्गत अपने मत के अनुसार इष्ट की उपासना करना ही अभीष्ट है। उपासना का मुख्य लक्ष्य अपने इष्ट में तन्मय हो जाना है, तथा पराकाष्ठा की अनुरक्ति ही भक्ति है।

उपासना श्रद्धा और विश्वास पर अवलम्बित है तथा ज्ञान के संयोग से सिद्धिदाता बन जाती है। यह एक मानसिक प्रणाली है और ज्ञान प्राप्ति के लिये इष्ट में तदाकार होने की क्रिया है। उपासना स्वयं ही ज्ञान अथवा साध्य नहीं है। ज्ञान बुद्धि का विषय है और विषयों द्वारा निश्चित होता है और उपासना कर्त्ता पर निर्भर है। ज्ञान और उपासना पूर्णतः भिन्न हैं। ऐसा होने से हम इनको विभक्त करें तो स्वभावतः हम उपासना को ज्ञान की अपेक्षा कर्म की श्रेणी में ला सकते हैं। कहा भी है, "कर्म ही उपासना है" (Work is worship)।

गीता द्वारा उपासना के लिये भक्ति, ज्ञान और कर्म का उपदेश दिया गया है, जो असीम को ससीम अथवा निराकार को साकार मे परिणत करने का माध्यम है। इस त्रिभुज [इच्छा शक्ति (भक्ति), क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति] का आधार भक्ति ही है [इच्छा + श्रद्धा + प्रेम]। यदि भक्ति कर्म और ज्ञान के साथ न हुई तो दोनो ही पंगु हो जाते हैं। कर्म में इन तीनो की आवश्यकता है, किसी एक के अभाव में सफलता या सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये जैसे तिपाई का एक पाया भी निकल जाने पर तिपाई सधी नहीं रह सकती है उसी प्रकार इच्छा, श्रद्धा और प्रेम में से यदि एक का भी अभाव मनुष्य में होता है या भक्ति-कर्म में से एक का भी अभाव होता है तो मनुष्य को सफलता नहीं मिल सकती।

इन्हीं तीनो के संतुलित साक्षात्कार को, कर्म-कौशल को, तथा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को "योग" कहते हैं। "योगः कर्मसुकौशलम्", "समत्वं योग उच्यते" तथा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति योग कहलाता है। "अनुपात्तस्य उपादानं योगः" का नाम योग है।

उपासना के विषय में यह श्लोक बड़े महत्व का है :—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। ४-२४

स्रुवादिक भी ब्रह्म है, हवन की सामग्री भी ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि मे ब्रह्म रूप कर्ता के द्वारा जो हवन किया गया है, (वह भी) ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्म रूप कर्म में समाधिस्थ पुरुष ब्रह्म में ही जा पहुँचता है।

उपरोक्त श्लोक का भाव यह निकलता है कि जगत् के समस्त कर्म समष्टिहित शास्त्रोक्त रीति से किये जाने पर यज्ञ कहलाते हैं। यह सिद्धान्त, बुद्धिगम्य होने पर, सूचित करता है कि सभी कर्म चाहे प्राकृतिक हों या मानव अर्जित वे सब ब्रह्माग्नि की आहुति या उपासना के रूप में हैं। अस्तु कोई कला, आविष्कार, उद्यम, व्यवसाय, हल द्वारा जोती गई नालियों में बीजारोपन करना भी दैवी होम की आहुति ही है। गर्भाधान जैसे 'अग्न-यांत्रण' यज्ञ है। कलम से स्याही लेकर लिखना अथवा रेखाचित्र बनाना, या लौह अक्षरों को जोड़कर छापना भी यज्ञ आहुति है। प्रेमियों का प्रेमालाप, बालकों की रसमय ध्वनि, गुरू का शिक्षा देना, वकील की बहस, भली-भाँति मति देना, सुन्दर गायन, इत्यादि सभी कर्म ब्रह्माग्नि की आहुति ही है। जो कुछ भोजन किया जाता है, दानपात्र मे डाला जाता है, औषधि का बनाना या वितरण करना इत्यादि भी यज्ञ है। तात्पर्य यह कि जगत् के यावत् कर्म, जिसमें लोक परलोक का अपना और दूसरो का कल्याण हो यज्ञ ही है।

पूज्य श्रीशंकराचार्य जी ने इस विषय की पुष्टि में इस प्रकार प्रार्थना की है :—

आत्मा त्वंगिरिजा मतिः सहचर. प्राणाः शरीरं गृहम् ।
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरः ।
यत् यत् करोमि तत् तदखिलं शंभोस्तवाराधनम् ।।

भक्त रविदास जी कहते हैं, "जोई जोई करउ सोई सोई पूजा"

अर्थात् दूसरे प्रकार के योगी देवताओं की उपासना यज्ञ द्वारा ही करते है।

तात्पर्य यह है कि और यज्ञ के होता, यज्ञ का माध्यम और यज्ञ की उपलब्धि सभी एक ही ब्रह्म के विभिन्न तत्त्व है जो हमें अनेक रूपों में मिलते है।

इसके पहले तीसरे अध्याय में यज्ञ की उत्पत्ति इस भाँति कही है :—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्मनित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ ३-१४, १५

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते है और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। कर्म ब्रह्म से उत्पन्न होता है ब्रह्म अविनाशी से उत्पन्न होता है, इससे सर्वव्यापी परम अक्षर ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

उपासना कर्म का एक रूप है चाहे उसे यज्ञ कहिये या योग। तात्पर्य यह है कि यावत् कर्म उस परमात्मा की उपासना हैं। इसी भाव को लेकर भगवान ने अर्जुन को उसके हित का सन्देश देते हुये कहा था कि कर्म अपना स्वधर्म रूपी उपासना ही है—

नियतंकुरु कर्म त्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ३-८

परमात्मा ने जो तेरे लिये स्वधर्म रूप कर्म को नियत किया है उसे करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं हो सकता।

तब कर्म किस प्रकार का होना चाहिये—

नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परकीर्त्तितः॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यत्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥ १८-७,८,६

नियत कर्म त्याग करना उचित नहीं है। मोह से उसका त्याग करना तामस कहा जाता है। सभी कर्म दुःख रूप हैं। जो व्यक्ति शरीर क्लेश के भय से कर्मों को त्याग देता है वह राजस त्याग कर भी त्याग फल को नहीं प्राप्त कर पाता हे अर्जुन ! कर्म करना कर्त्तव्य है, यह समझकर नियत किया हुआ कर्म बिना आसक्ति एवम् फल के मोह के जो करता है वही सात्विक है।

अर्थात् जब तक यह शरीर है, तब तक कर्म करने से नहीं बच सकते। यहाँ तक कि एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकते, और बिना कर्म किये हमारा जीवन भी नहीं रह सकता। इसलिये जैसा आपका स्वभाव है, और जिस कुल तथा वातावरण में आपने जीवन प्राप्त किया है, उसी के अनुसार कर्त्तव्य समझकर अपना कर्म कीजिये। और तब वह कर्म :—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥ १८-२३

जो कर्म नियत किया हुआ, अभिमान से रहित, बिना राग-द्वेष से फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म सात्विक कहा जाता है, अर्थात् वही उत्तम श्रेणी की उपासना है।

केवल अपने स्वार्थ के लिये जो कर्म किया जाता है, वह वृथा है. क्योंकि :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ३-१३

श्रेष्ठ पुरुष, यज्ञ से बचे हुये अन्न को खाने वाले, सब पापों से छूट जाते हैं किन्तु वह पापी लोग जो अपने शरीर के लिये ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं। अर्थात् बन्धन में पड़ जाते हैं, जिसको इस प्रकार गीता में कहा है :—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयंकर्म बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ३-९

यज्ञ के अर्थ किये हुये कर्म के सिवाय अन्य कर्मों द्वारा मनुष्य बन्धता है। हे अर्जुन ! इसलिये आसक्ति से रहित होकर, उसके निमित्त कर्म कर।

अर्थात् यहाँ "यज्ञ के अर्थ कर्म" से तात्पर्य है कि जगत् अथवा जनता जनार्दन के हित कर्म करना। इससे स्पष्ट है कि फलों को न देखते हुये अपना जो कर्त्तव्य कर्म किया जाता है, वही सात्विक कर्म है। सात्विक कर्म करने वाले ही इस जगत् में सिद्धि प्राप्त करते हैं तथा संसार को सुखमय बनाते हैं। यह स्मरण रहे कि "यज्ञार्थ कर्म" ही मुक्तिदाता है। अर्थात् जगत् के कल्याण सुविधा के लिये जो भी आप उद्यम, व्यवसाय, आविष्कार आदि अथवा विज्ञान सम्बन्धी कर्म, कला, संगीत, दान आदि कर्म करते हैं, वे सब यज्ञार्थ कर्म ही हैं और अवश्य दोनों लोक अपना तथा दूसरे का कल्याण करते है। अर्थात् "जगत हित अपना हित।" इन्हें करने में मनुष्य को कुछ भी आँच नहीं लगती, जो लोक संग्रह के लिये अभीष्ट है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३-२०

जनकादि ज्ञानी जन भी कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुये हैं, इस लिये लोक संग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म कर ।

लोक संग्रह से तात्पर्य है—समाज के विभिन्न अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध रखना, जगत् का पालन पोषण करना, जगत् को एकता या समता में रखना और उनका पतन न होने देना, समाज को दुःखों तथा आचरणहीनता से बचाना तथा सामान्य जीवन को सुव्यवस्थित कर नीति तथा धर्मानुकूल सदाचार पर चलाना, और उद्यम, व्यवसाय, व्यापार, शिक्षा, कला तथा ज्ञान विज्ञान का प्रसार कर मनुष्य और प्राणी मात्र को सुखी बनाना भी है । और "संसिद्धि" प्राप्ति का मार्ग :—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नर. ।
स्वकर्मनिरत: सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥१८-४५, ४६

स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य, परमसिद्ध को प्राप्त होता है । जिस प्रकार अपने स्वाभविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है उस विधि को सुन । जिससे सर्वभूतो की उत्पत्ति हुई है, जिससे सर्व व्याप्त है, उस ब्रह्म को अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है ।

अपने अपने स्वभाविक कर्म मे ही लगे रहने से परमसिद्धि प्राप्त होती है, अपने स्वभाव से परे कोई कर्म करना अति भयावह है । इसलिये कर्म अपनी शक्ति भर पूर्णरूप से करना चाहिये । परमसिद्धि के सभी रूप एक ही दिशा में स्थित नहीं हैं । प्रत्येक मनुष्य अपने से परे किसी ध्येय पर लक्ष्य करता है, चाहे वह ध्येय आत्मातीत होने का हो, या वैयक्तिक परमसिद्धि के लिये चेष्टा करने का हो अथवा किसी कला, आविष्कार, उद्यम, ज्ञान-विज्ञान इत्यादि का हो । गीता में श्री भगवान ने इसी आधार पर चार प्रकार के उपासकों का उल्लेख किया है :—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ७-१६

हे अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकार के उत्तम कर्म करने वाले भक्तजन मुझ को भजते हैं, और उनको मैं :—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।
कांक्षन्तः कर्मणांसिद्धि यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रंहि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।। ४-११, १२

हे पार्थ ! जो मेरे नाम को जैसा भजते हैं मैं उनको वैसा ही भजता हूँ, अर्थात् चाहे जिस मार्ग से जायें, वे सब मार्ग मेरी ही दिशा की ओर आने वाले मार्ग हैं। इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहते हुए, लोग देवताओं को पूजते हैं। कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त होती है, क्योंकि :—

यो यो या यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। ७-२१

जो जो सकामी भक्त जिस जिस देवता को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस भक्त की मैं उसी के प्रति श्रद्धा स्थिर करता हूँ। और :—

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ।। ७-२२

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर, उस देवता के पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुये उस इच्छित फल को निःसन्देह प्राप्त करता है।

तब, "सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म", अर्थात् सिद्धि को प्राप्त कर ब्रह्म को प्राप्त होता है। और :—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। १८-५५

भक्ति के द्वारा वह तत्व रूप से मुझको जानता है कि मैं कैसा और किस प्रभाव वाला हूँ, उससे मुझको तत्त्व से जानकर, तत्काल मुझमें सायुज्य प्राप्त कर लेता है।

एक महापुरुष ने फारसी में भी कहा है—"कस्बे कमाल कुन कि अज़ीज़े जहाँ शवी", अर्थात् अपने हुनर को कमाल तक (परम सिद्धि) पहुँचा दे जिससे कि जहान का प्यारा बने ["यथा ब्रह्म" अथवा "विष्णुर्वै जगत्" में सायुज्य हो]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हो जायगा कि केवल परम सिद्ध व्यक्ति ही, परमात्मा, ब्रह्म या भगवान् को प्राप्त करने का अधिकारी बन सकता है और सफलता ही आनन्द तत्व को प्राप्त कर सकती है।

भर्तृहरि ने कहा :—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नितम् ।। नी. श. ३१

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जन्मता-मरता परन्तु जन्म लेना उन्हीं का सफल होता है जो अपने वंश और जाति की उन्नति करते हैं—

एक पाश्चात्य विद्वान के भाव इस विषय में यह हैं :—

A warrior, a man of science, an artist, a poet is judged in the main by definite achivements. By victories, they have won, on foriegn enemies. or over ignorance or pregudice, by the joy and enlightenment, they have brought to the consciousness of their own and sueceeding generations.

एक योद्धा, एक विज्ञानी अथवा कलाकार या कवि, निर्दिष्ट सफलताओं द्वारा आंका जाता है। विदेशी शत्रुओं पर विजय पाने से योद्धा, अज्ञान और अन्धविश्वास पर विजय पाने से वैज्ञानिक, दुःख पर विजय पाने और चिन्ता के स्थान पर आनन्द लाने से कवि और कलाकार आंका जाता है, जो वर्तमान तथा भविष्य के लिये सुख के बीज बो जाता है ।

यह संसार अधिकांश लोगो को दुःखमय प्रतीत होता है, क्योकि जनता में बहुत कम सफल व्यक्ति सिद्धि प्राप्त करते हैं। जो सिद्ध हैं वही विभूतिमान कहलाते हैं। वही आनन्द पद प्राप्त करते हैं। इस दुःख का नाश करने के लिये विभूतिमान बनिये। जो कर्म में वीर हैं वही विभूति प्राप्त करते हैं; इस पृथिवी के आनन्द को भोगते हैं। महाभारत में "वीर योग्या वसुन्धरा" कहा भी है, तथा उपनिषद् में कहा है कि, "भूमा में ही सुख है, अन्य में सुख नहीं" तथा "भूमा ही जीवन है, अन्य मृत्यु है"। स्वर्ग और नर्क इस संसार के अतिरिक्त और कहीं नहीं है, ऐसा कपिल देवजी भागवत में कहा है। यहीं आपको सिद्धि प्राप्त करनी होगी, अन्यथा, "मरके हो गया दोनों का अन्त, जैसे गदहा वैसे सन्त" जब आप यहाँ न सफल हुए और विभूति न पा सके तब परलोक में क्या पा सकते हैं। "जिनसे बनी न कछु करत मकानन में—उनसे बनेगी कौन करतूत कानन में" कठ उपनिषद् में कहा है, "जो अन्यत्र है वही यहाँ है"। इसलिये जो कुछ करना है यहीं कीजिये, जब यहाँ चूक गये तो वहाँ प्राप्त होना संभव नहीं। संत कबीरदास जी कहते हैं, "सौदा कर तो यहीं कर भाई, आगे हाट न बनिया। पानी पी तो यहीं पी भाई. आगे घाट निपनियाँ ।।"

याद रखिये, संसार में जो भी उपासना है, वह विभूतिमानों या वीरों के प्रति ही है। यह वीर पूजा वेदों में—वीर इन्द्र, विद्यावीर बृहस्पति, धन वीर कुबेर, जल-वीर वरुण, विभूति-वीर भूमि, तेजो-वीर अग्नि व सूर्य, रस-वीर चन्द्रमा आदि की पूजा स्पष्ट है। लोक में भी श्रीराम, श्रीकृष्ण, भीष्म, कर्ण, युधिष्ठिर, अर्जुनादि तथा गौतम बुद्ध, ईसा, मुहम्मदादि की पूजा प्रत्यक्ष है। इसके दो ही मार्ग है, अणो:अणीयान् बनकर सबके मन में प्रवेश कर वीरता दिखाइये अथवा महतो महीयान् बनकर सबको अपने में समा लीजिये। अणु विकास ही महत् हो जाती है।

इसलिये चाहे कोई भी कर्म हो, उसको छोटा न गिनिये, अपने पद, आश्रम, परिस्थिति व कला, विज्ञान, संगीत, भिषगचर्या, उद्योग, उद्यम, व्यवसाय, आविष्कारादि द्वारा या सेवा गुणों द्वारा, परम सीमा तक पहुँचिये, अपने को छोटा न मानिये। वे मनुष्य ही हैं, जो आजकल यह अभिमान कर रहे हैं कि एक ही बम से समस्त जगत् को धूल धूसरित कर देंगे, और आप भी मनुष्य हैं, "अपने भाग्य के कर्ता, विधाता और हर्ता"।

इसलिये विभूतिमान् बनिये। चाहे कोई भी कर्म हो, छोटे से छोटा बड़े से बड़ा, उसमे भगवान आपका सहायक होगा। अवश्व, यह संसार आपके लिये सुखमय बनेगा। "हरी सभा में सब ही बैठत कौन बड़ो को छोट" उपासना में बड़ाई छुटाई का भेद नहीं है, सब समान हैं। इस आशय को लेकर एक पाश्चात्य कवि ने सुन्दर कविता की है :—

"कुछ बनो"

किसी पहाड़ की चोटी के चीड़ वृक्ष या
घाटी की हंसती सी झरिया ही बन जाओ।
या उस झरने के किनारे पर लूमी झाड़ी,
छोटी सी ही बनो कहीं न वृक्ष बन पाओ॥

झाड़ी न बन सको, घास का तिनका ही बन,
मौजभरे जनपद का ही सौन्दर्य्य बढ़ाओ।
कस्तूरी बन महक सको न अगर कहीं तो,
किसी झील की मीन बनो सुन्दर लहराओ॥

नायक सभी नहीं बन सकते बनो सिपाही,
सबको कुछ न कुछ बनने को बहुत जगह है।
छोटे हों या बड़े, काम सब ही करना है,
मंजिल पास बुलाने वाला दृढ़ निश्चय है॥

जन पथ भी न बन पाओ, पगडण्डी ही बन लो,
सूरज न बन सको तो तारक बन मुस्काओ।
हारजीत के फूल न कभी उचाई से हैं,
जो कुछ हस्ती है—उससे ही कुछ बन जाओ॥

(अनुवादक—"हरीश")

यह संसार एक रंग-मंच है। इसमें नाटक खेलने के लिये भिन्न-भिन्न जातियों को (उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज) पृथक्-पृथक् नियत कर्मों से अभिनय करने का भाग दिया गया है। उसके अन्तर्गत मनुष्य जाति को भी, अपने नियत कर्म को कर्त्तव्य मानकर, करने का आदेश दिया गया है। इसमें किसी ने राजा का रूप अभिनय करने को लिया है, तो किसी ने चाण्डाल का। यह सब एक ही जाति के होने के नाते समान हैं, कहा भी है :—"अन्त्यज्योविप्रजातिश्च एक एव सहोदरः। एकयोनिप्रसूतश्च एक शाखेन जायते"। मनुष्यत्व में कोई भेदभाव नहीं है। यह तो केवल जब तक नाटक का अभिनय कर रहे हैं, तब तक के लिये राजा और चाण्डाल में वाह्य भेद पृथक्-पृथक् कर्म के कारण दिखाई दे रहा है, "एक वर्णाम् इदम् पूर्ण विश्वमासीद् युधिष्ठिर कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्"। यह नाटक तभी रुचिकर और मनोहारी प्रतीत होगा, जब प्रत्येक पात्र अपना नियतकर्म भली भाँति, अपने सहज स्वभाव की शक्ति द्वारा पूर्णता तक पहुँचाये (अपने स्वभाव से परे कोई कर्म उठाने का बीड़ा भयावह है)। कर्म चाहे मिट्टी खोदने का हो या रण में युद्ध करने का, व्यवसाय करने का, राज्य करने का या गुफा में बैठकर ध्यान लगाने का, सब में श्रम एक समान है और सभी कर्म उस परमात्मा की उपासना स्वरूप हैं।

वेद कहते हैं, "मधुमत् पार्थिवं रजः," पृथिवी के कण-कण को मधु बनाना है। "मानव जीवन ही एक अवसर है जो असम्पन्न जगत् को विकसित कर दिव्यभाव में परिणत कर सकता है।"

लौकिक व्यवहार में देखा जाता है कि जो लोग कुछ भी विभूति रखते हैं, वे अल्पों से कहीं सुखी और प्रतिष्ठित हैं। विभूतिमान् ही आप्तकाम हो सकता है और उसको काम क्रोधादि नहीं सताते, क्योंकि उसे किसी वस्तु की कामना नहीं रहती। जो वस्तु वह चाहे, उसके लिये तुरन्त प्रस्तुत हो जाती है। दुःख तो अपूर्णता में है, क्योंकि वासना होने पर जब वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती तभी काम, क्रोधादि सताते हैं।

मानव जीवन का हेतु यही है कि वह "अपूर्ण तथा अज्ञान की रेखा को पार कर पूर्णता और ज्ञान को प्राप्त कर सके।" तभी आनन्द मिलता है

सुखी व शान्त पुरुष के लक्षण गीता में इस प्रकार हैं :—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ ५-२३

जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुये वेग को सहन करने मे समर्थ है, वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है। इस प्रकार जब मन शान्त हो जाता है, तब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त करता है।

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैतिशान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ६-२७, २८

क्योंकि जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है, जो पाप से रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, इस ब्रह्म के साथ जिसका एकी-भाव हो गया है, ऐसे योगी को अति आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार पाप रहित योगी आत्मनिष्ठ होकर सुखपूर्वक ब्रह्म-प्राप्ति के अनन्त आनन्द का अनुभव प्राप्त करता है परन्तु :—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ५-६

हे महाबाहो! बिना कर्मवीर बने संन्यास या त्याग होना कठिन है, अर्थात् दुःख है, मुनि (मननशील) कर्मयोगी (योगयुक्त) ब्रह्म को शीघ्र प्राप्त होता है। अर्थात् कर्मयोगी ही विभूतिमान बन सकता है और कोई पुरुष नहीं।

सुप्त पुरुषत्त्व को जाग्रत करने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक लिखी गई है, जिसमें विभूतिमान बनने की पूरी विधि आप पायेंगे। इसके अनुसार यदि आपने प्रयोग किया तो, सिद्धि हस्तामलकवत् आप की है। यही सच्ची उपासना है इसीके आचरण से मनुष्य भगवान के कार्य में सहयोग देकर

उसके समीप बैठने का अधिकारी बन सकता है और उपासक की कोटि से उठकर उपास्य बन सकता है (भ्रंगी कीट न्यायानुसार)।

लोगों का प्रश्न हो सकता है कि जब स्वयं गीता कह रही है कि परमात्मा, "अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है तथा अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तं, कूटस्थम् है, और रामायण में तुलसीदास जी भी कह रहे हैं— "अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा—" तब किसके समीप बैठा जा सकता है या विभूतिमान किससे सायुज्य होता है ?।

इसके उत्तर में, परमात्मा विष्णु रूप से जगत् का पालन और पोषण करता है। "विष्णु" शब्द की विश धातु से उत्पत्ति है, जिसके अर्थ सब में व्याप्त या प्रवेश करना है, देवाः मनुष्याः पशवाः पक्षिवृक्षसरीसर्पाः। रूप मेतदनन्तस्यविष्णोर्भिन्नमिव स्थितम्। "अर्थात् देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और सर्पादि सब अनन्त विष्णु भगवान के ही रूप में पृथक्-पृथक् स्थिति दिखाई देते हैं। उसके असंख्य नामों में एक नाम "विश्व" है, जिसकी व्याख्या मुण्डक उपनिषद् में, "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं" रूप में की है अर्थात् यह विश्व परमोत्कृष्ट ब्रह्म ही है, और यह विश्व सर्वंखल्वमिदं ब्रह्म कहा गया है। इसलिये कहते भी हैं, "विष्णुर्वै जगत् या जगत् विष्णु"। इससे यह निष्कर्ष निकला कि विभूतिमान व्यक्ति को, विष्णु रूप जगत् से ही प्रतिष्ठा मिलती है अथवा यों कहिये कि उसका विष्णु से सायुज्य होता है।

जब कोई मनुष्य अपनी श्रद्धा, अपने प्रेम, अपने श्रम और सेवा द्वारा सफल होकर विभूति प्राप्त कर लेता है, तब देखने मे आता है कि लोग, जहाँ वह जाता है, स्वागत करते व उसे अपनाते हैं, और उससे मिलने की अभिलाषा मन में रखते हैं। इस प्रकार वह "अणोःअणीयान्" होता हुआ सब के मन में घर कर लेता है। इस व्यवहार से जब वह महत्ता प्राप्त कर लेता है, तब "महतो महीयान" बन जाता है।

गीता के दसवें अध्याय का भी यही तात्पर्य है, अर्थात् परमात्मा का "अणों अणीयान्" तत्त्व सब भूतों में व्याप्त है। और ग्यारहवें अध्याय का सार है कि परमात्मा में सब भूतों की स्थिति है, अर्थात् "महतो महीयान्" रूप के दर्शन हैं। अथवा अनेक में एक और एक में अनेक की सार्थकता है या यही समष्टि का व्यष्टि में और व्यष्टि का समष्टि में लय है।

हो सकता है, इससे यह सिद्ध हो कि विभूतिमान् अंशरूप उसी अनुपात में, अणोःअणीयान् और महतो महीयान् होता हो, अर्थात् सब में अपनी

आत्मा को जाने और अपनी आत्मा में ही सब को जाने। तभी "वासुदेवः सर्वम् इति" जानकर :—

सर्वभूतस्थमात्मानम् सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६-२९

योग से युक्त हुआ आत्मा वाला व्यक्ति, सब भूतों में अपनी आत्मा को और संपूर्ण भूतों को अपनी आत्मा में सभी जगह सम भाव से देखता है।

उपर्युक्त भाव के उदाहरण में—अमेरिका से लौटने पर स्व० स्वामी विवेकानन्द जी का मद्रास तथा लाहौर में जो स्वागत समारोह हुआ, दादाभाई नौरोसजी को लाहौर की काँग्रेस सभा में जो सम्मान हुआ, ख़ुश्चैव और बुलगानिन का कलकत्ते में जो स्वागत हुआ, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने राष्ट्रपति पद से मुक्त होने पर दिल्ली में (भारत के लोगों की उनके प्रति श्रद्धा) जो सार्वजनिक सत्कार पाया ये सब रक्खे जा सकते हैं। सबसे ऊपर महात्मा गांधी का सर्वत्र जो सामान हुआ, वह इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है और यह भी प्रमाणित करता है कि ये सब विभूतियाँ हैं तथा यही एक का अनेक में और अनेक का एक में लय है।

और विभूति के विषय में भगवान ने इस प्रकार कहा है :—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेववा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंदश संभवम्॥ १०—४१

जो जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान।

किसी भी विचार को स्थूल रूप अर्थात् साकारता में लाने के लिये रेखागणित के अनुसार, असीम को ससीम बनाने का सिद्धान्त है कि कम से कम त्रिभुज होना चाहिये और इसी पर समस्त सृष्टि-क्रम आधारित है, अर्थात् इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के बिना कोई भी सृजन-कार्य साकारित हो ही नहीं सकता। इसी को अध्यात्मिक ज्ञानी या ईश्वर भक्त भक्ति (इच्छा), ज्ञान और कर्म का समुच्चय कहते हैं, जो गीता में मान्य है। इच्छा अर्थात् भक्ति ही इन सबका आधार है और यह तीनों ही अन्योन्याश्रित हैं, इनमें से एक के अभाव मे शेष दो अधूरे रह जाते हैं, अर्थात् कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता—चाहे परमार्थ हो या लोक व्यवहार का हो। उदाहरण को यदि (इच्छा) भक्ति न हो तो ज्ञान और कर्म का अर्थ ही नहीं रहता, यदि इच्छा और कर्म ही हैं तो ज्ञान के अभाव में गहरे गड्ढे में गिरते हैं, और यदि इच्छा और ज्ञान ही केवल है, तो कर्म के बिना कोई कार्य

सिद्ध नहीं हो सकता। इससे परिणाम यह निकला कि समष्टि के समस्त विचार अथवा कर्म को साकारता देने या सिद्ध करने के लिये तीनों का समुच्चय ही साधन है।

यह पुस्तक विभूति योग पर लिखी गई है (गीता का दसवाँ अध्याय) और विभूति प्राप्त करने में (जो अब तक विचार के रूप में हैं) इन तीनों साधनों को व्यवहार में लाना ही मुख्य है, जिससे सफलता प्राप्त हो सकती है करें। सफलता उपासना द्वारा ही प्राप्त होती है।

उपनिषदों में जो पद्धति एवम् उपासना के भाव बताये गये हैं उनके भिन्न-भिन्न रूपों का भी सुन्दर वर्णन किया गया है। उनमें जैसे वृष्टि, जल, पशु, पर्जन्य, पुरुष और स्त्री आदि हैं, वैसे ही भाव में यदि इस पुस्तक के तेरह सिद्धान्तों की भी उपासना की जाय तो निःसन्देह मनुष्य विभूतिमान् बन सकता है। चर्चित उपासनाओं का क्रम एवम् उनके प्रकार इस रूप में किया गया है :—इच्छा, श्रद्धा, आत्म प्रस्तावना (जप का एक रूप), योजना, कल्पना, विशिष्ट ज्ञान, निश्चय, दृढ़ाग्रह, मनीषीबल, कामरूपान्तर, अवचेतन मन, मस्तिष्क तथा छठी इन्द्रिय अर्थात् ध्यानयोग।

विभूतियोग सगुण उपासना है। यह वृत्ति निराकार को साकार रूप में उपलब्ध करने की वृत्ति है। इस वृत्ति के विभिन्न पक्षों की इस पुस्तक में व्याख्या की गई है। इसका गंभीर अध्ययन करने से उस मार्ग और दिशा का निराकरण हो सकता है।

●

विषय सूची

१. विषय प्रवेश	....	....	१
२. इच्छा	....	....	१४
३. श्रद्धा	....	....	३५
४. आत्म-प्रस्तावना	....	....	५१
५. बुद्धि-योग अर्थात् विशिष्टज्ञान	...	....	६१
६. कल्पना-योग	....	....	७८
७. योग व्यवस्था	....	....	९२
८. निश्चय	....	....	१२६
९. धारणा शक्ति	....	....	१३३
१०. मनीषी मनोबल	....	....	१४७
११. काम-शक्ति के रूपान्तर का रहस्य	....	....	१५९
१२. अवचेतन मन	....	....	१८३
१३. मस्तिष्क	....	....	१९३
१४. छठी इन्द्रिय	....	....	१९९
१५. अष्टपाश	....	....	२१२
१६. पिशाच की प्रयोगशाला	....	....	२४१
१७. उपसंहार	....	....	२५२

विषय प्रवेश

एतां विभूतियोगं च ममयोवेत्ति तत्वत: ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यतेनात्र संशय: ।। १०-७

जो पुरुष इस मेरी विभूति और योग को (कर्मसुकौशलम्) तत्व से जानता है, वह निश्चल योग द्वारा मेरे ही में आकर मिलता है, इसमें कुछ संशय नहीं ।

वास्तव में, "विचार ही वस्तुयें हैं" । और उस पर भी, तब वह बलशाली होते हैं, जब **निर्दिष्ट अभिप्राय, दृढ़ाग्रह,** (अनवरत चेष्टा), और एक **ज्वलन्त इच्छा** के साथ मिश्रित होते हैं, तव उनका रूपान्तर भौतिक विभूति में हो जाता है ।

पचास वर्ष से अधिक बीते (Edwinc. G. Barres) **एडविन बार्न्स** ने जाना कि लोग वास्तव में **धनवान बनने की सोंचते हैं और बन जाते है** । उसका यह ज्ञान एक ही बार में नहीं आया था । वरन् एक **ज्वलन्त इच्छा** से प्रारम्भ होकर महान एडीसन (Edison) के व्यापार सहयोगी बनने तक थोड़ा-थोड़ा करके आया ।

बार्न्स की इच्छा पूर्ति का मुख्य कारण यह था कि वह **दृढ़ संकल्प** था । वह एडीसन के साथ काम करना चाहता था, न कि उसके **लिये** । सावधानी से उसके वर्णन पर निरूपण कीजिए कि कैसे वह अपने विषय को वास्तविकता पर लाने को तत्पर हुआ । तब आप भलीभाँति उन तेरह सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करेंगे, जो विभूति की ओर ले जाते हैं ।

जब यह **इच्छा** या विचार का संवेग, उसके मन में पहिले पहल चमका था, तब वह उसको कार्य में लाने की स्थिति में नहीं था । दो कठिनाइयाँ उसके मार्ग में खड़ी हो गई थीं । वह एडीसन को जानता नहीं था, और उसके पास पर्याप्त रेल किराया भी आरेंज (Orange, New gersey) पहुँचने तक का नहीं था ।

ऐसी कठिनाइयाँ अधिकांश लोगों को, अपनी इच्छा सिद्ध करने मे निरुत्साहित करने के लिए पर्याप्त होती हैं । परन्तु उसकी इच्छा साधारण

नहीं थी वह अपनी इच्छा को पूरी करने में इतना दृढ़ संकल्प था कि, उसने मालगाड़ी पर बैठ कर जाने का निश्चय कर लिया, पर पराजित होना स्वीकृत नहीं किया।

बार्न्स, एडीसन साहब की प्रयोगशाला में स्वयं उपस्थित हुआ और सूचना भेजी कि वह आविष्कारक के साथ में सहयोग करने को आया है। एडीसन साहब ने बार्न्स को मिलने का अवसर दिया। बार्न्स को देखते ही एडीसन सा० के मन में जो प्रभाव पड़ा, वह उन्होंने वर्षों बाद स्वयं बताया —"वह मेरे सामने साधारण सैलानी के रूप में खड़ा हुआ, परन्तु उसके चेहरे की आकृति कुछ ऐसी थी, जो मन में यह संस्कार लाई कि यह जिस कार्य के लिए आया है, उसमे दृढ़ निश्चित है।" मैंने मनुष्यों के विषय में वर्षों के अनुभव से सीखा है कि जब मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति के बल पर अपने इष्ट लक्ष्य को पाने के प्रयास में एक बार भाग्य को घुमाने के लिए जीवन की बाजी लगाने में भी संकोच नहीं करता तो निश्चय ही उसकी यह अडिग कामना कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। उसे विजय मिलती ही है। मैंने उसे अवसर दिया जिसको उसने माँगा था, क्योंकि मैंने देख लिया कि वह अपने मन में डटे रहने पर तुल गया है। जब तक सफलता न पायेगा, डटा ही रहेगा। उसकी पश्चात् की घटनाओं ने प्रमाणित कर दिया कि मैंने कोई भूल नहीं की थी। बार्न्स के व्यक्तित्व ने नहीं, अपितु उसके दृढ़ अध्यवसाय ने ही उसे मेरे कार्यालय में काम आरम्भ करने का अवसर दिया।

[यदि इस कथन का महत्व प्रत्येक पाठक को अवगत हो जाय, तो इस पुस्तक के शेप भाग को पढ़ने की उन्हें आवश्यकता ही न पड़े।]

बार्न्स को पहले ही **मिलाप** में अपनी **भागीदारी** नहीं मिली थी। उसको एडीसन के कार्यालय में नाममात्र की वृत्ति पर काम मिला था। उसको ऐसा काम दिया गया, जो एडीसन की दृष्टि में कुछ भी महत्व नहीं रखता था। पर यही काम बार्न्स के लिए अत्यन्त महत्व का बन गया। इसमें उसको अपनी व्यापारिक क्षमता दिखाने का अवसर मिला। इसी अवसर के आधार पर उसका भागीदार उसकी दत्तचित्तशक्ति देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ।

महीनों बीत गये पर बार्न्स को अपने **निर्दिष्ट लक्ष्य** सिद्धि की एक झलक भी न दिखाई दी। फिर भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वह दृढ़ प्रतिज्ञ बना रहा। परन्तु बार्न्स के मन में कुछ महत्व की बात घटित हो रही

थी। वह निरन्तर एडीसन के व्यापार में भागीदार होने की अपनी निजी इच्छा को उत्तरोत्तर प्रबल बनाता जा रहा था।

मनोवैज्ञानिकों ने सत्य कहा है, **"जब कोई सत्यनिष्ठ होकर किसी वस्तु के लिये तत्पर हो तब वह अपनी निष्ठा के अनुकूल वैसा ही आकार बा लेता है," "जैसा विचार वैसा आकार"।** बार्न्स एडीसन के साथ व्यापार सहयोग के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था, साथ ही उसके इस दृढ़ संकल्प **में उसकी संलग्नता और सतत प्रयास भी एक महत्वपूर्ण अंग बन गये थे।**

उसने अपने मन में अपने अकथ परिश्रम को कभी भी निरर्थक नहीं समझा। उसके दुविध पूर्ण मन में प्रायः अपने निश्चय को बदल देने की बात उठती और वह सोचता कि अपने निश्चय को छोड़कर वह एक विक्रेता के रूप में ही तुष्टि पा ले; परन्तु उन्हीं संशय के क्षणो में उसका संकल्प कहता "मैं यहाँ एडीसन के साथ व्यापार करने आया हूँ और मैं इस लक्ष्य की उपलब्धि करूँगा, चाहे इस प्रयास मे मेरा शेष जीवन समाप्त क्यों न हो जाय यह निश्चय ही आदमी को नये मार्ग दिखाता है। यदि वह एक निश्चित अभिप्राय को ठान ले और उसी हेतु डटा रहे, तो उसकी यही दृढ़ता उसे उत्साहित होने की शक्ति देती है।

हो सकता है, बार्न्स उस समय इसके परिणामो से अनभिज्ञ रहा हो, परन्तु उसका अडिग दृढ़ संकल्प, उसकी इच्छा के पीछे डटे रहने की क्षमता समस्त विरोधों को नष्ट करने के लिये पर्याप्त था। थोड़े ही दिनों मे वह अवसर, उसका चिर लक्षित ध्येय, स्वयम् उसके सामने प्रतिफलित होकर प्रस्तुत हो उठा। जिस लक्ष्य को वह इतने दिनों तक अपने मन मे साध रहा था वह स्वयम् उसकी सिद्धि बन कर अवतरित हो गया।

किन्तु यह अवतरण एक भिन्न रूप में हुआ। बार्न्स जहाँ से उस अवसर की आशा करता था, वह वहाँ से न आकर दूसरी ओर से आया। प्रत्येक अवसर इसी प्रकार का छल करता है। उसका स्वभाव ही कपट भरा और पिछले द्वार से आने का है। बहुधा वह दुर्भाग्य और क्षणिक पराजय के रूप में आता है। कदाचित यही कारण है कि बहुत से लोग अवसर को पहिचानने में असफल सिद्ध हो जाते हैं।

जिन दिनों बार्न्स के मन में यह उथल-पुथल मचा हुआ था उन्हीं दिनों एडीसन ने कार्यालय का एक नया साधन यंत्र आविष्कृत किया था। बाद में इस यंत्र का नाम एडीफोन पड़ा। उसके विक्रेता उस यंत्र के विषय में इतने उत्साहित नहीं थे। वे बहुधा अधिक चेष्टा के बिना उसका बिकना कठिन

समझते थे। बार्न्स ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से उसमें अपना वह अवसर देखा जो शान्ति से सहज रूप में रेंग कर उस विचित्र यंत्र के रूप में उसके भाग्य क्षितिज पर छिपा हुआ था। उस समय उस यंत्र में किसी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। केवल बार्न्स और उसके आविष्कारक ही उसके महत्व और उसके भविष्य के बारे में निश्चित थे।

बार्न्स जानता था कि वह इन यंत्रों को बेच सकता है। उसने यह बात एडीसन से प्रस्तावित की। इस प्रस्तावना में ही उसने अपना स्वर्ण अवसर प्राप्त कर लिया। उसने उन यंत्रों को बेचा। थोड़े ही दिनों में उसे इतनी सफलता मिली कि एडीसन ने उसके वितरण और बेचने का एकाधिकार उसे दे दिया। उस व्यापार से ही यह कहावत निकली, "एडीसन ने बनाई और बार्न्स ने चलाई।"

यह व्यापारिक संधि तीस वर्ष से ऊपर तक चलती रही। जिससे बार्न्स धनी बन गया, परन्तु उसने इससे भी बढ़कर उत्कर्षपूर्ण कार्य किया। उसने यह प्रमाणित कर दिया कि यदि व्यक्ति धनवान बनने का दृढ़ संकल्प कर लेता है तो अपनी सहज इच्छा-शक्ति और आत्मबल से वह बन भी जाता है।

उसने कितना धन उस मौलिक इच्छा से पैदा किया, यह मैं नहीं जानता और न कोई जानने का साधन ही मेरे पास है। फिर भी इस इच्छा-शक्ति के कारण ही उसे थोड़े ही दिनों में २० या ३० लाख डालर का लाभ हुआ। वैसे देखने में शायद यह लगे कि यह संख्या बहुत बड़ी संख्या नहीं है किन्तु संख्या जो कुछ भी हो मनुष्य की इच्छा-शक्ति के सामने तुच्छ बन जाती है। महत्व तो उसके उस अर्जितज्ञान को दिया जाता है, जिसने उसकी निराकार इच्छा को परिचित सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा साकार बना दिया। यह सिद्धान्त है कि विचार का अव्यक्त संवेग परिचित सिद्धान्तों द्वारा साकारता में व्यक्त किया जा सकता है।

बार्न्स ने अक्षरशः अपने को एडीसन के भागीदार के रूप में सोंचा। उसने अपने को भाग्य का एक रूप समझा। उसके पास केवल एक ही सम्पत्ति थी, **वह थी लक्ष्य प्राप्ति में दृढ़ इच्छा, दृढ़ संकल्प तथा जब तक कार्य सिद्ध न कर ले अपनी इच्छा के साथ डटे रहना।**

"क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे" (रघुवंश)

महापुरुषों के पास कोई भौतिक साधन नहीं होता, फिर भी वे अपने तेज से बड़े-बड़े काम कर जाते हैं—विभूतिमान बन जाते हैं।

उसके पास आरम्भ करने को कोई धन न था। परन्तु एक थोड़ी सी शिक्षा थी, जिसका कोई प्रभाव न था, किन्तु उसके पास आरम्भ करने की एक श्रद्धा और विजय पाने की आकाँक्षा थी। इन अमूर्त शक्तियों के संयोग से उसने, उस महान आविष्कारक के साथ जो उस समय में पैदा हुआ था, अपने को महान पुरुष बना लिया।

अब आप एक भिन्न स्थिति का निरूपण तथा उस पुरुष का अध्ययन कीजिए, जिसके पास प्रचुर धन आनेवाला था, किन्तु उसने उसको खो दिया, क्योंकि जिस ध्येय को वह ढूँढ़ रहा था, उस तक पहुँचने के केवल एक गज पहले ही वह रुक गया।

असफलता के अनेक कारण हैं। उनमें यह एक कारण ऐसा है जो सर्वत्र पाया जाता है। प्रत्येक मनुष्य जब तब यह भूल कर बैठता है और क्षणिक पराजय के कारण लक्ष्य सिद्धि से वंचित रह जाता है।

आर. यू. डारबी (R. U. DARBY) का एक चाचा, सोना पाने के दिनों में, सोने के ज्वर से ग्रसित हुआ और पश्चिम की ओर **धनी बनने को** चल दिया। उसने यह कभी नहीं सुना था कि, **पृथ्वी से जितना धन निकाला गया है, उसकी अपेक्षा मनुष्य के मस्तिष्क से कहीं अधिक खोदा गया है।** उसने अपने स्वत्व की भूमि सीमा में खूँटे गाड़ कर गैंती फड़ुवे से काम आरम्भ कर दिया। कार्य बड़ा कठिन था, किन्तु लालसा अडिग थी।

कई सप्ताह के श्रम के पश्चात्, वह चमकीली धातु से पुरष्कृत हुआ। उसे भू-गर्भ से ऊपर धातु लाने के लिये यंत्र साधन की आवश्यकता हुई। उसने खदान को चुपके से बन्द कर दिया, अपने घर विलियम्सवर्ग, मेरीलैंड की सड़क पर आकर, अपने सम्बन्धियों, मित्रों से इसकी चर्चा की। उन लोगों ने मिलकर धन इकट्ठा किया, यंत्र मोल लिये। चाचा और भतीजे डारबी, दोनों खदान पर काम में जुट गये।

पहली गाड़ी धातु की गलाने वालों के यहाँ भेजी। उससे पता चला कि यह सबसे बढ़िया धातु की खदान है। दो चार और ऐसी गाड़ी में समस्त खर्चा निकल आयेगा। तब लाभ ही लाभ होगा, जो उन्हें मालामाल कर देगा।

जितने गहरे बर्मा जाता था, उतनी ही ऊँची डारबी और उसके चाचा की आशायें उठती थीं। खोदते हुए सोने की तह क्षीण पड़ गई और विलीन हो गई। अब उन्हें अँधेरा दिखने लगा और वह सोने की धरिया छूंछी पड़ गई। वे खोदते गये और साहस करके उस तह का पता लगाते रहे, जिसमें

सोना था, किन्तु कोई लाभ न हुआ, अन्त में उन्होंने छोड़ देने का निर्णय किया।

वे यह यंत्र एक कबाड़ी के हाथ कौड़ी मोल पर बेचकर घर लौट आये। कबाड़ी तो गूँगे होते हैं, किन्तु यह वैसा नहीं था। उसने खदान के एक सुदक्ष इञ्जिनियर को बुलाकर सर्वेक्षण कराया, और सलाह पूछी। इञ्जिनियर ने कहा कि योजना इसलिए असफल हुई कि, मालिक को सोने की धारी का पता न लग पाया। उसके गणना से यह ज्ञात हुआ कि **वहां से वह धारी और तीन फुट खोदने पर मिलेगी**, जहाँ तक डारबी खोद कर गये हैं।

उस कबाड़ी ने करोड़ों की धातु उस खदान से निकाली। उसने सोचा इस कार्य को छोड़ देने के पहिले डारबी को चाहिये था कि वह सुदक्ष पुरुषों से सलाह ले लेता।

अधिकांश धन तो युवक डारबी ने अपने पड़ोसियों और सम्बन्धियो से एकत्र किया था, जिसको उसने कौड़ी-कौड़ी कई वर्षों में चुका दिया।

बहुत दिनों के बाद स्वयं बड़ा डारबी अपना घाटा पूरा कर पाया, जब उसने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया कि, "**इच्छा सोने के रूप में रूपान्तरित की जा सकती है**।" यह ज्ञान उन्हें तब हुआ, जब वह बीमा कम्पनी के दलाल होकर कार्य करते थे। डारबी की आखे खुल गई कि कितनी बड़ी सम्पत्ति हाथ से जाती रही। तीन फुट और खोद लिया होता, तो मालामाल हो गया होता। उसने अपने मन में कहा अब इससे यह शिक्षा ग्रहण कर लूँ कि कोई कितना ही क्यों न कहे, उसके पीछे पड़ा ही रहूँगा, बीमा कराके ही छोड़ूँगा। कहा भी है।

"द्वार धनी के पड़ा रहे, धक्का धनी का खाय।
कबहूँ धनी नवाजही, जो दर छाड़ि न जाय॥"

डारबी अब उन पचास पुरुषों में से एक है, जो साल में दस लाख डालर के ऊपर का बीमा कर लेते हैं। सोने की खदान में उसे अपने लक्ष्य पर डटा रहना चाहिये था, पर वह विचलित हो गया। उससे अपने लक्ष्य पर डटे रहने की जो शिक्षा उसने प्राप्त की, उसका वह ऋणी है।

किसी भी पुरुष के जीवन में सफलता आने से पहिले, यह निश्चय है कि कुछ क्षण के लिये पराजय का सामना करना पड़े, या कदाचित् विफलता का भी। जब पुरुष पर पराजय सवार होती है, तो सबसे सरल बात भाग खड़े होने को ही होती है। अधिकांश लोग यही किया करते हैं।

पाँच सौ से अधिक सफल पुरुषों ने जो अमेरिका में कभी हुए हैं, बत-

लाया कि उन्हें महान सफलता तब मिली, जब विफलता के बिन्दु से आगे बढ़कर पैर रखा। असफलता धोखेबाज़ है, जिसमें छल और विपरीत बुद्धि की तीक्ष्णता भरी है। जब सफलता पर पहुँचना निकट होता है, तो इसको कुचलने या लाँघ जाने में असफलता को बड़ा आनन्द मिलना है।

दृढ़ाग्रह में महान शिक्षा

थोड़े दिन के पश्चात् डारबी को जब "कठोर आघातों के विद्यालय" से उपाधि प्राप्त हुई और उसने सोना खोदने के व्यापार के अनुभव से लाभ उठाने का निर्णय किया, **तो उसको एक अवसर** पर उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसने उसको प्रमाणित कर दिया कि "नहीं" शब्द को अर्थ "नहीं" में होना आवश्यक नहीं हैं।

एक शाम को छोटा डारबी अपने चाचा को आटा पीसने में सहायता दे रहा था। उसका चाचा, काले आदमियों के सहयोग में खेती कर रहा था। चुपके से द्वार खोलकर एक एक काली लड़की ने प्रवेश किया। एक आसामी की कन्या, अन्दर आकर टिक गई।

चाचा उससे गुर्रा कर बोला "क्या चाहती है?" डरते हुए बच्ची ने कहा, **"मेरी माता कहती हैं कि पचास सेन्ट भेज दो।"** चाचा ने प्रत्युत्तर दिया, "चल, हट"।

बच्ची ने कहा," अच्छा महाशय," किन्तु वह टली नहीं। चाचा अपने काम में लग गये। और इतने व्यस्त हो गये कि उस ओर ध्यान भी नहीं दिया कि लड़की गई या नहीं। जब उन्होने देखा कि वह वहीं खड़ी है, तो चिल्ला उठे, "मैंने तुझ से घर जाने को कहा था, जाती क्यों नहीं, जा, नही तो कोड़े मारूँगा।" छोटी बालिका ने कहा "अच्छा महाशय," परन्तु वह तनिक भी नहीं डुली, न हिली।

चाचा ने बोरे को कन्धे से फेंका, जो वह चक्की में डालने को था और एक डंडा उठाकर लड़की की ओर झपटा। चेहरे से मालूम देता था कि पीटेगा। छोटे डारबी ने साँस रोक ली। वह निश्चित था कि अब हत्या होना देखेगा। वह जानता था कि उसके चाचा गुस्सैले हैं। और यह भी जानता था कि, इस देश में श्वेतांगों के हुकुम को टालने के काले आदमी अधिकारी नहीं हैं।

उसका चाचा उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ वह लड़की खड़ी थी। लड़की ने तुरन्त ही एक डग आगे बढ़कर उनकी आखों को घूरा और बड़ी जोर

से चिल्लाकर व रोकर कहा, **"मेरी मम्मी को पचास सेन्ट मिलना ही चाहिये।"**

चाचा रुक गये और एक क्षण उसकी ओर देखकर, डंडा ज़मीन में फेंक दिया और जेब में हाथ डालकर आधा डालर निकाल कर उसे दे दिया। लड़की ने वह डालर ले लिया और उससे आँखें मिलाये हुए उलटे पैर लौटी, उसने अपनी आँखों को उस पुरुष पर से हटाया नहीं, जिस पर उसने विजय पाई थी। जब वह चली गई, चाचा एक बक्स पर बैठ कर खिड़की से बाहर दस मिनिट तक देखते रहे। वह उस कोड़े पर विचार करते रहे, जो उन्होंने अभी वहाँ स्वयं खाया था।

युवक डारबी भी सोंचता रहा कि, यह पहला अवसर उसके अनुभव में है कि काली लड़की ने दृढ़ता से प्रौढ़ श्वेतांग को वश में कर लिया। कैसे उसने यह किया। उसके चाचा को क्या हुआ जो उन्होंने अपनी कठोरता खो दी और भेड़ की भाँति कोमल हो गये। कौन-सी विचित्र शक्ति का लड़की ने प्रयोग किया, जिसने अपने से बड़े को वश में कर लिया ? वह और इसी प्रकार के प्रश्न डारबी के मन में उठने लगे, किन्तु इनका उत्तर वर्षों बीत जाने पर उसे मिला, तब यह कहानी उसने लेखक से कही।

विचित्रता यह थी कि यह कहानी उसी जगह कही गयी, जहाँ पर यह घटना घटित हुई थी और जहाँ उसके चाचा को कोड़ा लगा था। विचित्रता यह है कि मैंने अपने पच्चीस वर्ष उस शक्ति के अध्ययन में लगा दिये, जिसने एक अज्ञान और अशिक्षित काली लड़की को एक बुद्धिमान पुरुष पर विजयी बनाया।

हम उस धूल भरे चक्की गृह में खड़े थे। डारबी ने असाधारण विजयी की यह कहानी दुहराई। और यह पूछ कर समाप्त की, "आप इससे क्या परिणाम निकालते हैं, कौन सी विचित्र शक्ति का उस लड़की ने प्रयोग किया, जिसने ऐसी सफलता से मेरे चाचा को वश में कर लिया।

उसके प्रश्न का उत्तर इस पुस्तक में पाया जायगा, जो पूर्णतः भरा हुआ है। इसमें दिये गये निर्देश, उसी शक्ति के प्रयोग को समझने के लिये पर्याप्त हैं, जिसने उस लड़की को वहाँ ला खड़ा किया।

अपना मन जागरूक रखिये। आप देखेंगे कि, कौन सी विचित्र शक्ति लड़की की रक्षा को आई। आप आगे के अध्याय में इस शक्ति की झलक देखेंगे। इस पुस्तक में कहीं आप उस विचार कल्पना को पायेंगे, जो आपकी ग्रहणात्मक शक्ति को उत्तेजित करेगी और आपके आधीन, आपके लाभ के

लिए, इसी के समान अनिवार्य शक्ति रख देगी। इस शक्ति के विषय में जागरूक वर्णन, हो सकता है इस प्रस्ताव के पहले ही अध्याय में आ जाय, या हो सकता है कि और अगले अध्यायों में आभासित हो। यह हो सकता है, वह अकेले कल्पना के रूप में आवे, या एक योजना के भाव या अभिप्राय के रूप में। हो सकता है कि यह वर्णन आपको अपने भूतकाल के पराजय या असफलता के अनुभवो की ओर फिर लौटा दे। यह भी संभव है कि इस वर्णन से आपके भीतर वाह्य स्तर पर किसी ऐसी सीख या ऐसे भाव का उन्मूलन हो जाय और फिर नये माध्यम से आपने पराजय द्वारा खोये हुये शक्ति को पुनः प्राप्त कर ले!

सारांश यह कि उस अबोध बालिका ने जिस दृढ़ाग्रह शक्ति से विजय प्राप्त की थी, उसकी याद मैंने डारबी को दिलाई। सुनते ही, उसके सामने अपने पिछले ३० वर्ष का बीमा कम्पनी का अनुभव चित्रित सा हो गया। वह इस निश्चय पर पहुँचा कि मेरी सफलता उस लड़की द्वारा दिखाई गई दृढ़ाग्रह शक्ति पर ही निर्भर है, उस लड़की का पथ प्रदर्शन मेरे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया।

जब-जब किसी ग्राहक द्वारा मेरी आशाओं पर तुषारपात होता था, तब-तब अपनी पुरानी चक्की पर उस लड़की का दृश्य मेरी आँखो के सामने नाचने लगता था। मेरे सामने विरोध में डूबी हुई उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आ जाती थीं। मैं अपने मन में कहता "यह बीमा तो करना ही है", मेरे दृढ़ाग्रह की सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जिन ग्राहकों ने बीमा कराने से बार-बार इन्कार कर दिया था, उन्हीं ने सबसे अधिक संख्या मे बीमा कराया है।

सोने की प्राप्ति से तीन फुट दूर रह जाने की भूल को स्मरण करके उसने कहा, वह भूल का अनुभव एक छद्मवेश मे आशीर्वाद ही था। उसने ही मुझे सिखाया कि डटे रहो, डटे रहो चाहे जितना कठिन कार्य हो हिम्मत न हारो। यह सीखने की आवश्यकता मुझे पहले ही होनी चाहिये थी।

जीवन विचित्र है और बहुधा क्षणिक। सफलता और विफलता दोनों का मूल-साधारण अनुभवों में ही निहित है। डारबी के अनुभव सर्व-सामान्य और यथेष्ट सरल थे, फिर भी उन्होंने उसके जीवन और भाग्य को बनाया, इसलिए उसके अनुभव उतने ही महत्व के थे, जितना कि उसका जीवन था। उसने इन नाटकीय अनुभवों द्वारा लाभ उठाया क्योंकि, उसने उनका विश्लेषण किया और फिर जो शिक्षा उन्होंने उसको दी, वह

उसने सहर्ष प्राप्त की। किन्तु उन लोगों का क्या होगा, जिनके पास न तो समय है, और न ज्ञान की खोज में असफलता के कारण जानने की प्रवृत्ति जो उन्हें सफलता की ओर ले जाये ? वे कहाँ और कैसे पराजय को सफलता में परिवर्तित करने की कला सीखें ?

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में यह पुस्तक लिखी गई है। उत्तर तेरह सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपेक्षित है, किन्तु संभव है कि, जैसे-जैसे आप पढ़ें और उन प्रश्नों को जिन्होंने आप को जीवन की विचित्रता पर विचार करने का अवसर दिया, उनके उत्तर को ढूँढ़ें, हो सकता है कि वे उत्तर आपके मन ही में वर्तमान हों। उन प्रश्नों के उत्तर ऐसे हों, जो पढ़ते-पढ़ते किसी कल्पना, सूझ, योजना या अभिप्राय के उपज का परिणाम हों।

एक स्वस्थ विचार ही तो उसके लिए सब कुछ है वह इसी विचार के माध्यम से सफलता प्राप्त करना चाहता है। इस पुस्तक में जिन सिद्धान्तों का वर्णन है, वे सब से उत्तम हैं। सब से अधिक अतिव्यावहारिक एवम् सुपरिचित हैं। वे लाभदायक विचारों को जन्म देने के मार्ग और साधनों से सम्बन्ध रखते हैं।

इसके पहले कि हम इन सिद्धान्तों का वर्णन करे, हम विश्वास करते हैं कि आप निम्न सूक्ति को हृदयस्थ कर लेंगे :—

"जब धन आना प्रारम्भ होता है, तो बहुत शीघ्रता से आता है, इतनी प्रचुरता से कि व्यक्ति चकित हो जाता है कि वह इतने वर्षों तक कहाँ छिपा हुआ था।" यह धारणा विस्मयाकुल करने वाली है विशेष रूप से यह विस्मय कारी उस समय हो जाती है जब हम "धन उन्हीं के पास आता है, जो दीर्घ-काल तक कठिन परिश्रम करते हैं।" जैसी लोकोक्ति पर विश्वास करते हैं।

जब आप सोंचने और धनवान बनने लगेंगे, तो आप को मालूम हो जायगा कि धन का आना कम या अधिक परिश्रम पर निर्भर नहीं है, अपितु वह मन की उस स्थिति पर निर्भर है, जो निश्चित उद्देश्य लिए होता है। आप को और आप ही के समान दूसरे व्यक्तियों को यह जानने में रुचि होनी चाहिये कि, किस प्रकार उस मानसिक अवस्था का उपार्जन करें, जो विभूति आकर्षित करेगी। मैंने इस अनुसंधान में पच्चीस वर्ष बिताए हैं। और पच्चीस हजार से अधिक लोगों का विश्लेषण किया है। यह मैंने इसलिये किया है क्योंकि मैं, भी, जानना चाहता था कि लोग कैसे इस रीति से विभूतिमान बन गए हैं।

बिना उस गहरे अनुसंधान के यह पुस्तक कभी न लिखी जाती। भली-

भाँति इसका निरीक्षण कीजिए। जितनी शीघ्रता से आप इस शास्त्र के सिद्धान्तों को आत्मसात् करेंगे तथा प्रयोग में लाने की चेष्टा करेंगे, उतनी ही शीघ्रता से आपकी आर्थिक स्थिति उन्नति की ओर अग्रसर होगी, और आप के लिए लाभदायक सिद्ध होगी। असम्भव बिलकुल नहीं।

"असम्भव" शब्द मनुष्य की मुख्य दुर्बलताओं में से एक है, जिससे सर्व-साधारण परिचित हैं, उसके सामने जो कुछ भी काम आये, वह तुरन्त कह बैठता है—"असंभव," यह किसी प्रकार नहीं हो सकता।

सफलता उन्हीं के पास आती है, जो "सफलचेता"—जो सफलता से परिचित—हैं, असफलता उन्हीं के पास आती है, "असफलचेता" वे हैं जो उदास होकर असफलता को गले लगाये रहते हैं। इस पुस्तक का उद्देश्य उन सबकी सहायता करने का है, जो अपने असफल मन को सफल मन में परि-वर्तित करने की कला को सीखने मे लगन लगाना चाहते हैं।

दूसरी दुर्बलता अधिकांशतया उन लोगों में पाई जाती है, जो प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक मनुष्य को अपने ही विश्वासों और अपनी ही भावनाओं के गज के नापना चाहते है और स्वभावतः मन में अविश्वास लिये रहते हैं। हो सकता है कि इस पुस्तक के पढ़ने वालों के मन में जो कुछ भी इसमें कहा गया है, उसके प्रति कोई भी विश्वास न हो और उल्टे वह यह समझ बैठे कि इस पुस्तक से न तो विभूति बृद्धि ही होगी और न इसके माध्यम से धन उपार्जन करने में सफलता ही मिलेगी। किन्तु मुझे उनके निष्कर्ष से कोई विशेष चिन्ता नहीं होगी क्योंकि केवल ऐसे ही लोग यह बात कह सकते हैं जो स्वयम् विचित्र प्रकार के दुखों अपवादो और असफलताओं मे घिरे हुये पराजित हो चुके होंगे। ऐसे लोग जो इसको पढ़ेंगे विश्वास करेंगे कि न तो कोई सोच सकता है, न विभूति वृद्धि ही कर सकता है, और न वह धन के अर्थ में सोच ही सकता है, क्योंकि उनके विचार, स्वभाव निर्धनता दुःख, असफलता और पराजय में डूबे हुए हैं!

लाखों लोग हेनरी फोर्ड को सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात्, उसके सौभाग्य, विभूति, प्रतिभा, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति को देख कर उससे ईर्षा करते हैं। कदाचित् एक लाख में एक ही व्यक्ति फोर्ड की सफलता के रहस्य को जानता हैं, और जो जानते हैं वे नम्रशील हैं, उसके बारे में कहना नहीं चाहते।

केवल एक उदाहरण ही उसके कार्य के रहस्य का पूर्णतः चित्रण कर देगा:—कुछ वर्ष बीते फोर्ड ने प्रसिद्ध वी० ८ (V. 8,) मोटर निकालने

का निश्चय किया। उसने अपनी गाड़ी में सभी आठों सिलेन्डरों को एक ही खंड में बनाने का निश्चय किया। उसने अपने इञ्जिनियरों को ऐसा बनाने का आदेश दिया। वह रेखाचित्र कागज पर खींचा गया, किन्तु सभी इञ्जिनियर एक मत हुए कि आठ सिलेन्डरों को एक टुकड़े मे ढालना सर्वथा असंभव है।

फोर्ड ने कहा, "जैसे बने, वैसे बनाओ", उन्होंने उत्तर दिया "यह असम्भव है, उसने हुकम दिया "आगे बढ़ो समय का ध्यान न रखो तब तक काम करते जाओ, जब तक सफल न हो जाओ।"

इञ्जिनियर काम करने लगे, वे उसकी नौकरी में रहना चाहते थे, अतः उसकी आज्ञा का पालन करना अनिवार्य था। छः महीने बीते, कुछ भी हाथ न लगा, दूसरे छः महीने भी बीत गये, तब भी कुछ न हुआ।

इञ्जिनियरों ने प्रत्येक विचारणीय योजना पर प्रयोग किया, किन्तु लक्ष्य पहुँच के बाहर दिखाई दिया। "असंभव"

अन्त में फोर्ड ने अपने इञ्जिनियरों के साथ बैठ कर फिर जाँच की। और फिर भी उन्होने सूचित किया कि उन्हें उसकी आज्ञा पालन करने का कोई मार्ग नहीं मिलता। फोर्ड ने कहा, "करते जाओ, मैं उसे चाहता हूँ, मैं प्राप्त करूँगा।"

वे फिर आगे बढ़े और तब जादू के कर्तव्य की भाँति रहस्य का ज्ञान प्राप्त हो गया। फोर्ड के दृढ़ संकल्प ने फिर एक बार विजय पाई।

इस कहानी को पूरे विवरण के साथ वर्णित नहीं किया गया है, किन्तु उस तत्व का निष्कर्ष बिलकुल ठीक है। इससे वह लोग, जो सोचना और धनी बनना चाहते हैं, फोर्ड के अरबों रुपये के रहस्य के विषय में, यदि अनुमान लगा सकते हों, तो लगा ले। आपको कहीं दूर ढूँढ़ने न जाना पड़ेगा।

हेनरी फोर्ड सफल व्यक्ति हुआ है, क्योंकि वह सफलता के मूल तत्वों को समझता और उनका प्रयोग करता था। उन मूल तत्त्वों में एक इच्छा है। व्यक्ति क्या चाहता है इसे जानना हो तो फोर्ड की इस कहानी को स्मरण कीजिये और उन पंक्तियों को चुनकर पढ़िये, जिनमें उसकी विशाल सिद्धि का वर्णन है। यदि आप यह कर सकते हैं, तो आप उन विशेष तत्वों के समुदाय पर मनन करें, जिसने फोर्ड को धनी बनाया है। आप भी लगभग सभी कार्यों में, जिसके लिये आप उपयुक्त हों, उसकी सिद्धि या करनी की समानता कर सकते हैं। विभूतिमान अथवा धनवान बनने के जितने मार्ग

बताये गये हैं, उनमें से अब हम पहले मार्ग का परीक्षण करने के लिये प्रस्तुत हुए हैं। ध्यान रखिये ये मार्ग केवल एक मनुष्य के अनुसन्धान के परिणाम नहीं हैं, अतः इन्हें पढ़ते समय मन को पूर्ण रूप से खोल दीजिये। ये मार्ग ५०० से भी अधिक मनुष्यों के अनुभव से एकत्र किये गये हैं, ये लोग ऐसे थे जिन्होंने दरिद्रावस्था में काम आरम्भ किया, जो अर्धशिक्षित थे, अथवा अशिक्षित थे, जो कुछ भी प्रभावशाली न थे, फिर भी उन्होंने धन सपत्ति का ढेर लगा दिया। इन मार्गों ने इन लोगों को सफलता की चोटी पर चढ़ा दिया। धनवान बनने के लिए आप भी इन मार्गों को अपने लाभ के लिये प्रयोग में ला सकते हैं।

अगले अध्याय को पढ़ने से पहले यह ध्यान में रखिये कि इसमें वर्णित प्रसंग यथार्थ है, इसमें लेश मात्र भी अत्युक्ति नहीं। बहुत सम्भव है कि आपकी आर्थिक परिस्थिति और आपका भाग्य पूर्ण रूप से बदल जायगा, जिस प्रकार उन दो व्यक्तियों का, जो इस अध्याय के प्रमुख पात्र हैं।

अध्याय दूसरा

सभी प्रकार की सिद्धियों का आरम्भ विन्दु
विभूति की ओर प्रथम सोपान

—इच्छा—

जगत में जो भी मनुष्य जन्मा है, उसमें कोई न कोई कामना, आकांक्षा अपने कल्याण और उन्नति के लिये अवश्य रहती है। उन लोगों को छोड़िये जिन पर तुलसीदास जी की यह उक्ति चरितार्थ हो, "सबसे भले वे मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति"। इनमें मनुष्यत्व ही नहीं है, आप स्वयं स्वीकार कर लेंगे, या जो ऐसे होंगे भी, तो वे गुणातीत समाधिस्थ ही होंगे, तब भी उनमें आत्मसाक्षात्कार की कामना तो रहती ही है। अतः मूढ़ के अतिरिक्त और सब मनुष्यों में कामना रहती है। परमात्मा ने भी प्रजापति के रूप में कामना की कि प्रजा उत्पन्न करूँ, "सः अकामयत" फिर कोई भी जीव, अंश होने के नाते बिना कामना के कैसे रह सकता है।

मनुष्य की सुख हेतु कामना अनेक प्रकार की होती है। कोई परमार्थ, कोई ईश्वर दर्शन, कोई शान्ति, तो कोई राज्य, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य प्राप्ति आदि-आदि अपनी रुचि अनुसार कामना या इच्छा करते हैं। आजकल तो सभी धन की बहुधा आकांक्षा रखते हैं। चाहे महर्षि, तपस्वी, राजा, व्यवसायी, उद्यमी, श्रमिक, गृहस्थ कोई भी हो सब में यह रोग फैला है। क्योंकि जगत विकासशील है, और इच्छा का विकास होता ही चला जायगा, जब तक कि यह अनन्त में लीन न हो जाय।

पाण्डवों और कौरवों में इसी के कारण युद्ध हुआ। यह युद्ध इन पर ही सीमित नहीं है, उन्नति के पथ पर चलने वालों की राह में इसी प्रकार की अपने-अपने हेतुओं के अनुसार युद्ध रूपी कठिनाइयाँ आना अनिवार्य हैं। क्योंकि बिना संघर्ष या युद्ध के आत्म कल्याण अथवा उन्नति कभी नहीं हो सकती। इसको आधुनिक काल के दो महायुद्धों (सन् १९१४ तथा १९३९) ने प्रमाणित कर दिया है इनके ही परिणाम स्वरूप मनुष्य की क्रियाशील चेतना से संसार में इतने अलौकिक आविष्कार हुए हैं कि वे कल्पनायें जो

१६वीं शताब्दि के लोग गप्प के रूप में मानते थे आज नितान्त प्रकट साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत हो गई है। यह सारी प्रवृत्तियाँ केवल उस आत्म कल्याण की भावना के कारण संभव हो सकी जिसके नाममात्र से लोग आज भी चौंक पड़ते हैं। मेरी समझ में यही आता है कि मनुष्य जब तक जगत प्रपंचों के संघर्ष से होकर नहीं निकलता, तब तक वह आत्मा को भुलाये ही रहता है। संघर्ष ही से उसमें अपनी आत्मा को परमात्मा की शरण में समर्पित करने की शक्ति आती है। अतः किसी महापुरुष ने उपयुक्त कहा है :—

"धन सदा द्रव्य या मुद्रा के रूप मे नहीं आँका जाता है, धन सम्पत्ति (भौतिक पदार्थ) शरीर और मन के पोषक हैं। परन्तु ऐसे भी लोग हैं, जो स्थायी मित्रता, साम्य, सहानुभूति और सद्भाव को ही सब धनो से महान धन समझते हैं। यही धन मन में शान्ति लाता है जो आध्यात्मिक गुणों अथवा सदाचार में ही उपलब्ध हैं।"

आप इच्छा करने में और कर्म करने में भी स्वतन्त्र हैं, जैसा कि कहा गया है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल-हेतुर्भूर्माते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि॥ २-४७

तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे, फल में नहीं। तू कर्मो के फल की वासना मत कर, अर्थात् कर्मण्य बन अकर्मण्य नहीं॥

वस्तुतः जो भी कामना या अभिलाषा हो, उसको साकार बनाने का प्रारम्भिक बिन्दु इच्छा है। और अन्तिम बिन्दु वह ज्ञान है, जो प्रज्ञा की ओर ले जाता है—आत्मबुद्धि, दूसरों को समझने की बुद्धि, प्रकृति के नियमों को जानने की बुद्धि, सुख को समझने की बुद्धि और अंगीकार करने की बुद्धि—कोई भी क्यों न हो इच्छा के बिना निष्प्रयोजन होगी।

कोई भी कर्म हो, उसको कार्य में लाने के लिए आपको इच्छा करनी होती है। यही इच्छा भक्ति का मूल है। इच्छा से ही प्रेम और श्रद्धा की शाखायें फैलकर भक्ति को साकार बना देती हैं।

पाण्डवों का अनुकरण करते हुए, अनेक लोग विभिन्न प्रकार की कामनायें कर रहे हैं और करते रहे। जैसे पाण्डवों को अपना राज्य बनाने की इच्छा थी, वैसे ही अन्य भावनाओं में रत पुरुष भी कोई नेता बनने की, कोई धन अर्थ की, कोई आविष्कार आदि की उद्यम व्यवसाय आदि की इच्छा करते हैं। क्योंकि मनुष्य के जीवन में ऐसे अनेकों अवसर आते हैं, जो

उसकी कामनापूर्ति कर सकते हैं, परन्तु प्रायः लोग बाधाओं के भ्रम मात्र को वास्तविक जानकर हताश हो जाते हैं। बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं, जो इन बाधाओंका सामना करके या उनका तिरस्कार करके, अपने अपने कार्य में सिद्धि या सफलता पा लेते हैं इन विघ्नों का पूरा विवरण अन्त के अध्याय में दिया गया है।

बाधाओं में, हमारे शास्त्रकारों ने अष्टपाश को सबसे मुख्य स्थान दिया है। वें अष्टपाश इस प्रकार हैं—दया, शंका, भय, लज्जा, निन्दा, कुल, शील, और वित्त। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने, भय बाधा के छः भूत माने हैं—धन हानि का भय, (२) निन्दा का भय, (३) अस्वास्थ्य का भय, (४) मोह अथवा राग या प्रेम की हानि का भय, (५) बुढ़ापे का भय, (६) मृत्यु का भय, ।

औरों ने तीन शत्रु या बाधायें मानी हैं—अनिश्चितता, शंका, भय। जिसमें अनिश्चितता को भय का बीज कहा है, क्योंकि अनिश्चतता घनी भूत होने पर शंका बन जाती है और ये दोनो मिलकर भय का रूप धारण कर लेते हैं।

इसलिए जिज्ञासु को पहले ही निश्चय कर लेना चाहिए कि वह क्या चाहता है। जो कुछ उसे चाहिए, उसे वह एक मात्र आदर्श योजना या लक्ष्य बना ले। अनेक कामनायें फलीभूत नहीं होतीं, इसका ध्यान रखिये।

भगवान ने कहा भी है :—

"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्" ॥२४१

व्यवसायात्मिक बुद्धि (निश्चयात्मक) एक ही है। अज्ञानियो की बुद्धियाँ बहुत भेदों वाली होती हैं।

फिर उन्होंने कहा है, "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि," अर्थात् सब भूतो में धर्म के अनुकूल काम हूँ"। तो जब भगवान यह आश्वाशन दे रहे हैं, तब आप कामना करने में स्वतंत्र हैं, परन्तु कामना धर्मानुकूल होनी चाहिए, अर्थात् अपनी योग्यता, बल, क्षमता, धर्म और स्वभाव के अनुसार कामना करनी चाहिए। ऐसी कामना में आप चाहे जिस पद पर या आश्रम में हो, यदि आप उसके नियमों पर चलेंगे, तो भगवान आपको सफलता निश्चय देगा।

अर्जुन अपनी कल्पनानुसार पूर्ण योजना बना कर रण में युद्ध करने को आया। किन्तु वही शंका, निन्दा, अनिश्चतता, भय के भूतों ने उसे आकर

घेर लिया और रणांगन में मूढ़तावश रोने लगा, जब उसने अपने पितामह गुरुओं, भाई, बन्धु, सुहृद, मामा, सम्बन्धियों को सामने युद्ध में खड़े देखा, तब पाप व धर्म की दुहाई देने लगा (देखिये गीता अध्याय १ श्लोक २७ से ४७ तक और अ० २ श्लोक ४ से ८ तक)

यह दशा केवल अर्जुन की ही नहीं थी, यह तो कामना पूर्ति या सफलता के इच्छुकों की प्रारम्भ में सदा होती रहती है। भय के सूक्ष्म शत्रु कभी कभी अवचेतन मन में छिपे रहते हैं, जहाँ उनको ढूँढ़ना कठिन है, उनको नष्ट करना तो और भी कठिन हैं। इन सूक्ष्म शत्रुओं के छलावे में जो लोग नहीं आते, वे ही इष्ट प्राप्ति कर सकते हैं और इच्छा या कामना को सफल बना सकते हैं।

श्री कृष्ण ने अर्जुन के विषाद पर जो कहा, वह श्रीमद्भगवतद्गीता के के रूप में एक लौकिक मनोवैज्ञानिक शास्त्र बन गया, जो हमारे उपनिषदों का सार होते हुए विश्व के लिए कल्याणदायी है। इसमें कोई भी धर्म हो, या किसी व्यक्ति अथवा जाति का हो, सबको ही इसके वाक्यों का लोहा मानना पड़ता है। इसमें अकाट्य युक्तियां हैं।

जो लोग (अर्थ सम्पत्ति) विभूति प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, अथवा कोई आविष्कार, ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि आदि की जिनमें जिज्ञासा है, उनके लिये गीता एक परम सहायक रत्न है। परन्तु यह याद रखिये कि **"संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो अकर्मी को मिल जाय"**। इसमे तो आप जितनी सेवा अपनी दे सकते हैं, उसी के अनुसार अर्थ अथवा मूल्य पाने के भागी होंगे। यह सब आपके विचार, कल्पनायें और व्यवस्थित विनियोग पर निर्भर करता है। इसमें विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। याद रखिये कि **"समस्त सिद्धियों का, समस्त उपार्जित धनों का, प्रारम्भ एक कल्पना ही से है,"** जो लोग कटिबद्ध या सन्नद्ध होते हैं, उनको दैवी प्रोत्साहन भी मिलता है।

जगत के समस्त कर्म उपासना ही हैं। व्यापार, आविष्कार, उद्यम, संगीत, विज्ञान, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, भैषज्य आदि सब उपासना के भिन्न-भिन्न रूप हैं। यही सिद्धान्त गीता का है। इसी आधार पर, मैंने यह निबन्ध लिखने का प्रयास किया है, इसमें सफलता का निर्णय पाठकों पर छोड़ता हूँ।

"यत् यत् करोमि तत् तद-खिलं शंभोस्तवाराधनम्।"

प्रस्तुत अध्याय में यह बताने की चेष्टा की गई है कि इस मार्ग पर

चलने वालों का इष्ट उनका अपना ही बनाया हुआ लक्ष्य होती है। इसी लक्ष्य में वह सफलता या सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। जैसा गीता में कहा है :—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्म-निरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धि बिन्दति मानवः ॥ १८-४५-४६

अपने अपने कर्मों में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु किस प्रकार से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को सुन। जिस परमात्मा से सर्वभूतों की उत्पत्ति हुई है, जिसमें यह सर्व जगत व्याप्त है, उसको अपने स्वाभाविक कर्म द्वारा **पूजकर** मनुष्य परमसिद्धि पाता है।

"तमभ्यर्च्य" शब्द को ही लेकर मैंने इसको उपासना-शास्त्र माना है, और जहाँ कहीं, भगवान ने, मा, मयि, आत्मा शब्द कहा है, उसको मैंने जिज्ञासु (कर्मयोगी) के "इष्ट" रूप में ही लिया है। साथ ही नेपोलियन हिल (Napolean Hill) की पुस्तक "Thinks grow rich", सोचो और धनी बनो" का भी मैंने आधार लिया है। क्योंकि प्रस्तुत प्रस्ताव में हिल के तीस वर्ष के मनोवैज्ञानिक अनुभव लिखे गये हैं और लगभग ५०० बड़े-बड़े उद्योगियों के सफल जीवन के रहस्य का निष्कर्षसार भी इस पुस्तक मे बड़े अच्छे ढंग से दिया गया है।

गीता से प्रायः सभी लोगों ने, चाहे भक्ति द्वारा या कर्म अथवा ज्ञान द्वारा परम तत्व का दर्शन या सिद्धि पाई है। किन्तु मेरी भावना मे, इन लोगों से सहमति होते हुये, मेरी अलग यह धारणा है कि, उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार स्वकर्म में ही सिद्धि का आभास या आश्वासन मिल रहा है। इसलिये मैं अनेक वर्षों से (२३-२४) इसको स्पष्ट करने के प्रयास में लगा हूँ। अब फिर इस पुस्तक की सहायता द्वारा यह प्रयास कर रहा हूँ।

इच्छा पर, जैसा पहले कहा गया है—

"वास्तव में विचार ही द्रव्य हैं,"

जब एडविन बार्न्स आरेंज शहर में मालगाड़ी से उतरा, तो हो सकता है एक भिखारी के सदृश हो, परन्तु उसके विचार राजा के से थे।

उसने पैसा पास न होने के कारण मालगाड़ी ही पर यात्रा की और टामस एडीसन के दफ्तर में आया तो उसका मन कर्मशील था, इसी साध

को लेकर वह एडीसन के सामने खड़ा हुआ और प्रार्थना की कि मुझे अपने व्यवसाय में भागीदार बना लो। वह अपनी ज्वलन्त इच्छा और सच्ची साध की पूर्ति चाहता था।

बार्न्स की इच्छा साधारण आशा के रूप में नहीं थी। वह कोई वासना नहीं थी। वह तो एक तीक्ष्ण ज्वलन्त इच्छा थी, जो और सभी को अतिक्रमण कर गई थी। यह निश्चित थी। जब वह एडीसन के सामने उपस्थित हुआ था, तो उसकी इच्छा नई नहीं थी, यह उसकी **दीर्घकालीन अदम्य इच्छा** थी। प्रारम्भ में जब पहले पहिल इच्छा उसमें उत्पन्न हुई, तब हो सकता है वह केवल वासनामात्र ही हो, परन्तु जब वह एडीसन के सामने आया, तो वह इच्छा वासनामात्र ही नहीं रह गई थी, अपितु वह एक लक्ष्य निष्ठा में बदल चुकी थी।

कुछ वर्षों के पश्चात् बार्न्स फिर एडीसन के सामने उसी दफ्तर में, जहाँ वह पहले मिला था, खड़ा हुआ। इस समय उसकी इच्छा वास्तविकता मे रूपान्तरित हो गई थीं। वह उसके व्यापार मे भागीदार बन गया। उसके **जीवन का दीर्घकालीन स्वप्न** अब वास्तविक हो गया। आज जो लोग उसे जानते हैं, ईर्ष्या करते हैं। क्योकि जीवन प्रभात उसको मिला। उसके ईर्ष्यालु यह जानने का कष्ट नहीं उठाते कि, इस सफलता का मुख्य कारण क्या था।

बार्न्स ने एक निश्चित ध्येय अपनाने के कारण सफलता पाई थी। उसकी सभी शक्तियाँ, उसका समस्त बल और उसके सभी प्रयास व सभी विषय उस ध्येय की ओर लगे थे। वह स्थितप्रज्ञ था, जैसा भगवान् ने कहा है :—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २-६८

हे महा-बाहो, जिस पुरुष की इन्द्रियाँ सब प्रकार के विषयों के वश में नहीं होतीं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

उसने अपने लक्ष्य पर एक प्रकार की सविकल्प समाधि लगा ली थी। जैसे अर्जुन की समाधि केवल चिड़िया की गरदन पर लगी थी इसी प्रकार बार्न्स की समाधि अपनी लक्ष्य निष्ठा में लगी हुई थी।

वह जिस दिन आया था, उसी दिन से एडीसन का **भागीदार** नहीं बन गया था। जब तक उसे अपने इष्ट ध्येय की ओर एक डग भी बढ़ने का अवसर न प्राप्त हुआ, तब तक वह प्रारम्भ में साधारण से साधारण काम

करने में ही सन्तुष्ट रहा। जिस अवसर की प्रतीक्षा में वह था, उसे प्राप्त होने में पाँच वर्ष बीत चुके। इन वर्षों में न तो उसे आशा की एक भी झलक मिली और न उसकी इच्छापूर्ति का कोई संकेत ही मिल पाया। सभी कर्मचारी तथा श्रमिक एडीसन के व्यवसाय-चक्र के दातुवें समझे जाते थे, पर बार्न्स अपने को ऐसा नहीं समझता था। जिस क्षण उसने कारखाने में पैर रखा, **उसी क्षण से वह अपने को एडीसन का साझीदार समझने लगा था।**

निश्चयात्मक इच्छा शक्ति का, यह एक अपूर्व उदाहरण है। (निराकार उपासना का रहस्य)। बार्न्स और सब बातों से अधिक एडीसन के व्यापार में भागीदार तथा सहयोगी बनना चाहता था। उसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया। इस उद्देश्य की उपलब्धि के लिये उसने एक योजना बना ली थी, साथ ही अपने **पीछे हटने के भाव के सभी मार्ग विध्वंस कर दिये थे**। जब तक उसके जीवन की प्रकृष्ट साध पूरी न हुई और यथार्थ रूप में परिणत न हो गयी, तब तक वह **इच्छा शक्ति** द्वारा डटा ही रहा, अर्थात् उसने अपनी इच्छा शक्ति से अपने इष्ट को साकार बनाकर ही छोड़ा।

जब वह आरेंज नगर में गया था, तो उसने अपने मन में यह कभी नहीं सोचा था कि, "मैं जाकर एडीसन से विनय करूँगा कि किसी काम में मुझे लगा लो। उसने यह सोचा था, "मैं एडीसन से मिल कर उसका ध्यान आकृष्ट करूँगा या उसे सूचित करूँगा कि मैं व्यापार में भागीदार या सहयोगी बनने के लिये आया हूँ"। उसने यह नहीं सोचा था कि, मैं वहाँ कुछ महीने काम करूँगा और यदि प्रोत्साहन न मिला, तो किसी दूसरे धन्धे की ओर देखूँगा, अपितु उसने प्रारम्भ ही से यह सोचा था कि, एडीसन के भागीदार बनने की क्षमता प्राप्त करने के पूर्व वह जो कुछ भी काम मुझे दे देगा, मैं उससे सहयोग करूँगा।

उसने यहकभी नहीं सोचा था कि यदि एडीसन के यहाँ मन चाहा काम न मिला। तो वह दूसरी दिशा में प्रयास करेगा। उसने अपेक्षाकृत यह सोचा था कि, "जगत में एक ही वस्तु है, जिसे पाने के लिये मैं दृढ़ हूँ, वह यह कि एडीसन के व्यापार में सहयोगी बनूँ," मैं अपने पीछे के मार्ग के सभी पुल तोड़ डालूँगा और अपने **समस्त भविष्य** की बाजी अपने लक्ष्य पर लगा दूँगा।

उसने **पीछे भाग जाने का कोई भी मार्ग, जहाँ तक सम्भव था, नहीं रहने दिया। उसको जीतना था या मर जाना था।** अर्थात् "**कार्यं वासाधयेम, जीवनं वा पातयेम**" (उपनिषद्), इस सिद्धान्त को उसने अपना पथ-प्रदर्शक बना

लिया था। संभव है कि बार्न्स को उस समय इसका ज्ञान न हुआ हो, पर सत्य यही है कि उसकी **दृढ़ इच्छा ने, स्थितप्रज्ञता ने तथा केन्द्रित इच्छा शक्ति** ने ही सब विरोधी भावनाओं को कुचल दिया था। जो वह चाहता था उसे उसने प्राप्त कर लिया। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, **जब कोई मनुष्य सत्यत: किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये तत्पर होकर तुल जाता है, तो वह वस्तु स्वयं प्रगट हो जाती है।**

"एक तीव्र संवेग तथा साहस का उदाहरण" बहुत दिन हुए एक सेनापति को, जिसकी सेना शत्रु की सेना से संख्या में बहुत कम थी, अपनी सेना को रणभूमि में ले जाने का निश्चय करना पड़ा। उसी निश्चय ने उसे विजयी बनाया। उसने अपनी सेना व फौजी सामान को नावों पर लाद कर शत्रु के देश के किनारे उतार दिया। जब सेना उतर गई तो उसने नावों को आग लगाकर भस्म कर डाला। युद्ध-क्षेत्र मे खड़े होकर अपने योद्धाओं को सचेत कर कहा, "तुम नावों को जलते हुए देख रहे हो, इसके अर्थ हैं कि हम बिना विजय प्राप्ति किये, जीवित पीछे नहीं जा सकते **अब हमारे पास यही अभीष्ट है, हम विजय पायें या मर जायें।**"

प्रत्येक व्यक्ति जो, विभूतिमान बनना चाहते हैं अथवा लक्ष्य प्राप्ति चाहते हैं, वह चाहे अर्थ हो, धर्म हो, व्यवसाय हो, अथवा भौतिक संपद का ज्ञान हो, उसको अपने जहाज और सभी पीछे हटने या भाग जाने के साधनों को नष्ट करना ही चाहिए। जो ऐसा करते है, वे ही व्यवसायात्मिक बुद्धि या स्थित-प्रज्ञावस्था के अधिकारी बन सकते हैं। तथा उनमें ही **तीक्ष्ण संवेग अर्थात् ज्वलन्त इच्छा शक्ति** विजयहित प्राप्त हो सकती है। यही वह शक्ति है जो सफलता के लिये अवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य, जो धन का महत्व समझने लग जाता है, धन की कामना करता है, पर कामना करना ही संपदा नहीं लायेगी। संपदा की इच्छा के लिये जब मन पूर्ण रूप से ओत-प्रोत हो जाएगा, अर्थात् अनन्य भाव में आयेगा, तभी वह उसकी उपलब्धि के लिये अनेक मार्ग बनाता है तथा अनेक साधन जुटाता है और उस योजना में अपनी उस धारणाशक्ति को लगा देता है, जो निरुत्साह या असफलता को स्वीकार नहीं करती। ऐसी धारणा ही संपदा लाती है। "तीव्रसंवेगानामासन्न:"।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने बताया है कि, जिसके द्वारा इच्छा शक्ति सम्पत्तियों में परिवर्तित होती है, उसके छः निश्चित सोपान हैं—

पहिला—अपने मन में संपत्ति की एक निश्चित मात्रा कर लेनी चाहिये। यदि अर्थ की कामना है तो उसका भी निश्चित अंक होना चाहिये। ऐसा कहना कि, "हमें बहुधन चाहिये," ठीक न होगा, इसमें तो निश्चित रकम निर्धारित करनी होगी।

दूसरा—मन में यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि इसके बदले में आप क्या देने की इच्छा रखते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि बिना दिये कुछ मिले।

तीसरा—एक निश्चित अवधि अपने लक्ष्य प्राप्त करने की बना लेनी चाहिये।

चौथा—अपनी मनोकामना पूर्ण होने के हित एक निश्चित योजना बनाइये, और कार्य करना तुरन्त प्रारम्भ कर दीजिये, चाहे आप इस योजना को कर्म के रूप में लाने को तत्पर हों या न हों।

पाँचवाँ—एक संक्षिप्त और स्पष्ट विवरण अपनी आवश्यकता का लिखिये, उसमें यदि अर्थ की आवश्यकता हो, तो उसकी संख्या तथा अवधि निश्चित रूप से होनी चाहिये। यह भी लिखिये कि अर्थ-लाभ के बदले में आप क्या देना चाहते हैं और अपनी योजना का पूर्ण रूपसे विवरण लिखिये, जिसके द्वारा आप धन इकट्ठा करना चाहते हैं।

छठा—अपना लिखा हुआ विवरण उच्च स्वर से पढ़िये, दिन में दो बार, एक सोने के पहले उसी क्षण और दूसरा सबेरे जब आप जागते हैं। जैसे-जैसे आप पढ़ते जायँ—भावना और विश्वास रखिये कि आपने उस अर्थ को पा ही लिया है।

[यह भावना अपने इष्ट मे असम्प्रज्ञात अवस्था या योग द्वारा तद्रूप हो जाने की है]

यह अनुष्ठान केवल रुपया प्राप्त करने के हित ही नहीं है, अपितु इसका रूपान्तर (मुख्य भाव लेकर) किसी भी निश्चित कामना के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है।

(एडीसन का मत)

इन छः उपदेशों का अनुकरण करना बड़े महत्व का है। विशेष रूप से **छठे क्रम को ध्यान देकर उसके अनुसार अभ्यास करना भी बहुत आवश्यक**

है। आप यह कह सकते हैं कि, 'धन को अपने अधिकार में आया हुआ देखना' जब तक कि धन वास्तव में मिल न जावे, असम्भव है। ध्यान रखिये यहीं पर आपका **वह तीव्र संवेग या ज्वलन्त इच्छा** आपकी सहायता को आयेगी। यदि आप सत्य भाव से, तीक्ष्ण रूप में धन की इच्छा ऐसी करें कि, वह आपकी इच्छा को अनन्य भावना से भर दे (मन्मया मामुपाश्रिता), तो आपको निश्चित धनराशि प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी। भगवान ने गीता में कहा है :—

बीत-राग-भय-क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
वहवो ज्ञान-तपसा पूता मद्भावमागताः ॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम बत्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
कांक्षन्तः कर्मणा सिद्धि यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ ४-१०,११,१२.

जो पुरुष राग, भय और क्रोध से रहित अनन्य भाव से मेरे ही (इष्ट) मे स्थित, मेरे (इष्ट) में शरण हुए, बहुत से ज्ञान रूप तप से मंजे हुए मेरे (इष्ट) भाव को प्राप्त हो चुके हैं। हे पार्थ जो मुझे जैसा भजता है (मुझे शब्द व्यापक लक्ष्य के प्रति लगाइये), मैं उसे वैसा ही भजता हूँ, इस **रहस्य** को जान कर ही मनुष्यगण सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार वर्तते हैं। इस मनुष्य लोक में **कर्मों के फल को चाहते हुये**, देवताओं को पूजते हैं, (देवता की व्याख्या विभूतियों के रूप में अथवा और रूपों में, उपनिषदों में कही गई है) और उनके कर्मों से उत्पन्न हुई **सिद्धि भी शीघ्र ही होती है** ॥

उपर्युक्त श्लोक सफलता के हित, एक रहस्यमय सिद्धान्त के रूप में हैं :—

अमेरिका सरकार ने, एक लोहे के बड़े पुल के निर्माण के लिये कम्पनियों से टेन्डर माँगे, जो कई करोड़ डालर के थे। केवल दो ही कम्पनी, एक कारनेगी की और दूसरी पुलमैन कम्पनी, ने टेन्डर लिया। कारनेगी के प्रतिनिधि ने देखा कि यहाँ तो बड़ी तीव्र स्पर्धा का सामना करना है। इस स्पर्धा में यदि सफल भी हुये, तो लाभ नाममात्र का होगा।

बहुत सोच-विचार के पश्चात् राग, भयादि को त्यागकर, वह पुलमैन कम्पनी के प्रतिनिधि से मिला और उसके लाभ-हित, ऊँच-नीच दिखाकर कि आपस की स्पर्धामें किसी का लाभ नहीं है, क्यों न हमै लोग मिलकर टेन्डर दें

(मन्यमा मामुपाश्रिताः) । अर्थात् कुछ लाभ न होने के स्थान में अच्छी रकम का लाभ उठायें । इस प्रकार कारनेगी के प्रतिनिधि ने अपने को पुलमैन कम्पनी का हितेच्छु दर्शाया ।

पुलमैन कम्पनी के प्रतिनिधि ने बात हित की और उचित जानकर पूछा, "अच्छा, तो टेन्डर किसके नाम दिया जायगा ?" कारनेगी के प्रतिनिधि ने, छूटते ही कहा, "आपकी कम्पनी के नाम से" (अपने को समर्पित कर दिया) सुनते ही वह तुरन्त राजी हो गया, (तांस्तथैव भजाम्यहम्) । और इस व्यवहार में हजारों के स्थान पर करोड़ों का लाभ उठाया ।

तात्पर्य यह है कि, यदि आप किसी विषय में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, तो उस विषय के अभिमानी देवता (विभूतिमान) की तन्मय होकर सेवा करें और उसके हित की सदा सोचते रहें (अर्थात् उसी में तन्मय होकर उस ही के उपाश्रित बनें) [यह तो स्पष्ट ही है कि, जो कोई किसी के यहाँ माँगने जाता है, तो उसका पद उपासक का है और जो दाता है, वह उपास्य, अर्थात् देवता] ऐसी स्थिति में जब आप उसकी ऐसी सेवा करेंगे, तब उसको भी द्रवित होना ही पड़ेगा । (ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्) । इस प्रकार ऐसा करने से जीवन जगत् में तुरन्त ही सफलता मिलती है ।

आपका आशय धन अथवा और किसी कामना के लिये है । उसे पाने के लिये आप अपने में यह प्रतीति करें कि आप उसे पा ही चुके ।

केवल वे ही लोग जो "संपदचेती" हो जाते हैं, संपदा पाने के अधिकारी होते हैं । "संपदचेतना" के अर्थ यह हैं कि, **कामना या संपदा प्राप्त करने की इच्छा में**, आपका मन इस प्रकार तन्मय या विभोर हो जाय कि, मानो वह संपदा आपके अधिकार में है ।

जो लोग मन की क्रिया सिद्धान्तों में दीक्षित नहीं हैं, उनको यह उपदेश अव्यावहारिक मालूम पड़ेगा । इसलिये उनको स्थितप्रज्ञ होने के लिये, गीता अध्याय ६ की शरण लेना आवश्यक है ।

"संपदचेतना" (तत्व चिन्तन) का लक्षण गीता में पूर्ण रूप से इस प्रकार है :—

तद्-बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्य-पुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः ॥ ५-१७

जो तद्रूप हैं, जिनकी बुद्धि तद्रूप है, जिनका मन तन्मय है, जिनकी स्थिति एकीभाव में स्थित है, वे तत्परायण पुरुष **ज्ञान के द्वारा पाप रहित** होकर **अपुनरावृत्ति को** प्राप्त होते हैं ।

इस श्लोक में "ज्ञान निर्धूत-कल्मषाः" के भाव यदि, ज्ञान द्वारा निर्धूत कठिनाइयों और बाधाओं में लगा लें, तो अत्युक्ति न होगी और "अपुनरावृत्ति" को परमध्येय की प्राप्ति समझ, फिर नये सिरे से काम न करना पड़े, अर्थात् पूर्णतः अपने ध्येय की उपलब्धि कर लें।

उपर्युक्त कर्मों के अभ्यास में, कोई कठिन श्रम नहीं है। और न उसके लिये किसी त्याग की आवश्यकता है। इनको प्रयोग में लाने में किसी शिक्षा की आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु इन छः कर्मों के सफलतापूर्वक अनुष्ठान में पर्याप्त रूप से दृढ़ता की आवश्यकता है, जिससे साधक यह समझ सके कि धन संग्रह किसी घटना, सौभाग्य या किस्मत पर निर्भर नहीं है। यह अनुभूति कर लेना चाहिये कि वे सब लोग, जिन्होंने महान संपदा कमाई है, **प्रारम्भ में कुछ मात्रा में स्वप्न देखते रहे, आशा करते रहे, कामना करते रहे, इच्छा करते रहे और योजना बनाते रहे।** तब कहीं अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल हुए, कोरे राम राम नहीं जपते रहे। कार्य भी तद्रूप होकर करते रहे। जप में नाम, रूप, लीला, धाम चारों होने चाहिये।

यहाँ, यह भी जान लेना चाहिये कि आप राशि रूप में संपदा कभी भी इकट्ठा नहीं कर सकते, **जब तक ज्वलन्त इच्छा** के साथ धन कमाने में न लगें और वास्तविक रूप से यह न **विश्वास करें** कि आप उसको अधिकृत कर लेंगे।

यह भी जान लें कि सभ्यता के उदय काल से आज तक प्रत्येक महापुरुष चाहे किसी विभाग का हो, स्वप्नदर्शी ही था।

यदि आप अपनी कल्पना में महान संपत्ति राशि को नहीं देखते, तो आप उसको अपने कोष या बैंक में कभी न देख पायेंगे। कहा भी है—

"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः"

असत् का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। अर्थात् साधक के सामने सदा सत् ही होना चाहिये असत् नहीं।

हम लोगों को, जिन्हें विभूति संचय करने की इच्छा है, यह याद रखना चाहिये कि, जगत में वास्तविक महापुरुष सदा वे मनुष्य रहे, जो अव्यक्त अवसर की अदृश्य शक्तियों को प्रयोग में लाये। मनुष्य ने उन शक्तियों से अपनी कल्पना को बड़े-बड़े नगर, आकाश छूने वाले महल, कारखाने, वायुयान, आकाशवाणी यंत्र, चित्र, मोटरें, ब्रह्मास्त्र (उदजन बम) के रूप में साकार कर दिया इस साकार प्रयोग से रहन-सहन अधिक सुखदायी हो गया।

तितिक्षा और उदार हृदय ही आजकल के स्वप्नदर्शियों की व्यावहारिक

आवश्यकता है। वे लोग जो नई कल्पनाओं से भयभीत हैं, प्रारम्भ के पहले ही अस्त हो जाते हैं। वर्तमान समय की अपेक्षा और कोई समय आगे बढ़ने वालों को अधिक उपकारी नहीं रहा है। अब मनुष्यों के लिये कोई नया देश भी अधिकृत करने को नहीं रहा, जहाँ वे अपनी शक्ति को जंगलों और झाड़ियों को साफ करने में और नई बस्तियाँ, राज्य बनाने में व्यय करें। अब तो जगत में एक ही महान् क्षेत्र सामने है, जिसका निर्माण अर्थ से, उद्यम से, व्यवसाय से आविष्कार से, कला आदि से बिलकुल नये ढंग से करना है। जो इस नव निर्माण में अग्रसर हुये हैं, उनके लिये तुच्छता का भाव कभी भूलकर भी अपने मन मे न लाओ। इस परिवर्तित जगत में बाज़ी जीतने को पुराने महापुरुषों के जीवन पर ध्यान देना चाहिये, जिनके स्वप्नों ने इस सभ्य जगत को बनाया और जिनकी भावना ने हमारे देश को महान् बनाया। ऐसी ही भावना लाने का, हमारे लिये एक अपूर्व अवसर है कि हम अपनी योग्यता-क्षमता को विकास के रूप में प्रदर्शित करें।

इसी भाव को गीता में इंगित किया गया है :—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहम-व्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मुनिरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।
एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।। ४-१, २

मैंने यह अविनाशी योग सूर्य को बताया था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना। हे अर्जुन ! यह योग बहुत काल से लुप्त हो गया था।

ये ही लोग थे, जिन्होंने अपने तप, सात्विक श्रम, अथवा यज्ञार्थ कर्म द्वारा उत्कृष्ट संस्कृति की रचना कर इस महान् भारत को इतना सभ्य और संपत्तिशाली बनाया।

उपर्युक्त श्लोक से भी ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज केवल स्वप्नदर्शी ही नहीं थे। ब्रह्मा ने सृष्टि रचने का, सूर्य ने सृष्टि पालने का, इक्ष्वाकु ने प्रजा रक्षा का, मान्धाता ने राज्य विस्तार का, कश्यप ने कुटुम्ब बढ़ाने का, ऐसे ही कर्दम, दक्षादि ने, ब्रह्म ऋषियों ने ज्ञान विज्ञान के विकास का, राम ने अत्याचार दलन का, कृष्ण ने राज्य पालन और न्याय का, बलदेव ने हल के आविष्कार का, बुद्ध ने समदृष्टि का, चंद्रगुप्त ने साम्राट बनने का, अशोक ने अहिंसा का, आदि-आदि स्वप्न देखकर साकार कर दिखाया।

पाश्चात्य देशो में, भौतिक सत्ता का अधिक महत्व जानकर, कोलंबस ने नये भारत की खोज का स्वप्न देखा और उसकी खोज में अपने जीवन की बाजी लगाकर, उसको ढूँढ़ ही लिया, अपनी कल्पना को साकार बना लिया।

"सफलता को क्षमा प्रार्थना की आवश्यकता नहीं, असफलता किसी बहाने की अनुमति नहीं देती।"

(Success requires no apolgie, failure permits no alibi)

यदि कोई कर्म जो आप करना चाहते हैं, उचित या धर्मानुकूल है, और आप उसमें विश्वास करते हैं, तो आगे बढ़िये और कर डालिये। अपने स्वप्न को कार्य रूप में परिणत कीजिये और इस पर ध्यान न दीजिये कि लोग क्या कहते हैं। यदि आपको क्षणिक असफलता मिले, तो भी हार न मानिये, क्योंकि स्यात् वे लोग यह सिद्धान्त नहीं जानते हैं कि **"प्रत्येक असफलता समानरूप से अपने साथ में सफलता का बीज भी लाती है।"**

हेनरी फोर्ड ने जो निर्धन और अशिक्षित था, बिना घोड़ों की गाड़ी का स्वप्न देखा। जो कुछ भी साधन यंत्र उसके पास थे, उनकी सहायता से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया सौभाग्य के अवसर की प्रतीक्षा न की। उसका स्वप्न साकार हुआ। आज भू मंडल भर में उसके स्वप्न की गाड़ियाँ दौड़ रही हैं।

टामस एडीसन ने एक लैम्प का स्वप्न देखा, जो बिजली द्वारा प्रकाश दे सके। जिस स्थान पर वह था, वहीं से उसने अपने स्वप्न को साकार और प्रत्यक्ष करना प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् कर्म में जुट गया और सहस्त्रो असफलता मिलने पर भी, वह तब तक अपने स्वप्न पर डटा रहा, जब तक कि उसने प्रत्यक्ष भौतिक रूप में उसे साकार न बना लिया।

व्यावहारिक स्वप्नदर्शी (स्थित प्रज्ञ) कभी भागते नहीं हैं। जगत का सबसे महान् आविष्कारक और विज्ञानी एडीसन एक चलती गाड़ी में साधारण अखबार बेचने वाला था, फिर उसने तार देने का काम सीख लिया, वह सहस्त्रों बार असफल हुआ। अन्त में उसकी मेधाशक्ति, जो उसके मस्तिष्क में सोई हुई थी, जाग कर उसके स्वप्न को फलीभूत करने में सफल हुई।

लिन्कन ने मानव जाति को दासतामुक्त करने का स्वप्न देखा। उसको कार्य रूप में लाकर, दासों को मुक्ति दिलाई।

फ्रान्स के राइट भाइयों ने, ऐसे यन्त्र का स्वप्न देखा, जो हवा में उड़

सके, जिसका परिणाम यह हुआ कि, आज समस्त जगत में वायुयान उड़ते दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने अपने स्वप्न को साकार बना दिया।

इटली निवासी मारकोनी ने आकाश की स्पर्शगोचर शब्द शक्ति को नियन्त्रित करने का स्वप्न देखा, जिसके साक्षी जगत के बेतार के तार और रेडियो हैं, जो उसके स्वप्न को प्रत्यक्ष कर रहे हैं। मारकोनी के स्वप्न ने रेडियो देकर, झोपड़ी और महल को एक समान कर दिया। उसने संसार के सब राष्ट्रों को एक ही कमरे में बसा दिया। देश और काल को वश में कर दिखाया। यह जान लेना मनोरंजक होगा कि इसके कारण उसको पागल खाने और जेल की हवा भी खानी पड़ी। आजकल के स्वप्नदर्शियों को आविष्कार के लिये पहले से कहीं अधिक सुविधा है।

अब जगत नये आविष्कारों के प्रति अभ्यस्त हो गया है। यही नहीं, उसने आविष्कारकों को पारितोषिक पुरष्कार देकर अपनी स्वीकृति तथा मान्यता दे दी है।

सब से महान् सिद्धियां, उपलब्धि के पहले पहल कुछ काल के लिये केवल एक स्वप्न मात्र ही रहती हैं। बट का महान् वृक्ष एक छोटे से बीज में सो रहा है। मानो परमात्मा बाल रूप से क्षीर सागर में अपना अँगूठा चूसते हुए सो रहे हैं, उनकी सेज एक पल्लव मात्र ही है। एक बूँद में समस्त सागर भरा हुआ है। अंडे में बैठा हुआ पक्षी, निकलने का अवसर ताक रहा है। **स्वप्न ही वास्तविकता का बीज है**। इसीलिए, "उत्तिष्ठित, जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत" उपनिषदों ने कहा है। आपका नक्षत्र अब उच्च अवस्था में है। स्वतंत्र भारत को अब यह अवसर मिला है, जिसकी आप प्रतीक्षा कर रहे थे।

जगत अवसरों की बहुतायत से भरा हुआ है, जिन पर भूतकाल के स्वप्नदर्शियों ने ध्यान ही नहीं दिया। एक ज्वलन्त इच्छा और कर्म करना प्रारम्भिक विन्दु हैं, जहाँ से स्वप्नदर्शी अपनी उड़ान ले सकता है। उदासीनता और आलस्य में अथवा आकांक्षा के अभाव में स्वप्न जन्म नहीं लेते।

यह भी स्मरण रहे कि जो लोग जीवन में सफल होते हैं, उनको आरम्भ में अनेक बाधाओं से संघर्ष करना पड़ता है। मार्ग में अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। इनको झेलने के बाद ही वे अपने लक्ष्य में सफल होते हैं। इन लोगों के जीवन में भाग्य पलटने वाला क्षण जो सफलता लाता है, बहुधा संकट काल ही में आता है, जिसके द्वारा वे अपने

इष्टदेव" का दर्शन प्राप्त करते हैं। गीता में अर्जुन का विषाद, इसी दृष्टि-कोण को पुष्ट करता है और उर्दू के शायर के ये वाक्य

सितम की सह सके जो बर्छियाँ सीना उसी का है।
हर एक इन्सान का जीना नहीं जीना उसी का है।
यह बज्मे मय है यहाँ कोताह दस्ती में है महरूमी।
जो खुद बढ़कर उठा ले हाथ में मीना उसी का है।।

अर्जुन के सामने रण में यही संकटवेला आ पड़ी थी। परमात्मा ने श्री कृष्ण के रूप में आकर उसके भाग्य को पलट दिया। कहाँ तो पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना और कहाँ विपक्ष में बड़े-बड़े महारथियों के साथ कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना। बल देखते हुए पांण्डवों की हार निश्चय होनी चाहिये थी, किन्तु उनकी धृति और श्री कृष्ण के नियन्त्रण ने विजय श्री उन्हीं को दिलाई,

इसलिये अपने मन में फिर आशा, **श्रद्धा साहस और तितिक्षा** की अग्नि प्रज्वलित कीजिये। यदि आपके मन की ऐसी अवस्थायें हो जायेंगी और उन विधियों के अनुसार जो आगे कहीं जायेंगी, कर्म करने का ज्ञान आ जायेगा और आप इसके लिये **उद्यत** हों, तो आपकी इच्छानुसार सब कुछ अपने आप आपके पास आता जायेगा।

किसी वस्तु की कामना करने में और उद्यत होने में भेद है।

कोई भी किसी वस्तु के लिए उद्यत नहीं होता, जब तक यह उसे **विश्वास** न हो जाय कि वह उसे अर्जित कर सकता है। इसलिये मन की अवस्था **विश्वास से परिपूर्ण होना चाहिये**, कोरी आशा या इच्छा नहीं। विश्वास के लिए खुलामन चाहिए। संकुचित मन में श्रद्धा, साहस और विश्वास प्रवेश नहीं करते।

यह स्मरण रहे कि, दुःख और निर्धनता स्वीकार करने में जितने प्रयास या चेष्टा की आवश्यकता होती है बहुलता और संपदा की याचना में या जीवन को ऊँचे उठाने में उससे अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सैकड़ों क्या हज़ारों अथवा असंख्य घटनाओं को साक्षी बनाकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि "**कोई भी मनुष्य तब तक हराया नहीं जा सका, जब तक उसने वास्तविक रूप में हार स्वीकार नहीं कर ली।**" हिन्दी में कहावत भी है।

"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत"

इच्छा प्रकृति को मोह लेती है

मैंने उस बच्चे को, जन्म लेने के पांच मिनट बाद देखा। वह इस जगत में बिना कानों के आया और अधिक आग्रह करने पर डाक्टर ने कहा कि हो सकता है बच्चा जीवन भर बहरा और गूँगा रहे।

मैंने डाक्टर को यह धारणा को चुनौती दी, क्योंकि मैं उसका पिता था और मुझे ऐसा करने का अधिकार था। मैंने भी एक निश्चय कर लिया था और एक मत प्रतिपादित कर लिया था। उस मत को मैंने चुपचाप अपने मन ही सुरक्षित रखा। मैंने निश्चय कर लिया था कि मेरा पुत्र सुनेगा और बोलेगा। प्रकृति मुझे कान रहित पुत्र दे सकती है, परन्तु प्रकृति मुझे इस बात को मानने के लिए बाध्य नहीं कर सकती कि मैं उसे श्रवणेन्द्रिय से रहित समझूँ।

मैं अपने मन में जानता था कि मेरा पुत्र सुनेगा और बोलेगा। मैं निश्चित था कि इसका कोई न कोई मार्ग होगा। मैं जानता था कि उसे प्राप्त कर लूँगा। मुझे एमरसन (Imerson) के अमिट शब्द याद आये। विषयों का सम्पूर्ण क्रम हमें श्रद्धा सिखाने की ओर ले जाता है। केवल हमें उसकी आज्ञा पर चलने भर की आवश्यकता है। हम में से प्रत्येक के लिये एक निदर्शन का मार्ग है। ध्यान से सुनने पर धीमें शब्दों में सुनाई देगा। वह मार्ग **इच्छा** है। और सब बातों से अधिक मैंने **दृढ़ इच्छा** की, कि मेरे पुत्र को बहरा और गूँगा न होना चाहिए।

बहुत वर्ष पहले मैंने लिखा था, "हमारी भवितव्यता केवल वही है, जो हमने अपने मन मे धारण कर ली है।" यह पहला ही समय था कि मैंने इस कथन पर शंका की, कि, "क्या यह कथन सत्य था!" मेरे सामने मेरा छोटा बच्चा बिछौने पर लेटा हुआ था, जिसके कान न थे, वह भले ही सुन भी सके और बोल भी सके, पर जीवन कुरूप तो रहेगा ही। बच्चे मे यह धारणा न थी कि न सुन सकूँगा, न बोल सकूँगा।

मैं इस पर क्या कर सकता था। किसी न किसी रीति से मैं उस बच्चे के मन में अपनी **ज्वलन्त इच्छा** के प्रवेश का मार्ग ढूँढ़ने लगा। मैंने यह निश्चय कर लिया कि, ज्योंही यह बच्चा बड़ा हो जायगा, मैं उसके मन में पूर्णरूप से सुनने की **ज्वलन्त इच्छा** को भर दूँगा, जिससे प्रकृति जागृत होगी और अपना काम करेगी।

वह बढ़ता गया और अपने चारों ओर की वस्तुओं पर ध्यान देने लगा।

हमने देखा कि उसमें कुछ सुनने की प्रवृत्ति है। वह बोलने की अवस्था पर पहुँचा, पर उसने बोलने का कोई भी प्रयास नहीं किया। हम उसकी चेष्टाओं द्वारा यह कह सकते थे कि वह धीरे शब्द ग्रहण कर रहा है। यही मुझे जानना था, मुझे निश्चय हो गया कि वह थोड़ा सुन सकता है।

मैंने एक ग्रामोफोन खरीद लिया। जब बच्चे ने उसमें गाने की ध्वनि पहले-पहल सुनी तो वह उल्लसित हुआ और मशीन को अपने पास ही रख लिया। एक समय वह एक गाने में अधिक रुचि लेकर बार-बार लगभग दो घण्टे तक उसी को बजाता रहा।

बाजा हथियाने के थोड़े दिन बाद, मैंने जाना कि जब मैं उसके कान की हड्डी को छूता रहता या दिमाग के मूल में छूता तो, वह मेरे शब्द स्पष्ट रूप से सुन लेता। इस अनुभव से मुझे अपनी **ज्वलन्त इच्छा** को वास्तविक रूप में देखने का अवसर मिला, एक साधन, जिससे वह सुन सके और बोल सके। मैं इसका प्रयोग अपने पुत्र पर करने लगा, अब वह कुछ शब्दो को बोलने का साहस करने लगा। पूरी सफलता अभी दूर थी, किन्तु **इच्छा जब श्रद्धा** से पुष्टि पा लेती है, तब दूर भी निकट हो जाता है, असंभव भी संभव हो जाता है।

यह निश्चित होने पर कि वह मेरी ध्वनि स्पष्ट सुन सकता है, मैंने तुरन्त उसमें सुनने और बोलने की इच्छा का संचार करना आरम्भ कर दिया। शीघ्र ही मालूम हो गया कि सोने के समय उसे किस्से कहानी सुनने की रुचि है। मैंने ऐसी कहानियाँ गढ़ना प्रारम्भ कर दिया, जो उसमें आत्म-विश्वास, कल्पना और तीव्र इच्छा जागृत करें।

विशेष कर एक कहानी को नया रूप देकर उसे बार-बार सुनाने लगा। वह ऐसी कहानी थी, जिसमें उसमें ऐसी त्रुटि होना कोई दुःख की बात नहीं थी, अपितु एक बहुमूल्य वस्तु थी। उसमें सार वस्तु जो सिद्धान्त रूपी थी, यह थी कि **प्रत्येक आपत्ति के साथ उसका प्रतीकार भी होता है।** मैंने अपनी कहानी को ऐसा रूप दिया कि वह अपनी इस कमी को वरदान समझे। ईश्वर जो कुछ करता है, भलाई के ही लिये करता है।

बुद्धि ने तो यही कहा कि, जब उसको प्रकृति ने ही सुनने को इन्द्रिय तथा अवयव नहीं दिये तब उसकी पूर्ति का और कोई साधन नहीं है। **इच्छा की पुष्टि में श्रद्धा** ने, इस बुद्धि के निर्णय को अलग हटा कर, आगे बढ़ने को प्रोत्साहित किया।

मेरे पुत्र का विश्वास मुझ में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इसका अद्भुत

प्रभाव पड़ा। मैंने उसके मन में ऐसे विचार भरे कि अपने बड़े भाई की अपेक्षा, उसमें एक प्रत्यक्ष सुविधा है और यह सुविधा अनेक मार्गों में प्रकाशित होगी।

उदाहरण के लिये, स्कूल में जब मास्टर जानेंगे कि कानों से रहित है, तब दया के साथ वे तुम से विशेष सहानुभूति तथा पढ़ाने में अधिक देख-रेख रखा करेंगे। अध्यापकों ने वास्तव में ऐसा ही किया। उसकी माता ने अध्यापकों से मिलकर, उस पर अधिक ध्यान देने की प्रार्थना की। मैंने तो, उसके मन में यह भावना भरी कि, जब वह बड़ा हो जायगा, तो अखबार बेंचने में अपने भाई से बाजी मार ले जायगा। लोग जब देखेंगे कि इसके कान नहीं हैं, यह बड़ा परिश्रमी है, तब सहानुभूति दिखाते हुये अधिक पैसे देकर अखबार मोल लेंगे।

हमें दिखाई पड़ने लगा कि उसकी सुनने की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही है। उसका ध्यान अपनी त्रुटि पर किञ्चिन्मात्र भी नहीं हैं। जब वह सात वर्ष का हुआ, उसने हमारे उपचार पद्धति की सफलता का पहला प्रमाण दिखाया। कई महीनों से वह अखबार बेंचने की इच्छा कर रहा था, किन्तु उसकी माता उसे अनुमति नहीं देती थी, वह डरती थी कि बहरा होने के कारण सड़क उसके लिये सुरक्षित नहीं है।

अन्त में, यह विषय उसने अपने हाथ में ले लिया। एक संध्या को जब वह नौकरों के साथ घर में अकेला रह गया था, तब भोजनालय की पिछली खिड़की खोलकर बाहर निकल गया। उसने हमारे पड़ोसी से छः सेन्ट उधार में लिये, और अखबारों के मोल लेने में लगा दिये। बेंचता फिर मोल लेता। रात होने तक यही करता रहा। अपना हिसाब करके उसने उधार वाले के पैसे लौटा दिये उसको इसमें ४२ सेन्ट का लाभ हुआ। जब हम लोग रात देर से घर आये, तब हमने उसे बिछौनों पर सोया हुआ देखा। वह पैसों को जोर से मुट्ठी में दाबे हुए था।

उसकी माँ ने उसका हाथ खोला। पैसे निकाले और हर्ष से रो पड़ी। मुझ पर तो उसके इस साहस की प्रतिक्रिया अधिक हास्य और उल्लास में हुई, क्योंकि मैं जानता था कि बच्चे में **श्रद्धा** भरने का सफल प्रयास हुआ। उसकी माँ ने, उसमें साहस देखा, मैंने उसमें साहस के साथ-साथ आत्म-निर्भरता देखी। उसने आरम्भ में ही मेरी धारणा को सत्य प्रमाणित कर दिया। जब उसका बड़ा भाई कुछ चाहता था, तब वह जमीन पर लोटकर चिल्लाने-चीखने लगता था। इसे जब कुछ आवश्यकता होती, तब वह कोई

न कोई रास्ता धन कमाने का निकाल लेता और उस लाभ से आवश्यक वस्तु मोल ले लेता। अब बड़े होने पर भी उसका यही क्रम चल रहा है।

वास्तव में मेरे ही पुत्र ने मुझे सिखा दिया कि यदि अंगहीनता बाधाओं और बहानों के लिये उपयोग में न लाई जाय, तो वह किसी भी उपयुक्त ध्येय को प्राप्त करा सकती है।

यह बहरा लड़का अपने अध्यापकों के उच्च स्वर में कहे गये शब्द ही सुन सकता था, फिर भी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता हुआ, कालेज में भर्ती हो गया। हमने उसे बहरों के स्कूल में इस लिये नहीं भेजा कि उसे हम बहरा बनाना नहीं चाहते थे। इशारों की भाषा सिखाना नहीं चाहते थे। हमारा **दृढ़ विश्वास** था कि हम उसे सामान्य जीवन पर लायेंगे, चाहे कितना ही खर्च क्यों न हो।

जब वह हाई स्कूल में था। उसने एक सुनने के यंत्र का उपयोग किया, किन्तु व्यर्थ। उसके कालेज के अन्तिम काल में एक घटना घटी जिससे उसके भाग्य ने पलटा खाया और उसका जीवन सुखमय बन गया। उसे एक नया यंत्र कहीं से मिल गया, उसको भी पुराने की भाँति समझकर, लगाने में आना-कानी करने लगा। अन्त में एक दिन उसे उसके लगाने की सूझी। उसने यन्त्र को लगाकर बैटरी का स्विच खोला, जादू की भाँति उस के जीवन भर की आशा **सामान्य रूप से सुनने की इच्छा वास्तविक हो गई।** अपने जीवन में पहले-पहल जैसे और लोग सुनते हैं, वैसे ही उसने सुना। **परमात्मा रहस्यमय है—उसकी गति चमत्कारी है।**

जगत परवर्तित हो जाने के कारण अति उल्लास में टेलीफोन पर दौड़ कर उसने अपनी माता से बातचीत की। दूसरे दिन अपनी कक्षा में सामान्य रूप से अपने अध्यापक का व्याख्यान सुना। अब उस यंत्र में जो कुछ त्रुटियाँ थी, उसके लिये कम्पनी को लिखा, उन्होंने तुरन्त उसकी सम्मति का स्वागत पत्र भेजा और अपने यहाँ छुट्टियों में आने का निमंत्रण दिया। पास होने के बाद, वह कम्पनी में गया और सलाह दी। इसके परिणाम में कम्पनी ने उसे अपने यहाँ ऊँचे पद पर रख लिया।

श्रद्धा से पुष्ट इच्छाशक्ति पर मैं विश्वास करता हूँ, क्योंकि मैंने देखा है कि, इस शक्ति ने अल्पवृत्ति वाले लोगों को धनवान और शक्तिशाली अवस्था में उठा दिया है। मैंने देखा है कि पराजित हुये लोगों ने अनेक मार्गों से, इस शक्ति द्वारा फिर अपने पदों को प्राप्त कर लिया है। मैंने स्वयं अपने पुत्र का सफल जीवन देखा है, जो कानों से रहित था।

इच्छाशक्ति को कैसे अधिकृत करें और उपयोग में लायें ? इसका उत्तर इस पुस्तक के इसी अध्याय और आगे के अध्यायों में विवरण के साथ दिया गया है। यह अनुमान करना उचित होगा कि यह सन्देश उन लोगों का ध्यान आकर्षित करेगा जिनको अवसाद से क्षति पहुँची है, या जिन्होंने अपना पद खो दिया है, अथवा जिन्होंने अपनी संपत्ति घाटे में खो दी है, या जिनको अपना पद पुनः प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना है। उन लोगों के लिये यह विचार पहुँचाना आवश्यक है कि, सभी उपलब्धि, चाहे किसी उद्देश्य या स्वभाव की हो, किसी निश्चित ध्येय के लिये **तीव्र ज्वलन्त इच्छा** के साथ प्रारम्भ होनी चाहिये।

प्रकृति, विचित्र और शक्तिशाली "मानसिक रसक्रिया" द्वारा, जिसको उसने कभी भी प्रकाशित नहीं किया, तीव्र इच्छा संवेग में 'ऐसा कुछ' लपेट देती है, जो 'असंभव' शब्द को स्वीकार नहीं करता और न 'असफल' नाम की किसी वास्तविकता को ही अंगीकार करता है।

अध्याय तीसरा

श्रद्धा

इच्छा के अधिगम करने में विश्वास को दृष्टिगत करना

विभूति की ओर दूसरा सोपान

—यादृशी भावना यस्यसिद्धिर्भवति तादृशी—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषोयो यच्छ्रद्धः स एव-सः ॥ १७-३

हे भारत! सभी मनुष्यो की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है, (सत्वानुरूप अर्थात् अपनी क्षमतानुसार) यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वैसा है ।

किसी प्रमाण की उपेक्षा करते हुए, किसी बात पर विश्वास कर लेना श्रद्धा नहीं है । श्रद्धा तो फल की उपेक्षा करते हुए साहसपूर्वक किसी काम को करना है ।

श्रद्धा मन का मुख्य रसायन है । जब **श्रद्धा** विचार के स्फुरण के साथ संयुक्त होती है, तब अवचेतन मन उस विचार स्फुरण को ग्रहणकर आत्मा का समकक्ष बना देता है और फिर उसको अनन्त (Infinite Intelligence) ज्ञान (बुद्धि) की ओर संचारित करता है, जैसा ध्यानावस्था में होता है ।

मुख्य सक्रिय भावनाओं में **श्रद्धा, प्रेम और काम** (यौनि) की भावना सब से अधिक प्रबल हैं । जब तीनों का मिश्रण हो जाता है, तब ये विचारधारा को रंग देते हैं, ऐसी रंगी हुई विचारधारा तुरन्त अवचेतन मनमें पहुँचती है, जहाँ वह आत्मवत् हो जाती है । यही केवल एक रूप है, जो उत्तर देने के लिये अनन्त ज्ञान (बुद्धि) (Infinite Intelligence) को प्रेरित करता है ।

प्रेम और श्रद्धा आध्यात्मिक भावनायें हैं, जिसका सम्बन्ध परमार्थ (Spiritual) से है । काम (योनि) शुद्ध जीवात्मक (Biological) है । वह केवल शरीर से सम्बन्धित है । इन तीनों भावनाओं के संमिश्रित होने पर, मनुष्य के परिमित विचारशील मन और अपरमित ज्ञान (बुद्धि) (Infinite Intelligence) के बीच सीधा सम्बन्ध खुल जाता है ।

श्रद्धा मन की एक स्थिति है, जो आत्म प्रस्तावना के सिद्धान्त द्वारा उत्पन्न की जा सकती है अथवा प्रोत्साहित की जा सकती है। "अवचेतन मन में बार-बार संकल्प दुहराने से श्रद्धा का विकास अपने आप हो जाता है। यही केवल एक सुपरिचित विधि है।"

इस प्रकार वर्णन द्वारा कदाचित् यह विषय समझ में आ सकता है। किस रीति से मनुष्य पापकर्मी बन जाता है, इसको एक प्रसिद्ध पाप निरीक्षक ने इस प्रकार कहा है। जब मनुष्य का पहले-पहल पाप से सम्पर्क होता है, तो उसके मनमें ग्लानि उत्पन्न होती है। यदि वह उन पापों के सम्पर्क में कुछ समय तक रहता है, तो वह अभ्यस्त हो जाता है और पाप को पचा जाता है। यदि वह दीर्घकाल तक पाप करता रहता है, तो पाप को अपना अंग बना लेता है और उसी के प्रभाव मे रहता है।

यह उस कहने के समान है कि किसी विचार के संवेग को बार बार अवचेतन मन की ओर भेजने पर, उस विचार संवेग को (मन) अपना लेता है और उसी के अनुसार काम भी करने लगता है, वह विचार अभ्यास द्वारा कार्य रूप में परिणत हो जाता है। कहा भी है, "जैसा विचार, वैसा आचार।"

इस सम्बन्ध में फिर उसी कथन पर विचार कीजिये "**सभी विचार, जो भावनामय हो जाते हैं, श्रद्धा के साथ मिल जाते है,**" तुरन्त ही प्रभावशाली बनकर अपना काम आरम्भ कर देते हैं। भावनायें, जो विचारों का अंश हैं, विचारों को शक्ति, जीवन और कर्म प्रदान करती हैं। श्रद्धा, प्रेम और काम की भावनायें, जब किसी विचार संवेग के साथ मिश्रित हो जाती हैं, तब ये संयुक्त भावनायें, एक अकेली भावना की अपेक्षा, बहुत बड़ा काम कर दिखाती हैं। केवल श्रद्धा से संयुक्त विचार संवेग ही नहीं, अपितु वे संवेग भी, जो किसी पुष्ट संवेगों या भावनाओं के साथ मिले हुये हैं या और कोई भी निषेधार्थक (Negative) भावनायें या संवेग अवचेतन मन तक पहुँच सकते हैं और उस पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से आप समझ जायेंगे कि, जिस प्रकार अवचेतन मन विचार संवेग को क्रियात्मक रूप में परिणत कर देता है, उसी प्रकार वह ध्वंसात्मक विचार संवेग को भी करता है। विचार संवेग जब रचनात्मक होता है, तब वह सौभाग्य का रूप धारण कर लेता है, जब वह ध्वंसात्मक होता है, तब वह दुर्भाग्य बन जाता है। वास्तव में दुर्भाग्य और सौभाग्य की कोई सत्ता नहीं है।

लाखों मनुष्य ऐसे हैं, जो अपने को अभागा कहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि कोई विचित्र शक्ति, जिस पर उनका कोई वश नहीं, उन्हें दरिद्र और असफल बनाती है। सच तो यह है कि वे स्वयं अपने दुर्भाग्य के निर्माता हैं। उन्होंने जो ध्वंसात्मक विचार संवेग अपने मन में रख लिये, वे दुर्भाग्य या असफलता के रूप में प्रत्यक्ष हो गये। इसी भाव की झलक गीता में दिखाई पड़ती है :—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ ९.२५

देवताओं को पूजने वाले (रचनात्मक विचार) देवताओं (विभूति) को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों (ध्वंसात्मक या आसुरी विचार वाले) को प्राप्त होते हैं। मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।

ऐसे ही लोगों के मन का विश्लेषण गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया है :—"हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हांथ" अर्थात् वे स्वयं बनाये हुए दुर्भाग्य को ईश्वर प्रेरणा बताते हैं। साराश यह कि आप अपने ही ध्वंसात्मक या रचनात्मक संवेगों द्वारा मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि जो प्रयोग करेंगे, अवश्य वे संयोगानुकूल वैसा ही फल देंगे। किन्तु यह सफलता भी तभी मिलेगी जब यह संयोग श्रद्धा विश्वास और मनोयोग के सभी बातों से मिश्रित होगा।

आपको पुनः सुझाने के लिए यह अनुरूप अवसर है, जिससे आप लाभ उठा सकें। अपने अवचेतन मन में आप जिस इच्छा को स्थान देंगे, वही **इच्छा तथा विश्वास अथवा श्रद्धा** क्रियात्मक रूप से भौतिक रूप में साकार होकर सामने आ जायेंगे। आपका विश्वास अथवा श्रद्धा ही वह तत्व-स्रोत है जो आपके अवचेतन मन को प्रेरणा देता है। यदि आप आत्म प्रस्तावना द्वारा अपने अवचेतन मन को भ्रान्त करना चाहें तो आपको कोई रोक नही सकता।

इस भ्रान्त धारणा को और अधिक वास्तविक रूप देने के लिए आप अपने मन में ऐसा ध्यान कर लीजिए और उसी के अनुसार आचरण भी कीजिये, **मानों वे सब भौतिक संपत्ति जिसकी आपको वाञ्छा है पहले से ही आपके अधिकार में है,** श्रद्धा और विश्वास की अवस्था में जो आदेश अवचेतन मन (Subconcious mind) को दिया जायगा, उसका पालन वह तुरन्त करेगा और उसे वह अति सरल और व्यावहारिक माध्यम द्वारा, जो **उपलब्ध हो, साकारता में परिवर्तित कर देगा।**

यदि यह सत्य है कि कोई भी मनुष्य पाप से संसर्ग करने पर पापी हो सकता है (यह यथार्थ भी है), तो इसी प्रकार यह भी सत्य है कि, कोई भी मनुष्य श्रद्धा से संसर्ग करने पर श्रद्धालु बन सकता है। अन्त में मन, उन प्रभावों की प्रकृति को जो उस पर बल दिखा रहे हैं, ग्रहण करने को आ जाता है। इस सत्य को अवगम करिये, और तब आप जानेंगे कि असंदिग्ध (Positive) भावनाओं को आपके मन पर शासक के रूप में उत्साहित करना क्यों आवश्यक है, और संदिग्ध (Negative) भावना को निरुत्साहित व निकाल फेंकने का क्या अर्थ (तात्पर्य) हैं।

एक मन, जो असंदिग्ध या वास्तविक भावनाओं (Positve Emotions) द्वारा शासित है, उस मन की अवस्था का, जो श्रद्धा के नाम से जानी जाती है, एक अनुकूल या उचित निवास बन जाता है।

सभी युगों में धर्मावलम्बी नेताओं ने मानव जाति के प्रति श्रद्धा करने का आदेश दिया है, किन्तु किस भाँति श्रद्धा करें, यह नहीं बताया। इन लोगों ने यह नहीं कहा कि श्रद्धा मन की अवस्था है, और वह आत्मनिर्देश या आत्म-प्रस्तावना द्वारा प्रोत्साहित की जा सकती है।

जिस साधन के द्वारा श्रद्धा विकसित की जा सकती है, उसका विवेचन करना यहाँ उचित है, जिससे वे लोग भी, जिनके मन में श्रद्धा नहीं है, इस प्रकरण को हृदयंगम कर सकें :—

"अपने में (श्रद्धा रखो आत्मा में) : अनन्त (परमात्मा) में श्रद्धा रखो।"

इसके पहले कि प्रारम्भ करें फिर ध्यान दिलाया जाता है कि—"श्रद्धा एक (सनातन शाश्वत) "बलवर्धक रसायन" है, जो विचार के संवेगों को जीवन, शक्ति और क्रिया प्रदान करता है।"

इन शब्दों को बार-बार दुहराइये। ऊँचे स्वर में पाठ कीजिये।

"सभी संपत्ति संचय करने के लिए श्रद्धा ही प्रारम्भिक विन्दु है।"

"श्रद्धा ही समस्त अलौकिक चमत्कार और सभी रहस्यों का आधार है, जिसका विश्लेषण विज्ञान के नियमों द्वारा नहीं किया जा सकता।"

"श्रद्धा ही केवल असिद्धि या अवसाद के लिए जानी हुई अगद (Antidote) या विषहर है।

"श्रद्धा एक भावना है और यह वह रसायन है, जो प्रार्थना से योग पाने पर अनन्त ज्ञान (परमात्मा) या चेतन से सीधा सम्पर्क कराती है।"

"श्रद्धा वह तत्व है, जो साधारण विचार के स्पन्दन को, जो मनुष्य के

ससीम मन द्वारा रचे गये हैं, आध्यात्मिक समतुलन में रूपान्तरित कर देता है।"

"श्रद्धा ही केवल नियोजन या कारण तत्व है, जिसके द्वारा हम परमात्मा की भौतिक शक्ति को वश में करके उपयोग में ला सकते हैं।"

इन उपर्युक्त वाक्यों का प्रमाण भी अनुभव में आ सकता है।

"**श्रद्धा**, अन्धविश्वास नहीं है। यह तो, किसी आदर्श या ध्येय पर, मनोबल की एकाग्रता द्वारा आत्मानुभूति के लिये, चेष्टा करना है।"

"श्रद्धा मानवता पर आत्मा की प्रेरणा है" वह शक्ति जो मानवता की भलाई की ओर प्रवृत्त करती है, केवल ज्ञान की सुरचना में ही नहीं, अपितु धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन के समस्त क्रमों में भी।"

"श्रद्धा सत्य के अन्तस्तल का तत्व है, वह उस लक्ष्य को इंगित करता है जिस पर कालान्तर में पूर्ण प्रकाश पड़ने को है।"

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एवसः"

"श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ जगतः पितरौबन्देपार्वती-परमेश्वरौ"

प्रमाण सरल और सुगमता से प्रतिपादित हो जाता है। यह आत्मनिर्देश या प्रस्तावना की विधि में वेष्टित (लपेटा हुआ) है। यह सर्व विदित तथ्य है कि जिस तत्व को मनुष्य बार-बार अपने मन में रटा करता है, चाहे वह झूठ हो, या सत्य, अन्त में उस पर विश्वास करने लगता है। यदि एक मनुष्य बार-बार झूठ का ही व्यापार करता है तो कभी-न-कभी वह उसको सत्य रूप में भी स्वीकार कर लेता है, और असत्य में सत्य के रूप में विश्वास करता है।

मनुष्य वैसा ही होता है, जैसे **विचारों** का उस पर प्रभुत्व होता है। जिन विचारों को वह अपने मन मे स्थान देता है, उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व बनता है। मनुष्य जानबूझ कर जिन विचारों को अपने मन में स्थान देता है, सहानुभूति पाने पर उनको प्रोत्साहन मिलता है, और जब वह उनके साथ एक या अधिक भावनाओं को मिला देता है, तब वे प्रेरक शक्तियाँ बन जाती हैं, जो उस व्यक्ति की प्रत्येक गति, विधि, कर्म और चेष्टा को प्रेरित करती हैं तथा उन पर नियंत्रण रखती हैं। इसी रहस्य को भगवान ने गीता में, "यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मि" कहा है।

तुलसीदास जी इसी भाव को यों प्रगट करते हैं :—

'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।'

आप वही हैं जैसे आपके विचार हैं।

इस उपर्युक्त विवेचन से सत्य का एक महत्वपूर्ण अंश निकल आया। **जो विचार किसी एक या अधिक भावना या प्रवृत्ति से मिश्रित होता है, वह एक आकर्षक शक्ति बन जाता है, और आकाश मण्डल के स्पन्दनों से उसी प्रकार के या दूसरे सम्बन्धित विचारों को आकर्षित करता है।**

(मारण, उच्चाटन, वशीकरण प्रयोग में यही रहस्य है)

इस प्रकार आकर्षण संचारित किसी भावना या प्रवृत्ति से संयुक्त विचार की तुलना एक बीज के साथ की जा सकती है। बीज जब किसी उर्वरा भूमि में बोया जाता है, तो उगकर बढ़ पाता है और अपने समान अनेक बीजों को जन्म देता है। बीज पुनः-पुनः बोये जाते हैं। बोये हुये बीज फल देते हैं। फल देने वाले बीज संख्या तीत हो जाते हैं।

यह आकाश शाश्वत शक्तियों का एक महान पुंज है। यह विध्वंसात्मक और रचनात्मक, इन दोनों स्पन्दनों के संयोग से बना है। (Centrifugal & Centripetal)। इसमें सदैव भय, दरिद्रता, रोग, अवसाद, दुःख, अभ्युदय, संपत्ति, स्वास्थ्य, सफलता और सुख के स्पन्दन वर्तमान रहते हैं। नभमंडल में भरे हुये संगीत-समाचार-ध्वनि के समान है, इन सबका अपना व्यक्तित्व है। उनमें से मनुष्य प्रत्येक व्यक्तित्व को अपनी मनोवृत्ति के अनुसार खींच लेता है। यह तथ्य रेडियो के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्तित्व अलग-अलग है। रेडियो अपने निर्दिष्ट यन्त्र के अनुसार प्रत्येक को खींच लेता है।

इस प्रकार, इस महान आकाश भंडार से मानवीय मन निरन्तर उन स्पन्दनों को आकर्षित करता रहता है। ये स्पन्दन वास्तव में वही होते हैं जो मनुष्य के मन पर प्रभुता प्राप्त कर चुके होते हैं। कोई भी विचार, कल्पना, योजना या अभिप्राय, जो मनुष्य के मन में है, उसी प्रकार के या उससे संबन्धित स्पन्दनों को आकाश से लेकर उन्हें अपनी स्वयं की विचार शक्ति में मिला कर इतना बढ़ाता है कि वे स्पन्दन **प्रेरक** रूप से, उस पर अपना **प्रभुत्व** स्थापित कर लेते हैं। यही रहस्य मंत्र-जप और नाम जप का है, जो अनुष्ठानों में फलित हो सकता है।

अब हम प्रारम्भिक बिन्दु पर चलें और यह विदित करें कि किस प्रकार विचार, योजना, अभिप्राय का मूल बीज अपने मन में बोया जा सकता है। यह बड़ी सरल रीति से जाना जा सकता है, किसी विचार योजना या अभिप्राय की बार-बार रट लगाने से वह मन में बोया जा सकता है। इसी से आप से कहा गया है कि अपने उद्देश्य को स्पष्ट रूप से लिखिये, उसको बार-

बार दुहराइये, इस स्वर में दुहराइये कि सुनने में आये, प्रति दिन दुहराइये, जब तक वह अवचेतन मन में अपना घर न बना ले—"कबहुक दीनदयाल के, भनक पड़ेगी कान" या—

"पहुँच सका न वहां नामेबर तो दिलने कहा ।
कि और शिकवा लिखो खत में न रसाई का ॥"

हम वही है, जैसे हम अपने विचार के स्पन्दनों के कारण, जो हम अपने नित्य के वातावरण और परिस्थितियों से ग्रहण करते हैं, बनते हैं। इसलिये महापुरुष उपदेश करते रहते हैं कि आसुरी भावों को उपेक्षित या तिरस्कृत कर दैवी भावो को ग्रहण कर अपने को स्वस्थ बना कर जीवन सुखमय करो।

इसलिये आप अपनी अशुभ व अहितकर परिस्थितियों को त्याग कर देने का निश्चय करें अर्थात् आसुरी भावो को मन में न आने दें, और अपने जीवन को सुचारु बनावें। यदि अपने मानसिक खाते का देना और पावना का लेखा आप स्वयम् करेंगे, तो जान पड़ेगा कि आपकी सब से महान् दुर्बलता, आत्मविश्वास का अभाव है। यह न्यूनता या प्रतिबन्ध फेंका जा सकता है, इस प्रतिबन्ध को तोड़ कर दूर किया जा सकता है। भीरुता, आत्म-निर्देश-या प्रस्तावना के सिद्धान्तों द्वारा साहस में परिवृत्त की जा सकती है इस परिवृत्त प्रक्रिया को ही उपासना कहते हैं। वस्तुतः इसकी चेष्टा करने का नाम ही उपासना है।

उपासना की विधि वैदिक रीति से जो प्रायः सभी सम्प्रदायो में प्रयोग की जाती है, इस प्रकार है। इच्छा (भक्ति), विनियोग, संकल्प, आवाहन और कर्मकाण्ड, जप, हवनादि (कर्म)।

गीता मे संपूर्ण कर्मों के होने में पाँच कारण (Factor) कहे है :—

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध में।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व-कर्मणाम् ॥
अधिष्ठानं तथाकर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥
शरीर-वाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं व विपरीतं व पंञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १८-१३-१४-१५

हे महाबाहो ! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं। अधिष्ठान अर्थात् आधार और कर्ता तथा न्यारे न्यारे करण और नाना प्रकार की भली भाँति चेष्टा तथा पाँचवा हेतु दैव कहा गया है, इनको मेरे से भलीभाँति जान। मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल

(Positive) अथवा विपरीत (Negative) भी जो कर्म आरम्भ करता है, उसके पाँच कारण हैं।

पाश्चात्यादेशी हमारी उपर्युक्त वैदिक उपासना की विधि को पारमार्थिक व्यवहार में न लाकर, लौकिक व्यवहार में आत्म-अभिलाषा-पूर्ति-हित व्यापारिक, राजनैतिक, कलात्मक व्यवहार में एक नई प्रणाली का रूप देकर उपयोग में व्यवस्थित करते हैं :—

१. (Wish and Idea) आशय, सूझ, कल्पना। २. (Desire) इच्छा, भक्ति। ३. (Decision) विनियोग, संकल्प ४. (Faith, Persevrance) श्रद्धा, आवाहन, ५ (Organised planing) योजना, कर्मकाण्ड।

वे प्रत्येक सांसारिक कर्म में सफल होने को इसका प्रयोग सिद्धान्त रूप में मानते हैं तथा इसको अनुष्ठान रूप में करने की एक पद्धति उन्होंने बनाई है। जिसको उन्होंने आत्मविश्वाससूत्र नाम दिया है :—जिसके पाँच नियम हैं :—

पहला—मैं जानता हूँ कि इस प्राप्त जीवन में अपने निश्चित लक्ष्य के विषय की उपलब्धि करने की योग्यता या क्षमता मुझ में है (विनियोग), इसलिये मैं अपने लक्ष्य की उपलब्धि हेतु निरन्तर अपने को दृढ़तापूर्वक कर्म में लगाये रहूँगा और प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा ही कर्म करूँगा—(संकल्प)

दूसरा—मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे मन के प्रभुत्वपूर्ण विचार (Dominating thoughts) अन्त में स्वयं शारीरिक कर्म में वाह्य रूप से प्रति-उत्पत्ति पायेंगे। यही नहीं वे क्रमानुसार अपने को साकार वास्तविकता में परिवर्तित भी कर लेंगे। इसलिये मैं अपने प्रभुत्व पूर्ण विचार को आध घण्टे के लिये नित्य प्रति केन्द्रीभूत करके एकाग्र करूँगा। जिस विचार के अनुरूप मैं अपने को बनाना चाहता हूँ मैं उसका अभ्यास करूँगा उसमें मैं अपने को तन्मय करूँगा। ऐसा मैं इसलिये करूँगा ताकि मेरे मानसिक पटल पर मेरे प्रभुत्वपूर्ण विचार का स्पष्ट चित्र खिंच जावे।

तीसरा—मैं आत्म-प्रस्तावना के सिद्धान्त द्वारा जानता हूँ कि, कोई भी कामना, जिसको मैं अपने मन में साग्रह लिये हुये हूँ (ग्रहण किये हूँ), अन्ततः किन्ही व्यावहारिक साधनों द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेने में व्यक्त हो जायेगी। इसलिये, मैं अपना १०

मिनिट का समय नित्यप्रति अपने **आत्मविश्वास** के विकास में लगाने को स्वयं से **याचना** करूँगा। (श्रद्धा-कर्म)

चौथा—मैंने स्पष्ट रूप से अपने जीवन के **मुख्य निश्चित लक्ष्य को** लिख लिया है। और मैं सदैव प्रयत्न करने में तत्परता के साथ संलग्न रहूँगा, जब तक पर्याप्त रूप से आत्मविश्वास प्राप्ति का विकास मुझ में न हो जायगा। (दृढ़ासन)

पाँचवाँ—मैं पूर्ण रूप से प्रतीति लाता हूँ कि कोई भी संपदा या पद स्थायी संस्थिति में नहीं रह सकता, जब तक कि वह सत्य और न्याय की नीव पर निर्मित न हुआ हो। इसलिये मैं ऐसे किसी व्यवहार या कर्म में अपने को न लगाऊँगा, जो सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को लाभ न दे सके। (धर्मोमहान्, जगद्धिताय)। मैं उन शक्तियों को, जिनको मैं उपयोग में लाना चाहता हूँ, अपने में आकर्षित करके सफल होऊँगा। मैं दूसरों को अपनी सेवा करने के लिये प्रोत्साहन दूँगा, क्योंकि मैं दूसरों की सेवा करने में तत्पर रहता हूँ (परस्पर भावयन्तः)। मैं ईर्षा, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, अहंकार और कुटिलता का नाश कर दूँगा। मैं जानता हूँ कि दूसरों के प्रति नकारात्मक भाव में सफलता कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। मैं दूसरों का विश्वासपात्र बनूँगा, क्योंकि मैं उनमें विश्वास करता हूँ और अपने में भी। ईश्वर मेरा सहायक हो।

मैं इस सूत्र को आत्मसात् कर लूँगा। सदा इसको ध्यान में रखूँगा और दिन में एक बार उच्च स्वर में इसको दुहराऊँगा। इस दुहराने मे अपनी पूरी **श्रद्धा** लगा दूँगा, जिससे वह सूत्र मेरे **विचारों** और **कर्मों** पर प्रभाव डाले, जिससे मैं **आत्मविश्वासी** बन सकूँ तथा आत्मनिर्भर हो सकूँ।

इस उपर्युक्त सूत्र की आधारशिला प्राकृतिक नियम हैं। इन नियमों का रहस्य कोई भी मनुष्य अभी तक नहीं खोल सका है। सभी युगों के वैज्ञानिक इसके खोलने में भग्नाश रहे। मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि को "आत्म प्रस्तावना" का नाम दिया है। गीता में इसको (सूक्ष्म रूप को) "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि", इसीलिये कहा है। और आजकल के महात्मा नाम कीर्तन पर इसीलिये अधिक आग्रह करते हैं (परन्तु नाम के पूर्ण तत्व को नहीं समझाते)।

इस सूत्र को याद करके, दिन में एक बार तो अवश्य उच्चारण कर लेना चाहिये। आशा है कि यदि पूर्ण श्रद्धा के साथ इसका मनन एवम्

उच्चारण किया गया तो क्रमशः यह आपके विचारों और कर्मों पर प्रभाव डालकर आपको आत्मविश्वासी और सिद्ध व्यक्ति बना देगा, कहा भी है, "यो यदिच्छति तस्य तत् ।"

इस विषय में महत्व की बात यह है कि, यदि यह रचनात्मक भाव से प्रयोग में लाया जाय, तो यह मनुष्य की कीर्ति और सफलता मे कारगर होगा। दूसरी ओर यदि यह विध्वंसात्मक रूप से उपयोग में लाया गया, तो तुरन्त ही नाश कर देगा, अर्थात् आत्मघातक हो जायगा। परमहंस रामकृष्ण देव जी कहा करते और उपदेश दिया करते थे कि, "**अपने को पापी पतितादि कहकर कभी न संबोधन किया करो**। जो आत्म-प्रस्तावना के सिद्धान्त के कारण नकारात्मक (Negative) भाव को उपयोग में लाते हैं, वे उसी सिद्धान्त के अनुसार अवश्य हार पाते हैं और दरिद्रता, दुःख और क्लेशादि भोग कर अपने जीवन का अन्त करते हैं। इसका यह तथ्य है कि, "**सभी विचार उद्वेगों में भौतिक रूप में धारण करने की या साकार होने की प्रवृत्ति अनुपात रूप से है**।" हमारे महापुरुषों ने संध्या करने की यही विधि बताई है और मारण, मोहन, उच्चाटन का निषेध किया है, अर्थात् रचनात्मक को प्रोत्साहन दिया है, विनाश को निषिद्ध ठहराया है।

यह अवचेतन मन, जो एक रासायनिक प्रयोगशाला है, जिसमें सभी विचार संवेग एकीभूत होते हैं और भौतिक वास्तविकता मे रूपान्तर होने को तत्पर रहते हैं, रचनात्मक और विध्वंसात्मक विचार संवेगों मे कोई भेद-भाव नहीं रहता। यह तो जैसे हम धारणा करते हैं वैसा ही कर्म हमारे विचार संवेगों द्वारा बनता है। अवचेतन मन किसी **भय भावना** या विचार को वास्तविकता में उसी प्रकार परिवृत्त, करेगा, जिस प्रकार वह एक **साहस** और **श्रद्धा** से प्रेरित विचार को अविलम्बित रूप से वास्तविकता मे परिवृत्त करता है।

यह उक्ति उतनी ही सत्य है, जितनी दो और दो चार होते हैं, कहना। उपर्युक्त तथ्य को भगवान् ने गीता में यों स्पष्ट किया है :—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स-तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन-मीहते ।
लभते च-ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥ ७-११-१२.

जो जो सकामी भक्त जिस जिस देवता को **श्रद्धा** से पूजना चाहता है, उस भक्त की **श्रद्धा** को मैं उस ही **देवता** के प्रति स्थित करता हूँ। वह पुरुष अपनी **श्रद्धा** युक्त भावना से इष्टदेव के पूजन की चेष्टा करता है, और उस

देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निसन्देह प्राप्त करता है।

जैसा ऊपर कह आये हैं कि आत्मविश्वास-सूत्र के मूल में प्राकृतिक नियम है, जिसका रहस्य अभी तक कोई भी मनुष्य नहीं जान सका। वह इन श्लोकों से स्पष्ट खुल जाता है कि भगवान ही इसके प्रेरक हैं। इन श्लोकों के अर्थ में देवता शब्द सांप्रदायिक भाव मे लिया गया है, अथवा पारमार्थिक भाव में, परन्तु भगवान ने केवल "तनुम्" शब्द ही कहा है, जिसका मैं यह भाव लेता हूँ कि जिस रूप की (आर्थिक, कलात्मक, आविष्कार, व्यवसायादि) आराधना साधक श्रद्धा से करता है, अर्थात् चेष्टा करता है, उसकी **श्रद्धा** को मैं वैसी ही सिद्धि देता हूँ, यह रचनात्मक भाव है। (अर्थात् Positive भाव) परन्तु :—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥७-२३

उन अल्पबुद्धि वालो का यह फल नाशवान है, देवताओ को पूजने वाले दिव्यता को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि व्यष्टि की उपासना अस्थायी ही रहती है। इसीलिये यह नाशवान कही गई है। यदि समष्टि हित मे उपासना की जाती है, तो वह अवश्य स्थायी हो जाती है। [मेरा तात्पर्य यह है कि व्यष्टि (सकाम स्वार्थ) उपासना उस पुरुष के जीवन तक या एक दो पीढ़ी तक फल देती है, परन्तु समष्टि उपासना जन्म जन्मान्तर तक फलदायी होकर ऐतिहासिक बन जाती है] इसलिए रचनात्मक भाव (Positive) लेकर ही कर्म करना चाहिए, न कि ध्वंसात्मक भाव (Negative) से। इसको फिर गीता में इस प्रकार व्यक्त किया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ४-३०४०

संयमित इन्द्रियों वाला तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है, ज्ञान को प्राप्त कर तत्क्षण परम शान्ति को प्राप्त होता है। अज्ञानी तथा श्रद्धा रहित और संशययुक्त पुरुष भ्रष्ट हो जाता है, संशययुक्त पुरुष के लिये तो न सुख है, न यह लोक है न परलोक है,।

उपर्युक्त श्लोक से सुपुष्ट रचनात्मक भाव (Poisitive) और नकारात्मक भाव (Negative) पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाते हैं और उनका फल भी विदित हो जाता है। यदि आप अपने मन में भय सन्देह और अपनी क्षमता में अविश्वास का प्रभाव भर देंगे, और इस भाव का सम्पर्क **अनन्तज्ञान** से कराकर उपयोग में लायेंगे तो आत्मप्रस्तावना का नियम इस भाव को आदर्श रूप में ग्रहण कर लेगा और अवचेतन मन इसे भौतिक साकारता में परिवर्तित कर देगा। जैसा ऊपर कहा गया है यह उक्ति उतनी ही सत्य है, जितनी दो और दो चार। जिस ओर को आप अपनी नाव के पाल को लगायेंगे, उसी ओर आप की नाव जायगी, यह आप पर निर्भर है उत्तर जाइये या दक्खिन।

आपके मस्तिष्क में पराक्रम का बीज सोया हुआ पड़ा है, जो यदि जाग्रत किया जाय और कर्म में लगाया जाय, तो वह आपको ऐसे उन्नति के स्तर पर ले जायगा, जिसकी उपलब्धि की आपको कभी आशा न थी।

जिस प्रकार कुशल वीणावादक वीणा के तारों में सोते हुए स्वरों को जगाकर झंकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आप भी अपने मस्तिष्क में सोई पड़ी प्रतिभा को जगाकर अपने लक्ष्य-प्राप्ति का साधन निकाल सकते हैं।

अब्राहम लिन्कन ने चालीस वर्ष की अवस्था तक, जो भी काम किया, उसमें वह असफल रहा, "धोबी का कुत्ता घर का न घाट का", लोकोक्ति उस पर चरितार्थ होती थी। अकस्मात् उसके जीवन में एक महान् अनुभूति हुई, जिसने उसके मस्तिष्क में सोती हुई प्रतिभा अथवा मेधाशक्ति को जगा दिया, जिस शक्ति ने जगत को वास्तविक रूप में, एक महान् व्यक्ति प्रदान किया, वह उसकी अनुभूति शोक और प्रेम भावना से मिश्रित थी, जो उसको एक मात्र महिला एनी रुटलेज द्वारा मिली, जिसको वह बहुत प्यार करता था।

यह सुपरिचित तथ्य है कि प्रेम भावना का मन की स्थिति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, जो श्रद्धा के नाम से जाना जाता है। अनेक हेतुओं में प्रेम ही, जो भक्ति का आधार है, ऐसा मुख्य हेतु है, जो विचार संवेगों को आध्यात्मिक रूप देने में सबसे आगे रहता है। अपने अनुसंधान के कार्यकाल में नेपोलियन हिल ने सैकड़ों महापुरुषों के जीवन-क्रम और सफलता या सिद्धियों का विश्लेषण करके यह खोज निकाला कि, अधिकांश की पृष्ठभूमि पर नारी प्रेम का ही प्राधान्य था। प्रेम भावना मनुष्य के हृदय और

मस्तिष्क में, एक कल्याणकारी, चुम्बक की भाँति, आकर्षण क्षेत्र रचती है। इस आकर्षण क्षेत्र में आकाश मंडल में विचरने वाले उच्च और उज्ज्वल स्पन्दनों को आकर्षित कर लेने की अदम्य क्षमता होती है।

"श्रद्धा प्रेम लक्षणा" नारद-सूत्र के अनुसार, जब श्रद्धा शुद्ध प्रेम से सम्पर्क स्थापित कर लेती है, तब वह भक्ति का रूप धारण कर लेती है। भक्ति ही महान् आकर्षण-शक्ति है, जो भगवान् को भी आकर्षित कर लेती है अर्थात् आकर्षण-शक्ति के वश में भगवान् भी हो जाते हैं। यही आकर्षण शक्ति जब इच्छा-शक्ति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, तब वह प्रेरक-शक्ति बन जाती है। यही प्रेरक-शक्ति पुरुष को विभूतिमान् बनाती है। कार्य-क्षेत्र की विभिन्नता से इसी प्रेरक-शक्ति का भिन्न-भिन्न नामकरण हो जाता है। सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती ब्रह्मा से सृष्टि रचाती है। पालन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी विष्णु से सृष्टि का पालन कराती है। संहार की अधिष्ठात्री काली महाकाल शिव से सृष्टि का संहार कराती है। सीता रूपी शक्ति ने राम से रावण का सहार करवाया, द्रौपदी रूपी शक्ति ने पाण्डवों से कौरवों का संहार करवाया। सारांश यह है कि शक्ति ही पुरुष की प्रेरक है।

श्रद्धा का जीता-जागता प्रमाण, उन विभूतिमानी का जीवन है, जिन्होंने संसार में सिद्धि प्राप्त कर यथेष्ट यश, धर्म तथा धन अर्जित किया है। इनमें राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि प्राचीन काल के और बुद्ध, ईशा, मुहम्मद आदि मध्यकाल के और लिन्कन, फोर्ड, बिस्मार्क, ग्लेडस्टोन, लेनिन आदि अर्वाचीन काल के हैं। इन्हीं की श्रेणी में महात्मा गाँधी भी आते हैं।

इस महापुरुष ने, **श्रद्धा** शक्ति से जो असाधारण कर्म किये उनसे सभ्य जगत परिचित है। इस काल के जीवित पुरुषों की अपेक्षा **महात्मा गांधी** में अद्भुत शक्ति थी, यह शक्ति एक मात्र **श्रद्धा** से प्राप्त हुई। महात्मा गाँधी के पास न धन था, न बल, न युद्ध सामग्री। वे लोकदृष्टि में अकिंचन थे। वे एक मात्र **श्रद्धा** के धनी थे। करोड़ों भारतीयों की उन पर अटूट श्रद्धा थी। **यह श्रद्धा ही उनका बल** था, जिससे उन्होंने विदेशियों को भगाकर भारत को स्वतन्त्र किया। यह अद्भुत पराक्रम दिखाना बड़ी से बड़ी सेना के लिये भी दुरूह था।

यदि देखा जाय तो, **श्रद्धा और प्रेम** का आदर्श जिस गृहस्थ में रहता है, वह गृहस्थ विभूतिमान् भले ही न हो, परन्तु शान्ति और सुख की विभूति तो उसने प्राप्त कर ही ली है। क्योंकि जब पति-पत्नी दुःख-सुख में एक दूसरे

का साथ देता है, तब स्त्री शक्तिरूपा बन जाती है, अन्यथा जिस घर में पृथक्-पृथक् भावनायें होती हैं, वे ही गृहस्थ क्लेश, दरिद्रता और कष्ट भोगते हैं तथा असफल जीवन व्यतीत करते हैं। भाव यह है कि शक्ति का सहयोग ही जीवन की सफलता है और असहयोग असफलता।

इस विश्लेषण से व्यापारी और श्रमिक भाइयों को भी लाभ उठाना चाहिये और **श्रद्धा** शक्ति से होने वाली सफलताओं पर ध्यान देना चाहिये। वे दिन लद गये जब बल और भय से लोगों को काम पर लगाया जाता था और अपनी स्वार्थ सिद्धि को प्रधानता दी जाती थी। अब इसमें सुधार के दिन का उदय हुआ है। अब तो केवल **श्रद्धा** तथा सहयोग से ही कार्य सिद्धि होगी। जो मनुष्य श्रम करेगा, वह अवश्य अपने वेतन से अधिक पायेगा, वह व्यापार के लाभ में भी भागीदार होगा ? परन्तु श्रमिक को भी अपने **कर्तव्य** पर अटल रहकर अपने श्रम से मालिक को अधिक से अधिक देना होगा। श्रमिक और मालिक का परस्पर मधुर सम्बन्ध ही **सुख और सन्तोष** लाता है।

व्यवसाय और उद्यम के काम चलाने में **श्रद्धा** और सहयोग की आवश्यकता होती है। यह तथ्य, इस घटना से विदित हो जायगा, जिसमें किस प्रकार व्यवसायियों और उद्योगपतियों ने पहले जो खोल पूँजी लगाकर यथेष्ट लाभ उठाने का प्रयत्न किया, और महान् संपत्ति की राशि लाभ में एकत्र की।

यह घटना सन् १६०० की है, जब यूनाइटेड स्टेट स्टील-कारपोरेशन बनाया गया। इस वृत्तान्त को पढ़ने में मूल तथ्यो को ध्यान मे रखें, तब आप समझ जायेंगे कि किस प्रकार एक साधारण सूझ बूझ महान् संपत्ति में परिवर्तित हो गई।

पहले पहल महान् यूनाइटेड स्टेट स्टील कारपोरेशन, एक **सूझ** के रूप में मिस्टर श्वाब (Schwab) के मन में उपजी थी। जिसकी रचना उन्होंने अपनी **कल्पना** द्वारा की थी। **दूसरे**, उन्होंने अपनी **सूझ** के साथ **श्रद्धा** को मिश्रित किया। **तीसरे**, उन्होंने एक **योजना** का रूप देकर अपनी सूझ का पार्थिव और आर्थिक वास्तविकता में लाने को, **विधिसूत्र** बनाया। **चौथे**, वह अपनी योजना को, अपने प्रसिद्ध व्याख्यान के साथ जो उन्होने university club में दिया था, कार्य में लाया। **पांचवें** उन्होंने अपनी योजनानुसार **दृढ़ाग्रह** के साथ अनुकरण किया, और अपने **दृढ़ निश्चय** से, जब तक वह

पूर्ण रूप से कार्यान्वित न हो गया, पोषित किया। उसने सफलता के लिये, एक **ज्वलन्त इच्छा** द्वारा मार्ग बना लिया।

उस क्लब के बड़े मंडप में राष्ट्र के अस्सी (८०) प्रतिष्ठित धनी सज्जन, श्वाब को मान देने के हित, निमन्त्रित किये गये थे। इन अतिथियों में छः को भी यह प्रतीति नहीं थी कि हम लोग अमेरिका के उद्योग के इतिहास में, सबसे बड़े महत्व के प्रसंग के साक्षी होंगे।

जान एडवर्ड स्मिथ और चार्ल्स स्टीवर्ट, जब कारनेगी के लोहे के कारखाने को देखने गए थे, तब वहाँ श्वाब ने उनकी बड़ी आवभगत की, और उसकी बातों से प्रभावित होकर, स्वयं उन्होने यह समारोह आयोजित किया था। उनको किंचिन्मात्र भी आशा नहीं थी, कि श्वाब का निमंत्रित विशिष्ट व्यक्तियों पर कुछ भी प्रभाव पड़ेगा, इसीसे उन्होने श्वाव को सचेत कर दिया था कि थोड़ा बहुत भोजन के पश्चात् उत्तर में जो कुछ कहना हो कहकर आयोजन समाप्त कर देना।

जान पियरपोइन्ट मारगन, जगत का सबसे बड़ा धनाध्यक्ष भी आया था। वह श्वाब के दाहिने बैठा था। जहाँ तक जनता और समाचार पत्रों का सम्बन्ध था, उस समय इस घटना को कोई महत्व नहीं दिया गया। किसी का इस ओर ध्यान नहीं गया कि यह आयोजन किस निमित्त किया गया था।

भोज समारोह की समाप्ति में श्वाब का व्याख्यान सुनकर, जान एकवर्ड स्मिथ, स्वीवर्ट, मारगन, स्टिलमेन, हेरीमेन, वान्डरविन्ट आदि उत्साहित होकर उछल पड़े, और अरबों डालर के शिशु, "यू-स्टे-स्टो-आ" का (U.S.S.G.) बीजारोपण हुआ।

श्वाब के व्यक्तित्व का जादू पूर्णरूप से काम कर गया। इस समारोह का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा स्थायी पक्ष इस्पात उद्योग की उन्नति के लिये एक विशद कार्यक्रम को प्रस्तुत करना था। उनके सामने वह योजना श्वाब ने अपनी कल्पना से प्रस्तुत किया था। दूसरे अनेको ने धनकुबेर मारगन को इस इस्पात योजना की अपेक्षा दूसरे उद्योग जैसे बिस्कुट, तार, पत्ती, शक्कर, रबर, ह्विस्की, तेल आदि का संघ बनाकर एकाधिकार प्राप्त करने की सम्मति दी, किन्तु मारगन ने किसी की नहीं सुनी। श्वाब की वाक्पटुता उसको इतना ऊँचे उठा ले गई जहाँ से वह बड़ी सरलता से अर्जित धन का भंडार ही भंडार देखने लगा।

श्वाब का १२ दिसम्बर १६०० का भाषण, यद्यपि एक प्रण नहीं था, तथापि निःसन्देह वह एक ऐसी युक्ति थी, जिसमें कारनेगी के विस्तृत लोह

कारखाने मारगन के हाथ में आ जाने की संभावना थी। इस्पात उत्पादन की कार्य-क्षमता में सुधार किया जाय, उसमें विशेषता लाई जाय, असफल कारखानों को तोड़ दिया जाय। जो लाभप्रद कारखाने हैं, उनको बढ़ाया जाय, कच्चे माल के उत्पादन में, निर्माण तथा उसकी देख-रेख में, शासन में, कम खर्च किया जाय, विदेशी बाज़ारों को अपने हाथ में कर लिया जाय।

एक सप्ताह सोंचने विचारने के पश्चात्, मारगन इस परिणाम पर पहुँचा कि श्वाब की योजना लाभदायक है, इसलिये उसने उसे बुलाया।

चार सज्जन रात भर आँकड़ों को जाँचते रहे और तर्क वितर्क के अन्त में इस परिणाम पर पहुँचे कि यदि कारनेगी अपना लौह कारबार बेचे तो उसे मारगन मोल ले लेगा।

सौदा चार अरब डालर में तय हुआ, संसार का सबसे बड़ा स्टील संघ स्थापित हुआ, सहज ही में, थोड़े दिनों के समय में शेयरों को बेचकर, सब भागीदारों ने करोड़ों डालर प्राप्त किये। कारखाना ६ अरब डालर का कूता गया था।

अड़तीस वर्ष के श्वाब को अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति का पारितोषिक मिल गया। वह उस संघ का अध्यक्ष बन गया। यह उदाहरण यह सिद्ध करता है कि दृढ़ इच्छा शक्ति भौतिक संपत्ति में परिवर्तित की जा सकती है। दूसरे शब्दो में श्वाब की **सूझ ने श्रद्धा** के साथ मिल कर मारगन को साठ करोड़ ६०,००,००,००० डालर का लाभ कराया।

"विचार के रूप में ही सम्पत्तियाँ हैं"

इसलिये **श्रद्धा** का विकास करना मुख्य और उसका साधन आत्म प्रस्तावना है, जो अगले अध्याय में मिलेगी।

अध्याय चौथा

आत्म-प्रस्तावना

विभूति की ओर तीसरा सोपान

आत्म-प्रस्तावना शब्द सभी प्रस्तावों के लिए लागू होता है, और सभी स्वयं प्रवृत्त उद्दीपनों पर भी लागू होता है, जो पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मन में पहुँचते हैं। दूसरे रूप में यह स्वयं आदेश है। यह संयोजक के रूप में दोंनों के बीच सन्देश-वाहक है, मन के उस अंश को, जहाँ से विचार उत्पन्न होते हैं, और उस अंश को जो अवचेतन मन के लिये कर्म करता है दोनों को सम्पर्क सूत्र प्रदान करने में आदेश-वाहक का कार्य करता है।

मनुष्य के मन में रहने वाले शासक विचारों द्वारा (चाहे वह रचनात्मक (. ositvie) हों या ध्वंसात्मक (Negative) आवश्यक नहीं) आत्म-प्रस्तावना का सिद्धान्त स्वयं अवचेतन मन में पहुँच कर उन विचारों के साथ उसको प्रभावित करता है।

कोई विचार चाहे वह निश्चित हों या अनिश्चित (Posititte Negative हों) **अवचेतन मन में, विना आत्म-प्रस्तावना की सहायता के,** उन विचारों के अतिरिक्त जो अतीत से ग्रहण कर लिये जाते हैं, **नहीं पैठ सकते।**

दूसरे रूप में, समस्त इन्द्रियजन्य संस्कार या अनुभव जो पाच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अवगम किये जाते हैं, **विवेक शील चेतन मन** द्वारा या तो रोक लिये जाते हैं या अवचेतन मन में भेज दिये जाते हैं, या उसी क्षण त्याग दिये जाते हैं, जैसी इच्छा हो, इसीलिए चेतन शक्ति अचेतन मन मे पहुँचने के लिए एक प्रहरी के रूप में है।

प्रकृति ने मानव शरीर इस प्रकार रचा है कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो भी विषय उसके अवचेतन मन तक पहुँचता है, उस पर उसको **पूर्ण अधिकार है**, किन्तु बहुत सी परिस्थितियों में वह उसको उपयोग में नहीं लाता, यही कारण है कि मनुष्य जीवन में निर्धनता भोगता है।

यहाँ फिर उस बात को पुनः दुहराना आवश्यक है कि अवचेतन मन **ऐसा उर्वर क्षेत्र है** कि यदि उसमें उन्नतिशील बीज न बोया जाय और

समय पर न निराया जावे, तो अनेक प्रकार का घास-पात बहुतायत से उग सकता है। यह आत्म-प्रस्तावना ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने अवचेतन मन में रचनात्मक भाव वाले बीजो को बो सकता है या उपेक्षाशील स्वभाव होने पर ध्वंसात्मक बीजों को उर्वर उद्यान में पड़े रहने की अनुमति दे सकता है।

पिछले इच्छा के प्रसंग में जो इष्ट प्राप्त करने की विधि बताई है [पन्ना २२] उसकी पुनरावृत्ति कम से कम दिन में दो बार स्पष्ट ऊँचे शब्दों में नित्य करनी चाहिये, और अपने मन में ऐसी दृढ़ धारणा बना लेनी चाहिये कि इष्ट सिद्धि ही हो गई है, अर्थात् मन में ऐसा ही भान करना चाहिये कि मानो यह उपलब्धि हो गई है। इस प्रकार अपनी अभिलाषा के संस्कार की छाप आप अपने **अवचेतन मन पर** पूर्ण **श्रद्धा** से लगायेंगे। इस विधि को बार-बार दुहराने द्वारा आप स्वयं अपना विचारशील स्वभाव बना लेंगे, जो आपकी इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने में लाभदायक होगा।

ध्यान रहे कि कोरे उच्च उच्चारण से ही कोई परिणाम फलीभूत न होगा, जब तक उसके साथ आपकी **भावनाएँ** न मिली होंगी। (कोरा राम-राम जपने से कोई फल नहीं होता है, जब तक कि उसमे पूर्ण मनोयोग और भक्ति भावना न मिली हो)। यह तत्व गायत्री अनुष्ठान में भी प्रतिष्ठित है। ज्यों-ज्यों दिन-प्रतिदिन आप अपने में प्रतीति का भान करते जायेंगे **श्रद्धादेवी** आपकी सहायता और पुष्टि करती जायगी !

आपका अवचेतन मन उन्हीं विचारों को स्वीकार करता है और कर्म में परिणत करता है, जिनमें उद्वेग और भावनायें मिश्रित रहती है। इसी को कबीरदास जी रटा करते थे—"जाग री मेरी सुरति सुहागिन जाग।" आप कोई भी रुचिकर फल नहीं प्राप्त कर सकते, जब तक कि आप विश्वास को अपने विचारों में भली-भाँति ओत-प्रोत करके भावनामय न बना लेंगे।

यदि आप पहले कुछ दिनों के लिए प्रयत्न करने पर भी अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण न कर सके, तो हतोत्साह न होइये। यहाँ यह ध्यान रहे कि ऐसी कोई सम्भावना नहीं है "**कुछ नहीं के लिए कुछ हो**" अर्थात् "**किंचित अकिंचित के लिये हो**। यहाँ तो उपलब्धि को कर्मक्षमता चाहिये और अवचेतनमन को प्रभावित करना महत्वपूर्ण कार्य है, जो आपको करना ही पड़ेगा और उसके लिए कुछ न कुछ चुकाना ही पड़ेगा। आप इस विषय में छल, यदि आप चाहें भी, नहीं कर सकते। अवचेतन मन को प्रभावित करने के **लिये निरन्तर दृढ़ाग्रह** ही उत्कृष्ट साधन है,

इसी तत्व को गीता में इस भाँति कहा है :—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृति-गृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपिचिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ६—२५, २६

क्रम-क्रम से उपरामता को प्राप्त होवे तथा (धृतियुक्त = दृढ़ाग्रह) धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा मन को अपने में स्थिर करे, कुछ चिन्तन न करे।

चंचल मन जिस ओर दौड़ता है, वहाँ से उसे रोक कर अपने वश में करे।

अवचेतन मन को प्रभावित करने का मूल्य ही धृति अर्थात् सदा साग्रह दृढ़ता के साथ मन को वश मे करना है। आप इससे कम मूल्य में विकास नहीं कर सकते हैं। स्वयं **आपही** को निर्णय करना चाहिये कि अपने इष्ट की उपलब्धि के प्रयास में यह मूल्य देना उचित है या नहीं।

आत्म प्रस्तावना सिद्धान्त का प्रयोग, अधिकतम आपकी क्षमता और **मन एकाग्र** (एक किसी निर्दिष्ट इच्छा पर)करने मे आपकी धारणा-शक्ति पर निर्भर है, जब तक कि आपकी आकाक्षा या इच्छा पूर्ण रूप से एक **ज्वलन्त आवेशमयी** न बन जावे। मन एकाग्र करने की विधि भगवान् ने इस प्रकार गीता में बताई है :—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन-कुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्म-विशुद्धये ॥
समंकायं शिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६-११,१२,१३
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगीनियत-मानसः।
शान्तिं निर्वाण-परमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६-१५

शुद्ध भूमि में उत्तरोत्तर कुश, मृगछाला और वस्त्र से अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा कर स्थिर बैठे। उस आसन पर बैठ कर मन को एकाग्र कर चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे। काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुये दृढ़ होकर अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे अन्य दिशाओ को न देखे तब इसका फल क्या है। इस प्रकार

अपने को निरन्तर (इष्ट की कामना में) लगाता हुआ, मन को स्वधीन करने वाला योगी मेरे में (अपने इष्ट कामना में) स्थित पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

इस अभ्यास में अनियमित न होना चाहिये।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति-स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहार-बिहारस्य युक्त-चेष्टस्यकर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ ६-१६-१७

यह योग न तो बहुत खाने वाले का और न बिलकुल न खाने वाले का तथा न अति सोने वालेका न अत्यन्त जागने वाले का सिद्ध होता है। यथा योग नियमित आहार और बिहार करने वाले का तथा कर्मों में नियमित युक्त चेष्टा करने वाले तथा नियमित सोने जागने वाले के दुःखों का नाश करने वाला योग सिद्ध होता है।

और योग मार्ग की बाधाओं से भी सचेत रहना चाहिये :—

ध्यायतोविषयान्पु सः संगस्तेषूप-जायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धि-नाशात्प्रणश्यति॥२-६२, ६३

विषयो का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों मे आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना मे विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव (अविवेक) उत्पन्न होता है और मूढ़ता से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति भ्रमित होने से बुद्धि का नाश होता है, बुद्धि नाश होने से अपने साधन से गिर जाता है। यही भाव गौतम बुद्ध के दुःख निरोधगामनी-पथ का है]

कोई भी कार्य हो, परमार्थ या स्वार्थ, इसमें मन की एकाग्रता अनिवार्य है। अपने ध्येय के अतिरिक्त अन्य विषयों मे मन को जाने देना ही कार्य सिद्धि को निष्फल कर देना है। इसमें तो **एकाग्रता, धारणाशक्ति और दृढ़ाग्रह** अपने कार्य में **श्रद्धा और विश्वास** के साथ लगे रहना ही सिद्धि लाता है। एकाग्रता तथा धारण-शक्ति से ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है :—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २-६१

उन संपूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण (इष्ट के) होवे क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश मे होती हैं उसी की बुद्धि स्थिर होती है। इसलिये भगवान् सचेत करते हैं :—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनिहरन्ति प्रसभं मनः ।। २-६०

कौन्तेय ! यत्न करते हुये भी बुद्धिमान पुरुष के मन को यह प्रथमन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती है। इसलिये ऐसी मन की एकाग्रता होनी चाहिये :—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गा-नींव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। २—५८

जब, यह पुरुष, कछुआ जैसे अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही सब ओर से इन्द्रियों को इम्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है—

इस भाँति अन्तःकरण शुद्ध होकर मनुष्य :—

रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। २—६४

स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष रागद्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रयों द्वारा विषयों को भोगता हुआ प्रसन्नता को प्राप्त होता है—

ऐसी अवस्था सहज स्वभाव की हो जाती है कि सभी विषयों को जैसी उसकी इच्छा हो भोगकर प्रसन्नता प्राप्त करता है अर्थात् उन विषयो मे आसक्त न होकर आचरण करता है और (प्रसन्नता प्राप्त करने पर) :—

प्रसादेसर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। २—६५

प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता प्राप्त होने से, साधक के सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि भली-भाँति स्थिर हो जाती है।

इस प्रकार आत्मप्रस्तावना अर्थात् जप-यज्ञ आपकी कार्यक्षमता पर अधिकाश निर्भर है, और आपकी एकाग्रता की योग्यता **उस कामना, आकांक्षा और अभिलाषा पर निर्भर है जो ज्वलन्त हो।**

जब आप उन छः नियमों को जो पृष्ठ २२ में दिये गये हैं प्रारम्भ करते हैं, तब यह आवश्यक है कि **एकाग्रता के सिद्धान्त** को उपयोग में लायें।

एकाग्रता के फलोत्पादक उपयोग **के** लिये **यहाँ आपको कुछ सुझाव देना**

उचित होगा। जब आप पहले उन छः नियमों (पृष्ठ२२) का अभ्यास प्रारम्भ करने लगें—जिसका पहला नियम यह है 'आप अपनी कामना को मन में निश्चित कर लीजिये—और यदि वह कामना अर्थ सिद्धि से सम्बन्धित हो तो निश्चित संख्या स्थिर कर लें! यदि परमार्थ हो तो भी निश्चित हेतु स्थिर कर लेना आवश्यक है। उस इष्ट पर अपने विचारों को एकाग्रता द्वारा केन्द्रित कीजिये या अपनी आँखें बन्द कर उस पर ध्यान लगाइये। यह ध्यानावस्था उस समय तक रहनी चाहिये जब तक आप उस इष्ट को साकार रूप में देख न लें। कम से कम यह क्रम दिन में एक बार अवश्य करना चाहिये। जैसे-जैसे आप इस अभ्यास को करेंगे और श्रद्धा के अध्याय में दिये गये आदेशों का भी पालन करते जाँयगे तो इष्ट को अपने हाथ में आया ही हुआ देखेंगे।

यह बड़े महत्व का तत्व है कि अवचेतन मन सदैव दिये गये आदेशों को **पूर्णश्रद्धा** के साथ ग्रहण कर लेता है। यही नहीं वह उस आदेशानुसार ही कर्म करता है। कभी-कभी उन आदेशों को, ग्रहण करने के पहले उसकी सिद्धि के लिये बार-बार दुहराना भी पड़ता है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार आचरण करते हुये संकल्प के प्रति विश्वास करने के लिये अपने अवचेतन मन को विवश करना चाहिये। जिस धन कोष की आप कल्पना कर रहे हों, वह आपके पास होनी ही चाहिये। आप स्वयम् देखेंगे कि यह धन पहले से ही आपकी प्रार्थना की प्रतीक्षा कर रहा है। अवचेतन मन को, आपके संकल्पनिष्ठ धनराशि के अर्जन के लिये व्यावहारिक योजना देनी ही होगी।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस विचार को अपनी कल्पना के हाथ में दीजिये और देखिये **कल्पना** क्या कर सकती है या आप की इच्छा का रूपान्तर द्वारा धन संचय करने या इष्ट प्राप्त हित कोई व्यावहारिक योजना बनाने का प्रयास करेगी।

किसी भी ऐसी निश्चित योजना के लिये **न ठहरिये**, जिसके द्वारा आप अपनी सेवाओं या वाणिज्य को बदल कर, धन कोष या इष्ट को दृष्टिगत करना चाहते हैं। आपको चाहिये कि आप उस धन कोष या इष्ट को अपनी क्षमा कल्पना शक्ति से हस्तगत देखना तत्क्षण प्रारम्भ कर दीजिये। **याचना और आशा रखे** हुए इसी अवान्तर (समय) में आपका अवचेतन मन कोई न कोई योजना या योजनायें, आपकी आकांक्षा की पूर्ति के निमित्त आपके हाथ में दे देगा। इन योजनाओं के लिये सतर्क रहिये, और जब वह उद्भूत

हो, तो तुरन्त कर्म में नियोजित कीजिये। जब योजना उद्भूत होती है, जो संभवतया स्फुरण या विद्युत कंप के समान अतीत से इन्द्रिय-जन्य से परे, एक आभास के रूप में आती है। इस आभास को सीधा अतीत से तार मे आया हुआ सन्देश ही समझिये। इस पर आदर के साथ भरोसा कीजिये और जैसे ही आपको मिले, उस पर तुरन्त कर्म करना आरम्भ कर दीजिये। इसमें ढील करना आपकी कामना के लिये घातक होगा।

[ऊपर का विषय सम्भव है गीता के दसवें अध्याय के दसवें श्लोक की पूर्णतः स्पष्ट व्याख्या हो जिसमें "ददामि बुद्धि-योगंतं" शब्दों पर विशेष ध्यान देकर अर्थ का अवगम करिये तथा अभिज्ञान शाकुन्तल में इसी भाव का वर्णन किया है :—

"सतां हि सन्देह-पदेषु वस्तुषु प्रमाण मन्तः-करण-प्रवृत्तयः"

जब किंकर्तव्यता की समस्या सामने उपस्थित होती है तब सन्तों का अन्तः करण निर्णय कर देता है]

बाइसवें पन्ने में नियम के चौथे क्रम में, आपको बताया गया है; "अपनी मनोकामना हित एक निश्चित योजना बनाइये और कार्य करना तुरन्त प्रारम्भ कर दीजिये।" इसको जैसा ऊपर कहा गया है या वर्णन है, कार्य रूप में परिणत कीजिये। अपने तर्क-वितर्क पर भरोसा न कीजिये। जिस समय आप अपनी इच्छा के रूपान्तर द्वारा योजना बना रहे हों, आपका विचार दोषपूर्ण हो सकता है। आपका तर्क-वितर्क, हो सकता है, आलस्य पूर्ण हो। यदि आप पूर्ण रूप से इस तर्क-वितर्क पर विश्वास करेंगे, तो हो सकता है निराशा ही हाथ लगे। जब आप अभिलषित कोष या इष्ट को (आँखें मूँदे हुए) दृष्टिगत करते हैं तो, स्वयं यह विचारिये कि इस अर्थ के बदले में आप क्या सेवा या वाणिज्य द्रव्य देना चाहते हैं। यह बड़े महत्व की बात है।

आदेशों का संक्षेप

जब आप इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं, तब तथ्य यह बताता है कि आप ज्ञान प्राप्त करने को उत्सुक हैं। और यह भी सूचित करता है कि आप इस विषय के जिज्ञासु हैं या विद्यार्थी हैं। यदि आप केवल विद्यार्थी हैं, तो ऐसा हो सकता है कि जो आप जानते नहीं थे, उससे अधिक ज्ञान प्राप्त करें, परन्तु यह केवल नम्रता के भाव द्वारा ही सम्भव हो सकता है [शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वं प्रपन्नम्]

यदि आप इसमें कुछ आदेशों का तो अनुकरण करना चाहें और दूसरे कुछ का अनुकरण अस्वीकार करें या उपेक्षा करें तो, आपके हाथ कुछ न लगेगा। संतोषपूर्ण परिणाम प्राप्त करने के लिये तो, सभी आदेशों का पूर्ण श्रद्धा से पालन करना होगा।

दूसरे अध्याय में छः नियमों के विषय में जो आदेश दिये गये हैं, उनको इस अध्याय के नियमों के साथ मिश्रित कर संक्षेप में इस प्रकार प्रगट किया गया है—

पहला—किसी एकान्त स्थान पर जाकर (या रात को सोते हुये बिछौने पर) जहाँ आप को किसी प्रकार की बाधाओं की आशंका न हो, आखें बन्द कर लिखित संपदा की निश्चित संख्या या हेतु जो आप चाहते हों उसके संचय की अवधि और उसके बदले में जो सेवा अर्थात् काम या वाणिज्य द्रव्य देना चाहते हों पूरे विवरण के साथ, उच्च स्वर में दुहराइये। जिस समय इन आदेशों का पालन करते हों, उस समय **अभिलिषित धन राशि या इष्ट को अपने हाथ में आया हुआ देखें।**

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि आपने पाँच वर्ष में पचास हजार धन इकट्ठा करने का इरादा किया है और उस धन की प्राप्ति के बदले आप अपनी निजी सेवाएँ एक विक्रेता (Salesman) के रूप में देना चाहते हैं। आपका लिखित वक्तव्य निम्न रूप का होना चाहिये—

पहली जनवरी १९६७ तक मेरे पास पचास हजार रुपये हो जायेंगे। इस राशि की पूर्ति के लिये बीच-बीच में छोटी-छोटी रकमें आती रहेंगी। इस राशि के बदले मैं अपनी पूर्ण क्षमता लगा दूँगा, यह क्षमता इस राशि के मूल्य के बराबर होगी। विक्रेता में जो सबसे अधिक योग्यता होती है, उस योग्यता को मैं, इस राशि को एकत्र करने में लगा दूँगा।

(१) मुझे दृढ़ विश्वास है कि यह राशि मेरे हाथ में होगी। मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि मेरी आँखों के सामने इस धन का ढेर लगा है। इसे मैं अपने हाथ से छू सकता हूँ। यह रकम मेरे पास आने के लिए ठहरी हुई है। मैं जितना काम करूँगा उतनी ही रकम मेरे पास आती जायगी, मैं एक ऐसी योजना की प्रतीक्षा में हूँ, जो इस राशि को एकत्र करेगी। उसी योजना के अनुसार मैं काम करता जाऊँगा।

(२) अपनी अभिलषित धन राशि को जब तक तुम आँखों के सामने देख न लो, तब तक रात दिन अपना मन उस पर केन्द्रित कर लो।

(३) अपना लिखित वक्तव्य ऐसी जगह रखो, जहाँ तुम्हारी दृष्टि रात दिन पड़ती रहे। सोते समय, उठते समय उसे पढ़ते रहो, यहाँ तक कि वह आत्मसात् हो जाय (याद हो जाय)

इन आदेशों का पालन करते समय ध्यान में रखो कि आप आत्म-प्रस्तावना के सिद्धान्त का प्रयोग अपने अवचेतन मन पर कर रहे हैं—उसको आदेश दे रहे हैं। यह भी ध्यान में रखिये कि अवचेतन मन **केवल** उन्हीं आदेशों के अनुसार काम करेगा, जो भावना से लिप्त और सहृदय दिये गये होंगे! **श्रद्धा** सबसे अधिक बलवान् तथा उत्पादक भावना है। श्रद्धा पर जो अध्याय लिखा गया है, उसका अनुसरण कीजिये।

संभव है कि यह आदेश आरंभ में दुर्बोध जचें, इनको अपने उद्देश्य में बाधक न बनने दीजिये। आरम्भ में ये आदेश, चाहे दुर्बोध लगें चाहे अव्यावहारिक, इसकी ओर ध्यान न दीजिये। यदि आप लगन के साथ कर्त्तव्यनिष्ठ होकर इन आदेशों का पालन करेंगे, तो वह समय शीघ्र ही आयेगा, जब शक्ति का सारा नया ब्रह्माण्ड आपके सामने खुल जायगा।

नई विचारधारा में प्रत्येक मनुष्य को स्वभावतः सन्देह होता है। यदि आप निर्दिष्ट पथ का अवलम्बन करेंगे, तो आपका सन्देह शीघ्र ही विश्वास का रूप धारण कर लेगा और यह तुरन्त ही बदले में **पूर्ण श्रद्धा** का रूप धारण कर लेगा। तब आप उस विन्दु में पहुँचेंगे जहाँ से आप वास्तविक रूप से कह उठेंगे कि, "मैं ही अपना भाग्य विधाता हूँ, मैं ही अपनी आत्मा का नायक हूँ।"

बहुत से दार्शनिकों ने कहा है कि मनुष्य अपने ऐहिक भाग्य का विधाता है, परन्तु उनमें से अधिकांशों ने यह स्पष्ट नहीं किया कि क्यों वह अपना ऐहिक भाग्य विधाता है। इस अध्याय मे वह कारण स्पष्ट बता दिया गया है, जिससे मनुष्य विभूतिमान हो सकता है और ऐहिक विधाता के रूप में धनकुबेर तक बन सकता है। मनुष्य में **अपने अवचेतन मन को प्रभावित करने की शक्ति है,** इससे वह अपना प्रभु बन सकता है, अपने वातावरण को नियन्त्रित कर सकता है।

आप इस समय जिस अध्याय को पढ़ रहे हैं वही इस दर्शनशास्त्र की कुञ्जी है। यदि आप अपनी इच्छा को, धन के रूप में देखना चाहते हैं, तो इस अध्याय में जो पथ प्रदर्शन किया गया है, उसका अनुसरण **दृढ़ आग्रह के साथ** करें। इस दृढ़ाग्रह में ही संकल्प की सफलता निहित है।

अवचेतन मन को आत्म प्रस्तावना द्वारा प्रभावित करना ही, इच्छा को

धन के रूप में परिवर्तित करने का एकमात्र साधन है। अन्य साधन तो ऐसे उपकरण मात्र हैं, जिनका सम्बन्ध आत्म-प्रस्तावना के साथ जोड़ा जाता है। इस विचार को सदा अपने मन में केन्द्रित रखना चाहिये। आत्मा की प्रमुखता को ध्यान में रखना चाहिये क्योंकि यही वह प्रमुख प्रणाली है जो आपको धन-संपन्न बनाने में सहायक होती है। बाल हृदय से इन आदेशों का पालन कीजिये। बालक—विश्वास—श्रद्धा से अपने मन को लबालब भर लीजिए।

प्रति रात्रि में संपूर्ण अध्याय को ऊँचे स्वरों में पढ़िये, जब तक आपको पूर्ण प्रतीति न हो जाय कि आत्म-प्रस्तावना का सिद्धान्त शुद्ध और अगाध है! जो कुछ आप चाहते हैं, वह उपलब्ध करेगा। जैसे-जैसे आप पढ़ें, वाक्यों पर आपका ध्यान अधिक आकर्षित हो, उनके नीचे रेखा खींच दीजिये।

उपर्युक्त आदेशों का पालन विधिपूर्वक करने से, अनन्त ज्ञान का मार्ग आपको दिखाई देगा और सफलता के सिद्धान्तों पर आपका प्रभुत्व स्थापित हो जायगा।

●

पाँचवाँ अध्याय

बुद्धि-योग अर्थात् विशिष्ट-ज्ञान

विभूति संपदा की ओर चौथा सोपान

भगवान् ने गीता में पहले सांख्य मार्ग के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया, तब अन्त में अर्जुन से कहा :—

एषा तेऽभिहिता सांख्येबुद्धिर्योगेत्विमांश्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्ध' प्रहास्यसि ॥
नेहाभिक्रम-नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धि रेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ २-३९ऽ४१

हे पार्थ ! यह तुझे सांख्य ज्ञान के विषय में बताया गया, अब बुद्धि-योग को सुन। इस योग में आरम्भ बीज का नाश नहीं है और उलटा फल रूप दोष नहीं होता। इस योग में **धर्म** का थोड़ा भी साधन महान् भय से उद्धार कर देता है। हे अर्जुन, निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। जो स्थितप्रज्ञ नहीं है, उनकी बुद्धियाँ बहुत शाखा वाली अनन्त होती हैं।

प्रथम श्लोक (२-३९) में कर्मबन्ध शब्द के भाव यदि इस प्रकार से समझे जायें कि कर्म के अन्तर्गत किसी भी कठिनाई, व्यवधान या विरोध को बुद्धि युक्त पुरुष सुगमता से सुलझाकर उनका नाश कर डालता है। दूसरे श्लोक (२-४०) में धर्म शब्द के भाव को इस प्रकार लें, "किसी भी कार्य को कर्त्तव्य रूप में ग्रहण किया जाय तो, अर्थ और भी स्पष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक तो साधारण ज्ञान या बोध, जैसे आग छूने से जल जायेंगे आदि-आदि, जो सभी मनुष्यों और जीवों में सहजात पाया जाता है। दूसरा है उपलब्ध ज्ञान। सहज ज्ञान, चाहे जितने परिणाम या विशेषता का हो, धन उपार्जन के लिये उपयुक्त नहीं है। विश्वविद्यालयों के विभाग अनेक ज्ञान-विज्ञान के शास्त्रों से सभ्यता को सिखाने के लिये भरे पड़े हैं, परन्तु अधिकांश अध्यापक निर्धन या किंचित् सम्पन्न हैं। वे शिक्षा के

सम्बन्ध में विशेष ज्ञान रखते हैं, परन्तु उस ज्ञान को कार्य रूप में परिणत करना वे नहीं जानते।

कोरा ज्ञान **सिद्धि संपदा** की उपलब्धि नहीं करा सकता, वह उचित रूप से व्यवस्थित और चतुरतापूर्वक **अपने निश्चित ध्येय के हेतु कर्म-योग** द्वारा उपयोग में न लाया जाय। इसी तथ्य को भगवान ने गीता में कहा है :—

योगस्थ:कुरु, कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वाधनंजय।
सिद्ध्यसिद्धयो: समोभूत्वा समत्वं योगउच्यते॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा: फल-हेतव:॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसुकौशलम्॥ २-४८-४९-५०

हे धनंजय! आसक्ति को त्याग कर सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर, समत्व भाव ही योग नाम से कहा जाता है। बुद्धि-योग से कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये हे धनंजय! बुद्धि का आश्रय ग्रहणकर, क्योंकि फल की वासना वाले अत्यन्त दीन हैं। बुद्धियुक्त पुरुष सुकृत और दुष्कृत दोनों को त्याग देते हैं, इससे तू योग की चेष्टा कर। योग, कर्म करने में कुशलता का नाम है।

उपर्युक्त विश्लेषण से भाव स्पष्ट हो जाता है। कोई भी कर्म हो यदि पुरुष व्यसनों से अलिप्त होकर एकाग्रचित से उसे करता है, तो सिद्धि अवश्य होगी। बुद्धि से कर्म को तुच्छ इसलिये माना है कि, एक तो मनुष्य में फल की वासना ही बाधा है, दूसरे वासना होने से कर्म करने की कुशलता को भूल जाता है। इसलिये चाहे भला हो, या बुरा कर्म करने के कौशल का ही नाम योग है।

इस तथ्य की समझ का अभाव ही करोड़ों पुरुषों को भ्रम में डाले हुए है। प्राय: अज्ञानवश अपनी अक्षम्य असत्यता के कारण लोग यह चिल्लाया करते हैं कि "ज्ञान ही बल है" [Knowledge is power]। अधिकांश तो मात्र चिल्लाते नहीं वरन् विश्वास भी करते है। ऐसा कुछ नहीं है। ज्ञान केवल उपपन्न शक्ति है। वह बलवान तब होता है, जब कर्म की एक निश्चित योजना में व्यवस्थित किया गया हो और एक निश्चित ध्येय की ओर लाया गया हो। चाहे वह अर्थ के हेतु हो या परमार्थ के हेतु।

आजकल की शिक्षा पद्धति में यही कड़ी निकली हुई है, जो विद्या की

शिक्षा में असफलता का कारण है। "शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उसे किस प्रकार व्यवस्था और उपयोग में लाना," वह नहीं जानता।

बहुत से लोग यह मानकर भूल करते हैं कि हेनरी फोर्ड में विद्या बहुत थोड़ी थी, वह शिक्षित पुरुष नहीं था। जो ऐसी भूल करते हैं, वे हेनरी फोर्ड को नहीं जानते और न शिक्षा के वास्तविक अर्थ को समझते हैं। यह शब्द अंग्रेजी में (Educate) लातिन भाषा के "एडिको" शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ बाहर निकालना या अन्दर से अपना विकास करना है। हिन्दुस्तानी भाषा में कहावत है, "पढ़े नहीं कढ़े तो हैं"। 'कढ़' शब्द, लातिन 'एडिका' शब्द का ठीक अर्थ बताता है।

एक शिक्षित मनुष्य में यह आवश्यक नहीं है कि साधारण और विशेष ज्ञान बहुतायत से हो। शिक्षित मनुष्य वह है, जिसने अपने मन की क्षमता का इस प्रकार विकास कर लिया हो कि जैसा वह चाहे या जो कुछ भी वह चाहे उसे वह बिना दूसरों के अधिकारों में बाधा डाले हुये, उपार्जित कर ले। गीता में बहुतेरों का यही मत 'योग' शब्द के अर्थ में है। अर्थात् करने की युक्ति अथवा कुशलता या चतुराई, भगवान् के वाक्य "योगः कर्म-सुकौशलम्," या अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग है, के आधार पर है।

उदाहरण के लिये लीजिये—महायुद्ध के काल में, एक समाचारपत्र ने अपने अग्रलेख में हेनरी फोर्ड को अज्ञानी तथा अपढ़ घोषित कर दिया। फोर्ड ने अपवाद लगाने वाले पर मान-हानि का दावा अज्ञान व अपढ़ प्रमाणित करने के लिये कर दिया। प्रतिवादी के वकील ने अज्ञान व अपढ़ प्रमाणित करने के लिए अनेकों प्रश्न फोर्ड से टेढ़े-सीधे पूछे, जैसे बेनडिल आर्नोल्ड कौन था, इंगलैण्ड ने कितनी सेना सन् १७७६ में विद्रोह दबाने के लिये अमेरिका भेजी आदि आदि। फोर्ड ने उत्तर दिया मैं नहीं जानता कितनी सेना भेजी गई। मैंने सुना है बहुत सी आई थी। अन्त में ऐसे प्रश्नों से थक कर विशेष रूप से एक कटु प्रश्न पर उसने कहा, "यदि मुझे आपके ऐसे मूर्खतापूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना ही चाहिये तो, सूचनार्थ बताना चाहता हूँ कि मेरी मेज पर बिजली के बटनों की लाइन लगी हुई है। उपर्युक्त बटन को दबाते ही मैं ऐसे पुरुष को बुला लेता हूँ, जो मेरे किसी भी प्रश्न का उत्तर विषय में पूर्णतः प्रमाण के साथ दे सकता है। अर्थात् वह पारांगत या मनीषी (Master mind) व्यक्ति है। "मैं ज्ञानी ही नहीं, ज्ञानियों का मालिक हूँ।" अब आप कृपा करके मूर्खतापूर्ण प्रश्न न कीजिये और समझ जाइये। इसी युक्ति पर प्रतिवादी के वकील को चुप होना पड़ा।

इस उत्तर ने प्रतिवादी के वकील को धराशायी कर दिया। न्यायालय में जितने भी मनुष्य थे, सब को मानना पड़ा कि यह उत्तर किसी अज्ञानी व्यक्ति का नहीं है, अपितु एक शिक्षित व्यक्ति का है। निःसन्देह इस उत्तर में एक सुन्दर तर्कपूर्ण विद्वत्ता थी।

कोई भी पुरुष जो, यह जानता है कि उसकी आवश्यकता के लिये कहाँ से ज्ञान उपार्जन करना होता है और उस ज्ञान को किस प्रकार कर्म के एक निश्चित ध्येय के हेतु व्यवस्थित किया जाता है, वह शिक्षित व्यक्ति ही है। फोर्ड ने अपने-अपने विषय के मनीषी अर्थात् पारंगत विद्वानों को अपने यहाँ नौकर रखा था इस समुदाय को उसने Master mind Group का नाम दे रखा था इसी गुण के कारण वह अमेरिका का सबसे बड़ा धनी व्यक्ति हुआ। यह आवश्यक नहीं था कि वह विषय का ज्ञान स्वयम् रखता हो।

इसके पूर्व कि आप अपनी इच्छा को द्रव्य सम्बन्धी समतुलन में परिवर्तित करने में अपनी क्षमता की ओर से निश्चिन्त हो सकें। सेवा, व्यापार या उद्यम जिसमें आपका उद्देश्य हो, उसको सम्पदा के बदले में देने को तैयार रहें। आपको उस **विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा** अवश्य करनी होगी। सम्भव है आप में जितनी योग्यता है, उससे अधिक विशिष्ट ज्ञान की चाह हो, या उसके उपार्जन की रुचि हो, यदि यह सत्य है तो, अपनी दुर्बलता या कमी को 'मनीषी' (Master mind) समुदाय की सहायता द्वारा पूरी कर सकते हैं।

एन्ड्रू कारनेगी ने कहा था कि, मैं स्वयं लौह व्यापार के विषय में कुछ भी नहीं जानता। वह स्वयं विशेषरूप से उसके जानने की परवाह भी नहीं करता था। विशिष्ट ज्ञान जो कुछ भी उसको मिल सका, वह मनीषी समुदाय (Master mind group) की एक वैयक्तिक इकाई से प्राप्त हुआ।

महान् सम्पदा के संचय करने में शक्ति की आवश्यकता है, और वह शक्ति एक उत्तम व्यवस्थित और बौद्धिक रूप में प्रयोग किये हुये विशिष्ट ज्ञान द्वारा उपार्जन की जाती है, किन्तु वह ज्ञान उस मनुष्य के अधिकार में, जो अर्थ संचय कर रहा है, होना आवश्यक नहीं है। उसे तो बुद्धि की ही शरण लेनी होगी।

टामस एडीसन ने अपने जीवन के केवल तीन ही महीने पाठशाला में व्यतीत किये। उसमें शिक्षा का अभाव नहीं था और न वह निर्धन ही मरा।

हेनरी फोर्ड केवल छठीं कक्षा तक पढ़कर रह गया, परन्तु उसने आर्थिक रूप में अपने को सुचारु रूप से व्यवस्थित किया था।

उपर्युक्त उदाहरण को ध्यान में रखिये, क्योंकि स्यात् अपनी पढ़ाई बहुत थोड़ी होने कारण आप अपने में हीनता की भावना का अनुभव कर रहे होगे। यदि ऐसी भावना हो भी तो उसे निकाल देना चाहिये। उपर्युक्त विवेचन उन लोगों को आशा दिलाता है, जिनमे कुछ थोड़ी भी आकांक्षा है। यह ठीक है कि मनुष्य कभी कभी हीन भावना के कारण अपने को शिक्षित पुरुष न समझने के कारण कष्ट उठाते हैं, जो व्यक्ति मनीषी समुदाय (Master mind group) का संचालन कर सकता है और जिसमें लाभकारी अर्थ-संचय करने का ज्ञान है, वह उनसे अधिक शिक्षित व्यक्ति है जो उसके नीचे काम करते हैं, वे चाहे कितने ही पारंगत क्यो न हो।

विशिष्ट ज्ञान बहुत से लोगो में है और यह सबसे सस्ती सेवा है जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है। यदि इस पर संदेह करते हो तो विश्वविद्यालयों के परीक्षोत्तीर्ण छात्रो की सूची देखिये। बहुत से छात्र विज्ञानों के अनेक भागों से उत्तीर्ण हुये होते हैं, क्या सभी पण्डित मान लिये जाते हैं ? उनमें से अधिकाश ऐसे होते हैं जो परीक्षाफल के साथ ज्ञान बेचना चाहते हैं। यह ज्ञान किस **प्रकार मोल लिया जाय**, यह जानना लाभकारी है।

पहले आप निर्णय कीजिये कि किस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान चाहते हैं और किस उद्देश्य के लिये इसकी आवश्यकता है। अधिकांश दशाओं में, आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य ही जिसके लिये आप कर्म कर रहे हैं, यह निश्चय करने मे सहायता देगा कि कौन से ज्ञान की आपको आवश्यकता है। इस निश्चय के तय हो जाने के साथ अब आपको ढूँढ़ना है कि किस स्थान और कहाँ से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। गीता-काल में तो मनीषी समुदाय (तत्वदर्शीजन) वनो में एकान्त में रहकर ऐसी शिक्षा दिया करते थे, जैसी भगवान श्रीकृष्ण ने दी है :—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व-दर्शिनः॥ ४-३४

इसलिये दण्डवत प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्नों द्वारा उस ज्ञान को जान लेने के बाद वे तत्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

आजकल आश्रम तो हैं नहीं इसीलिये आज ऐसे ज्ञान के मूल स्रोत इस प्रकार हैं :—

(१) स्वयं निज के अनुभव और शिक्षा (कुल परम्परा का व्यवसाय)

(२) दूसरों के सहयोग द्वारा शिक्षा और अनुभव [इसमें तत्वदर्शी-जनों की कृपा भी है]

(३) विद्यालय और विश्वविद्यालय।

(४) सार्वजनिक पुस्तकालय, पुस्तकों और सामयिक लेखों द्वारा, जिनमें सभी प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता द्वारा पुस्तकाकार हो गये हैं।

(५) विशेष शिक्षा माध्यमों द्वारा, जैसे आजकल सायं पाठशालायें, अनेक शिल्पों के लिये खुली हैं।

जब ज्ञान उपार्जित हुआ है, तब किसी व्यवहारिक योजना के द्वारा एक निश्चित उद्देश्य की ओर उसको प्रयोग में लाना चाहिये। एक उपयुक्त परिणाम के लाभ में उसको प्रयोग में लाने के अतिरिक्त ज्ञान का और कोई मूल्य नहीं है, जो प्राप्त हो सके। यही कारण है कि विश्वविद्यालयों की उपाधियाँ बहुमूल्य नहीं समझी जाती हैं। वह और कुछ नहीं केवल कोरा ज्ञान बताती हैं। संसार को **पढ़े लोग** नहीं अपितु **कढ़े लोग** चाहिये।

इसी विषय पर, अपने कार्य-क्षेत्र में सबसे बड़ी उद्योग कम्पनी के अध्यक्ष ने विद्यालय के प्रधानाध्यक्ष मिस्टर मूर को इस भाँति लिखा था। "हमारी रुचि उन पुरुषों को प्राप्त करने में है, जो असाधारण रूप से कार्य नियन्त्रण में उन्नति कर सकते हों। इसी कारण हम विशेष शिक्षा को आधार न मान कर उसकी अपेक्षा लोगों के चरित्र के गुणों में बुद्धि और व्यक्तित्व पर अधिक आग्रह करते हैं।"

अपने-अपने व्यवसायों में सफल लोग अपने मुख्य उद्देश्य अथवा व्यापार या व्यवसाय से सम्बन्धित विशेष ज्ञान उपार्जन में कभी विराम नहीं लेते। जो लोग सफलता नहीं पाते वे बहुधा अन्धविश्वास के कारण भूल करते हैं। वे समझते हैं कि विद्यालयों से उत्तीर्ण होने के पश्चात् अतिरिक्त ज्ञान उपार्जन करना शेष नहीं रहा। सत्य तो यह है कि पाठशालायें आपको मात्र मार्ग ढूँढ़ने के ज्ञान की शिक्षा देती हैं। किस प्रकार व्यावहारिक ज्ञान का उपार्जन किया जा सकता है इसकी शिक्षा शायद नहीं होती। जो भी हो आजकल का समय तो विशिष्टता का है। विशिष्ट ज्ञानो जन ही अधिकांश अपेक्षित हैं।

प्रायः लोगों में एक दुर्बलता होती है, जिससे निकलने के लिये कोई उपाय नहीं है। यह विश्वव्यापी दुर्बलता उच्चपद आकांक्षा का अभाव है। जिसके लिये भगवान् इस प्रकार उपदेश करते हैं :—

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्यकुतः सुखम्॥ २-६६

अयुक्त पुरुष के बुद्धि नहीं होती, अयुक्त के भावना भी नहीं होती। **बिना भावना वाले** पुरुष को शान्ति भी नहीं मिल पाती फिर शान्ति-रहित को सुख कैसे हो सकता है, [यहाँ भावना से ऐश्वर्य प्राप्ति हित आकांक्षा अथवा पदोन्नति की भावना समझने से आशय स्पष्ट हो जाता है]

वे लोग जो विशेष रूप से अपने अवकाश का समय पदोन्नति के लिये अध्ययन में लगाते हैं, कदाचित् ही दीर्घकाल तक नीचे पद पर पड़े रहते हैं। अर्थात् शीघ्र ही अपनी पदोन्नति कर लेते हैं, क्योंकि उनकी वह चेष्टा ऊपर चढ़ने का मार्ग खोल देती है। वे ऐसे लोगों के सम्पर्क का लाभ उठाते हैं, जो अवसर आने पर उन्हें सहारा देकर ऊपर उठा देते हैं। इसलिये विशिष्ट ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना लाभकारी है।

जो लोग केवल इस विचारमात्र से आगे अध्ययन करना समाप्त कर देते हैं कि उन्होंने विद्यालय से पदवी प्राप्त कर ली, अब कुछ शेष नहीं रहा, वे सदा के लिये आशा रहित सामान्य दशामे पड़े रहते हैं। उनका चाहे कोई भी व्यवसाय या उद्यम हो उसमे वे विशेष प्रगति नहीं कर पाते। वस्तुतः सफल होने का मार्ग तो निरन्तर ज्ञान-अनुशीलन का मार्ग है।

उदाहरणार्थ, एक व्यक्तिगत निदर्शन पर विचार कीजिये :—

बाजार में मंदी होने के कारण एक बिसातखाने व परचून की दुकान का एक दुकानदार नौकरी से अलग कर दिया गया। थोड़ा बहुत हिसाब-किताब, मुनीमगीरी, जानने के कारण उसने जमा खर्च की नई प्रणाली और दफ्तरों के आवश्यक संयोजन विधियो का अध्ययन कर हिसाब-किताब लिखने का अपना एक अलग ढंग का व्यवसाय खोल लिया। जिसके यहाँ वह नौकरी करता था, पहले उसी की दुकान का हिसाब-किताब सम्हालना प्रारम्भ किया, फिर उसने छोटे-मोटे एक सौ और व्यापारियों के हिसाब-किताब रखने का बहुत थोड़ा श्रमशुल्क लेकर, काम किया। उसकी यह सूझ इतनी व्यावहारिक थी कि उसको बहुत शीघ्र ही अपना दफ्तर एक मोटर में, नये हिसाब के साधनों में सुसज्जित कर चलता-फिरता रखना पड़ा। अब उसके पास ऐसी अनेकों क्लर्कों से भरी सुसज्जित मोटरें चल रही हैं। इससे छोटे दुकानदारों को किफायत भी हो गई और उसका दफ्तर बड़ा भारी हो गया। अब उसके यहाँ अनेक चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट नौकर के रूप में काम करते हैं।

यह उस मुनीम का **विशिष्ट ज्ञान और उस पर आधारित उसकी निजी**

कल्पना ही थी, जो उसके अपूर्व और सफल व्यवसाय की सामग्री बन गई थी। पिछले साल उसने अपने पुराने मालिक से दस गुना अधिक इन्कमटैक्स दिया था। मंदी ने उसको नौकरी छोड़ने के लिये विवश किया था, किन्तु यह विवशता ही उसके लिये छद्म वेश में सौभाग्य बन गई। इस सफल व्यवसाय का प्रारम्भ एक सूझ और युक्ति थी अर्थात् कर्मकौशल था।

इन्हीं विषयों को देखते हुये भगवान् ने बुद्धि और धृति (धारणा) के भेदों को गीता के अठारहवें अध्याय में इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षंवया वेत्ति बुद्धिः सापार्थसात्विकी॥ १८-२९,३०

हे धनंजय! बुद्धि और धारणा शक्ति का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का संपूर्ण भेद विभाग पूर्वक मुझसे सुन, हे पार्थ! प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग को, तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को एवं भय और अभय को बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है वह बुद्धि सात्विकी है।

इस श्लोक (१८-३०) में सात्विकी बुद्धि का विवेचन है। सात्विकी शब्द सभी धर्मावलम्बी परमार्थ भाव में लेते हैं, परन्तु यदि यह लौकिक व्यवहार में पारंगत बुद्धि (Master mind) अथवा मनीषी भावना के अर्थ में (मेधावी) लिया जाय तो मेरे इस लेख को अधिक बल मिलता है, क्योंकि भगवान् जब यह कह रहे हैं कि जो पुरुष विधि और निषेध दोनों के तत्व को जानता है, उसी की सात्विकी बुद्धि होती है। इससे कोई हानि व्यक्त रूप मे नहीं दिखाई देती और कदाचित् इसी भाव को लेकर भगवान् पहले जो कह चुके हैं, वह भी मेल खा जावे :—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोधव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्य-कर्म यः पश्येद-कर्मणि च कर्मयः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु संयुक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४-१७,१८

कर्म का और अकर्म का भी स्वरूप जानना चाहिये, तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योकि कर्म की गति गहन है। जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखे और जो अकर्म में भी कर्म को देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वह योगी संपूर्ण कर्मों का करने वाला है।

न्याय दृष्टि से देखिये तो मेरे भाव की भगवान् ने यहाँ पुष्टि की है।

मैं सात्विकी बुद्धि वाला उसे समझता हूँ जो कला विशारद हो, युक्ति जानता हो ऐसे व्यक्ति के कर्म की रीति में बाधायें होगी ही नहीं। परन्तु ऐसी बुद्धि वाले लोग यज्ञार्थ कर्म और लोक संग्रह में ही प्रवृत्ति रखते हैं और सदा जगत् कल्याण की सोचते और उस पर कर्म करते हैं, क्योंकि उनमें सत्व-गुण प्रधान रहता है। कदाचित् उनमें स्वार्थ भावना आ गई तो तुरन्त हृदय परिवर्तन हो जाता है, उन पर रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव आ जाता है, तब :—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सापार्थराजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा-पार्थ तामसी ॥ १८-३१,३२

हे पार्थ !, जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है। तमोगुण से आवृत्त हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म तथा संपूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।

ऊपर के गुणो का मूल, स्वार्थ ही, मुख्य है। जहाँ स्वार्थ घुस पड़ा वहाँ पर फिर धर्माधर्मादि के निर्णयों मे अनेक बाधायें आती रहती हैं और स्वार्थ उनका यहाँ तक पतन कर देता है कि, वे तमोगुणी बुद्धि के जाल में फँसकर विपरीत कर्म करते रहते हैं। और व्यवसायात्मक बुद्धि न होने के कारण निश्चय नहीं कर पाते हैं।

भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां तया-पहृतचेतसां।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौन विधोयते ॥२-४४

भोग और ऐश्वर्य मे आसक्त तथा भ्रान्त चित्तवाले पुरुषों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।

जब वे निश्चयात्मक बुद्धि खो देते हैं, तब उनका चित्त स्वतः ही हारा हुआ होता है, जिसका परिणाम पतन है :—

अनेक चित्तविभ्रान्ता मोह-जाल-समावृताः।
प्रसक्ताः काम-भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६-१६

अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले मोह जाल मे फँसे हुए और विषय भोगो में अत्यन्त आसक्त हुए, घोर नरक में गिरते हैं।

ये लोग आसुरी बुद्धि को ग्रहण कर लेते हैं, जिसके लक्षण गीता के सोलहवें अध्याय श्लोक ७ से २० तक में नवर्ण किये गये हैं। यह संदर्भ

अक्षरशः मेरे ही सामने हमारे प्रेमी सम्बन्धी पर लागू हुए, जिसके कारण "योगः कर्मसु कौशलम्" को भूलकर वे अपना धन आपही हम पर मुकदमा चलाकर खो बैठे। उन्हें इसके परिणाम स्वरूप जगत् निन्दा उठानी पड़ी। यह शिक्षा भी एक प्रकार से नरक-पतन ही है।

[मुकदमा फैसला ता० ५ दिसम्बर सन् १९५८ अदालत सिविल जज कानपुर]

यह परिस्थिति प्रकृतिजन्य गुणों से प्रभावित होने पर ही होती है—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहेदेहिनमव्ययम् ॥
तत्रसत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुख-सङ्गेन बध्नाति ज्ञान-सङ्गेन चानघ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म-सङ्गेन देहिनम् ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य-निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत। १४-५ ६८-तक

हे अर्जुन! प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण सत्व, रज और तम इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बाँधते हैं। उन तीन गुणों मे सत्व गुण तो प्रकाशक, निर्विकार और निर्मल है, इससे वह जीव को सुख और ज्ञान की ओर ले जाता है। रागरूप रजोगुण तृष्णा (कामना) और आसक्ति से उत्पन्न होता है, जो इस जीवात्मा को कर्मों की आसक्ति से बाँधता है। सर्व देहाभिमानियों को मोहने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है, वह इस जीवात्मा को प्रमाद अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टाएँ, आलस्य व निद्रा में बाँधता है। अर्थात् इन तीन गुणों का भिन्न-भिन्न प्रभाव इस प्रकार है :—

सत्वं सुखं संजयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥१४६

हे भारत! सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढक कर प्रमाद में ही लगाता है। और उन गुणो के लक्षण इस प्रकार हैं :—

सर्व-द्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदातदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।
अप्रकाशो ऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१४-११,१२,१३

जिस काल में, इह देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और बोध-शक्ति उत्पन्न होती है, उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकार के कर्मों का स्वार्थ बुद्धि से आरम्भ एवं मन की चंचलता और विषय भोगों की लालसा, यह सब उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन ! तमोगुण के बढ़ने पर इन्द्रियादि में अन्धकार और कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति तथा प्रमाद और निद्रादि मोह, यह सब उत्पन्न होते हैं। जिसका परिणाम इस भाँति है :—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। १४-१६-१७

सात्विक कर्म का फल तो (सात्विक सुख, ज्ञान वैराग्यादि) निर्मलता है, और राजस कर्म का फल दुःख तथा तामस कर्म का फल अज्ञान है। सत्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा, अज्ञान और मोह उत्पन्न होता है। तब मनुष्य की स्थिति या अवस्था ऐसी बन जाती है :—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्येतिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्य-गुण-वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।।

इस श्लोक का अर्थ अब तक यह किया गया है :—सत्वगुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजसपुरुष मध्यम अर्थात् मनुष्य लोक में रहते हैं। तमोगुण के कार्य रूप निद्रा, प्रमाद, और आलस्यादि में स्थित तामसजन अधोगति को अर्थात् कीट पतंगादि पशु और नीच योनियों को प्राप्त होते हैं [जो साम्प्रदायिक भाव है]

मेरी दृढ़ धारणा है कि इस श्लोक में बुद्धियोग है और साथ ही इसमें व्यवहारवाद भी है, इस व्यवहारवाद को हम इसी लोक में देखते हैं। "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः" = उच्चपद या उन्नति की ओर सत्वगुण में स्थित पुरुष जाते हैं, अर्थात् विभूतिमान बनते हैं, सम्पदा और सुख को प्राप्त करते हैं। "मध्येतिष्ठन्तिराजसाः"—राजसपुरुष मध्य मे ही रहते हैं, अर्थात् जिस पद

या अवस्था में वह रह रहे हैं, उसी दशा में जीवन व्यतीत करते हैं, न तो अपनी उन्नति करते हैं और न अधोगति प्राप्त करते हैं। तामस पुरुष तमोगुण में निद्रा आलस्यादि के कारण, "जघन्यगुण-वृत्तिस्था अधः गच्छन्ति" अर्थात् अपने पद से च्युत होकर दुःख, क्लेश, दरिद्रता, हीनता आदि को प्राप्त होते हैं, नौकर हुये तो निकाले जाते हैं, घूस खाई तो जेल भोगते हैं।

देखा भी जाता है कि जो व्यक्ति उद्यमी और तन्मय चित्त से अपने कार्य में लगे रहते हैं, किसी प्रकार की आसक्ति में लिप्त नहीं होते, वे ही लोग अपनी उन्नति कर पाते हैं और सुख व आनन्द को भोगते हैं तथा लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। कुछ लोग यद्यपि कर्म करते रहते हैं, परन्तु भोग विलास की आसक्ति, लोभ, चंचलता आदि की आसक्ति के कारण बुद्धि की स्थिरता अर्थात् साम्यता प्राप्त न करने के कारण अपनी अवस्था की उन्नति नहीं कर पाते हैं और देहाती लोकोक्ति के अनुसार, "मोची के मोची ही रह जाते हैं।"

तामस पुरुषों का प्रत्यक्ष उदाहरण, पुराने काल के लखनऊ के नवाबों का है, जो शराफत, डरपोकपन, अकर्मण्यता, आलस्यादि के घेरे में फँस कर, अपना माल, धन, सम्पत्ति सफाचट कर बैठे अब चिकन की बूटियाँ काढ़ कर जीवन यापन कर रहे हैं, अर्थात् अधोगति को प्राप्त हो गये, थोड़ा बहुत वसीका न मिले तो कोई नवाब कहलाने को न मिले।

सात्विक पुरुष में लोभ तथा स्वार्थ का अभाव होने के कारण और कर्म को कर्त्तव्य-रूप से निर्वाह कर धर्मानुकूल मार्ग पर चलने से उसकी बुद्धि में प्रकाश होता है और वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म, बन्ध और मोक्ष को तत्त्व से जानता है। क्योंकि लोक में सबके साथ सम्पर्क होने से उसको सभी कर्मों के अनुभव स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। राजस व्यक्ति अपने आत्म-सम्मान, धन का मद, अहंकार, बल गर्व के भाव में रहने के कारण, बुद्धि की उपेक्षा करने के कारण, विशेष अनुभव नहीं प्राप्त कर सकता। तामसी व्यक्ति तो पूर्ण रीति से बुद्धि के पीछे लाठी लिए हुए और मोह जाल में फँसा होने के कारण पतन ही की ओर जाता है।

यहाँ तक विषय वर्णन करने पर निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी कार्य का जिज्ञासु अथवा साधक चाहे परमार्थ का हो या लोक के समस्त कर्म में से किसी भी एक का हो, उसे सिद्धि प्राप्त करने के लिए, इन सिद्धान्तों की अत्यन्त आवश्यकता होगी, जो अनिवार्य है—**ज्वलंत इच्छा, श्रद्धा** जो **आत्म-**

प्रस्तावना द्वारा उपार्जित की जाती है, विश्वास, तथा **बुद्धि-योग** अर्थात् **विशिष्ट ज्ञान** का आश्रय लेने से ही फलवती होती है ।

इसके साथ यदि आप में **कल्पना** (संकल्प) है और आप अपने हित के लिए, आगे बढ़ने के लिए, लाभकारी स्रोत खोज रहे हैं तो हो सकता है आपकी जिज्ञासा को यह सुझाव उचित प्रोत्साहन दे सके । **यह सूझ** सामान्य डाक्टरों, वकीलों, इंजिनियरों की आय की अपेक्षा बहुत अधिक प्राप्त करने की क्षमता रखती है ।

सारगर्भित सूझों (अर्थात् बुद्धि-योग) का कोई नियत मूल्य नहीं है सभी सूझों का मूल विशेष ज्ञान (बुद्धियोग) है ।

उन लोगों के लिए जो अभाग्यवश, प्रचुर मात्रा में अर्थ-लाभ नहीं कर पाते, **सूझों** की अपेक्षा विशिष्ट ज्ञान की बहुतायत है और सरलता से अर्जन किया जा सकता है । इस सत्य के कारण, उन लोगों की जगत् में सर्वथा माँग है और अधिकाधिक अवसर उन्हीं लोगो के लिए है जिनमें, कार्य को सफल बनाने के लिये दूसरे पुरुष और स्त्रियो की क्षमता के अनुसार सहायता लेने की योग्यता है । योग्यता या क्षमता के अर्थ कल्पना है, एक गुण जिसकी विशिष्ट ज्ञान को **सूझों** के साथ मिलाने के लिए, संपदा या धन उत्पादन को एक व्यवस्थित योजना के रूप में आवश्यकता होती है ।

यहाँ तक उपासना के साधनों में मुख्यतः **ज्वलन्त इच्छा, श्रद्धा आत्म-प्रस्तावना और बुद्धि-योग अर्थात् विशेष ज्ञान** मन की एकाग्रता आदि पर कहा गया है । यहाँ फिर यही कहना है कि वह व्यक्ति जो अपना आगामी अध्ययन केवल इस कारण त्याग देता है कि वह विद्यालय मे उत्तीर्ण हो गया तो, वह आशा रहित माध्यम दशा में हो रहता है । उसका चाहे जैसा व्यवसाय या उद्योग हो, वह बीच ही में लटका रहता है । सफलता या सिद्धि का मार्ग तो निरन्तर अनन्य भाव से ज्ञान अनुशीलन करना ही है । अर्थात् जिस-जिस स्थिति या पद पर आप हों, उससे सन्तुष्ट न होते हुए, आगे बढ़ने की कला का अनुशीलन करें । यह तब ही प्राप्त होगा, जब आप अपने विषय के साहित्य तथा विज्ञ जनों के साथ सम्पर्क रखते हुए, आपस में चर्चा कर सूझों के आदान-प्रदान में समय का उपयोग करें, और अपनी अवस्था को उन्नतिशील श्रेयस्कर बनायें, जिसका मार्ग तथा परिणाम गीता स्पष्ट करती है —

मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहम-ज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ १०-६,१०, ११

निरन्तर मुझ में मन लगाने वाले और मुझ मे ही प्राणों को लगाने वाले सदा ही आपस में **मेरे** प्रभाव को जानते हुए, तथा **मेरा** कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और निरन्तर स्मरण करते है। उन निरन्तर **मेरे** ध्यान में लगे हुये प्रेम-पूर्वक भजने वाले कर्मयोगियों को, वह **बुद्धियोग** देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं (इष्ट उपलब्धि को)। उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही मैं स्वयं अन्तःकरण में, एकीभाव से स्थित हुआ अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को, प्रकाशमय ज्ञान-दीपक द्वारा, नष्ट करता हूँ।

इन श्लोकों में जहाँ "मेरा और मैं" है, उसको अपना इष्ट और ध्येय के अर्थ में समझिये। तब इस प्रकार अपने कर्म में लगा हुआ पुरुष, गीता के इन श्लोकों के अनुसार परम सिद्धि को प्राप्त होता है :—

स्वे स्वे कर्मण्य भिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्माभिरतः सिद्धिं यथाविन्दतितच्छृणु ॥
यतः प्रवृत्तीर्भूतानां येन सर्वमिदम् ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥ १८-४५-४६

इन श्लोकों का अर्थ प्रारम्भ में लिख चुके हैं। सार इनका यह है कि आप अपने स्वभाविक कर्मों द्वारा ही अपने इष्ट या ध्येयरूप परमात्मा की पूजा कर (उपासना कर अर्थात् चेष्टा कर) परम सिद्धि को प्राप्त कीजिये।

और तब "सिद्धिप्राप्तो यथा ब्रह्म" अर्थात् सिद्धि प्राप्त होने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिसको भक्तिमार्ग में सायुज्य होना कहा है।

आप लोगों ने देखा ही होगा और सदा देखते रहते हैं कि यदि किसी भी कला, शिल्प, आविष्कार, उद्योग, व्यवसाय आदि में, व्यक्ति ने सिद्धि प्राप्त कर ली है तो, उस व्यक्ति का मान तथा प्रतिष्ठा होती है। ईश्वर अष्ट भग—समस्त बल, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य हैं—इसलिए भगवान् कहलाते है। परन्तु मनुष्य में यदि इनमें से एक अंग भी सिद्ध हो जाय तो, वह भी उप आसन पाने का अधिकारी हो जाता है, अर्थात् उपासक से उपास्य बन जाता है। यह तथ्य है, वह जगत् में प्रतिष्ठा का पात्र

ान जाता है, जिसको भगवान ने गीता में अपना ही अंश माना है।

यह अंश रूप में साधक तभी बन सकता है जब वह अपना सहज कर्म करता हुआ उसमें विशिष्टता प्राप्त कर ले। और जब कोई कर्म बार-बार किया जाता है, तो स्वभावगत होने से वही धर्म का रूप ले लेता है। इसलिये सहज कर्म ही धर्म है। देखा-देखी कर्म के मार्ग में मनुष्य असफल हो सकता है, र अपने सहज कर्म में नहीं। कोई डाक्टर इञ्जीनियर का काम अथवा इञ्जीनियर डाक्टर का करे तो असफल होगा। इसी प्रकार तेली का काम तमोली नहीं कर सकता। इसी भाव को गीता में व्यक्त किया गया है :—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३-३५

अच्छी प्रकार आचरण किये हुये दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है। इसको फिर स्पष्ट कर इस भाँति दुहराया है :—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोत्यकिल्विषम् ।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। १८-४७, ४८

अपना धर्म गुण रहित हो, फिर भी दूसरे के अच्छी प्रकार आचरण किये धर्म से श्रेष्ठ है, क्योकि स्वभाव से नियत किये हुए कर्म को करता हुआ (पाप) असफलता को नहीं प्राप्त होता है। हे अर्जुन! दोषयुक्त भी स्वभाविक कर्म नहीं त्यागना चाहिये, क्योकि धुएँ से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं, अर्थात् संसार के सब कर्मा में विघ्न की आशंका है।

इन श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि, आप जिस कुल, जिस आश्रम या पद पर हैं और बचपन से अपनी परम्परानुसार जिस वातावरण में पले हैं, उसी के अनुसार आपके सभी कर्म होने लगते हैं और वह कर्म स्वभावगत बन जाते हैं। स्वभाव ही आपका धर्म बन जाता है, आप सहज कर्म करने लगते हैं। ऐसे कर्मों में बुद्धि-विकास सरलतापूर्वक हो सकती हैं। दूसरों के धर्म यद्यपि अधिक सुहावने मालूम देते हैं, तथापि उनमें अपना स्वभाव बदलने के लिए बहुत समय लगाना पड़ेगा, अपना सारा ढाँचा और रूप बदलना पड़ेगा। सहज कर्म अर्थात् स्वाभाविक कर्मों में जो बाधायें पड़ती थी, उनको आपके बड़ों ने, अपने अनुभवों से, सरल बना दिया है। दूसरे

के धर्म को अर्थात् धन्धे को सीखने में आपका जो समय नष्ट होगा, उसको अपने धन्धे में लगाकर आप बहुत आगे बढ़ सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि आप किसी उद्यम, व्यवसाय या पद पर हों, आपको आगे अपनी उन्नति करने के प्रयास में, अपने ही क्षेत्र में समय लगाना चाहिये। जगत् में किसी भी कर्म या व्यवसाय को छोटा नहीं समझना चाहिये। प्रत्येक व्यवसाय मे 'कर्मसुकौशलम्' की आवश्यकता है। इसी पर आपकी उन्नति निर्भर है। उदाहरण के लिए, जूता बनाना अथवा चमड़ा साफ करना लीजिये। वह एक नीच कर्म समझा जाता है, परन्तु वही जूते बनाने वाला 'बाटा' जगत् में प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा व धन प्राप्त कर रहा है। चमड़ा रंगने वाले चमार सैकड़ो हैं, परन्तु बुद्धि-योग का आश्रय लेकर यदि वे एक फैक्टरी खोलकर पर्याप्त धन प्राप्त करें, तो हमी लोग आवभगत में कुर्सी आगे बढ़ाकर उन्हें मान-प्रतिष्ठा दें।

आजकल भारत में बेकारी की समस्या पर सभी चिन्तित हैं। किन्तु इस बेकारी का कारण, लोगों के स्वधर्म छोड़कर परधर्म के सुन्दर **सपनों** मे लुभा जाना है। बढ़ई, लुहार, धुनिया, जुलाहा, कोरी, चमार और कुम्हार सभी गाँव को छोड़कर नगरों के रंग-ढंग को देखकर, अपने धन्धे की उपेक्षा कर देते हैं। कोई वकील, तो कोई डाक्टर और कोई अम्बेदकर बनना चाहता है। हो सकता है कि अपवाद रूप में इनमें से एकाध बाल्मीकि ऋषि बन जावें परन्तु लाखों को तो वह पद मिलना असम्भव है किन्तु वे इस मोह में पड़कर अपना काम भी भूल गये। अपने उद्यम या व्यवसाय मे लौट आना हीनता समझने लगे, अब नौकरी के लिये दर-दर फिरने लगे। यदि इन लोगों ने शिक्षा पाकर अपने-अपने शिल्प मे ध्यान दिया होता तो, कोई आश्चर्य नहीं कि यह भारत आत्म-निर्भर हो जाता। यहाँ यह ध्यान रहे कि कबीरदास जी तथा रविदास जी स्वधर्म रट रहे हैं। इसी से उन्होंने नाम कमाया है।

अब भी यदि सरकार यह नियम लागू कर दे कि कुल के अनुसार बच्चों को उनके माता-पिता के व्यवसाय के अनुसार, कुल परम्परा के अनुसार वैसी ही कला की शिक्षा भी दी जाये तो मेरी यह निश्चित धारणा है कि ऐसा करनेमें उन्नतिशील युग का आगमन शीघ्र हो जायगा। वर्तमान युग में हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आज हमें शिल्पी अर्थात् तकनीकी व्यक्ति चाहिये, न कि दफ्तर के बाबू, वकील आदि।

यह ध्यान रखिये, "योगः कर्मसुकौशलम्" ही बुद्धियोग में मुख्य सिद्धान्त है।

अन्त में :—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्यमत्परः।
बुद्धि-योगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततंभव ॥ १८-४७

सब कर्मों को मेरे (लक्ष्य) में मन से अर्पण कर, उसी के (लक्ष्य के) परायण होकर, बुद्धियोग का अवलम्बन कर निरन्तर मेरे (लक्ष्य) में चित्त लगा।

छठा अध्याय

कल्पना योग

मन की उद्योगशाला

विभूति की ओर पाँचवा सोपान

कल्पना, अक्षरशः एक उद्योगशाला है, जहाँ पर मनुष्य द्वारा योजनायें गढ़ी जाती हैं। मन की काल्पनिक शक्ति की सहायता द्वारा संवेग, **इच्छा** को रूप तथा क्रियाशीलता प्रदान की जाती है।

ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य जिसकी कल्पना कर सकता है, उसकी रचना भी कर सकता है। सभ्यता के सभी युगों से, यह युग ही कल्पना विकास के लिए सबसे अधिक अनुकूल है, क्योंकि यह काल तुरंत परिणामी है। प्रत्येक व्यक्ति उत्साह से वह सम्पर्क जोड़ सकता है, जो कल्पना को विकसित करता है।

अपनी काल्पनिक क्षमता की सहायता द्वारा ही इन पचास वर्षों में मनुष्य ने प्रकृति को ऐसा वश मे कर लिया है, जो अतीत का समस्त इतिहास नहीं बता सकता। उसने वायु पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली है, जिससे मनुष्य की उड़ान के सामने चिड़ियों की उड़ान तुच्छ दिखाई पड़ती है। उसने आकाश को भी वश में कर लिया है और उसको एक जगत् के अंश से दूसरे जगत् के अंश के साथ जोड़ कर उसी क्षण समाचार भेजने की तथा बातचीत करने का साधन बना लिया है। उसने करोड़ों मील दूर सूर्य के तापमान, घनत्व की नाप तौल और विश्लेषण कर डाला है, **कल्पना** की ही सहायता द्वारा उसके तत्वों की भी खोज कर डाली है। उसने यह खोज निकाला है कि उसका स्वयं मस्तिष्क (Brain) विचारों के स्पन्दन या स्फुरण के आदान-प्रदान का एक रेडियो स्टेशन है और निकट भविष्य मे ही मनुष्य उसके व्यावहारिक उपयोग को खोज निकालेगा। उसने गति की चाल को बहुत बढ़ा दिया है और अब ऐसा समय आ गया है कि वह सवेरे अमेरिका में कलेवा करके दोपहर का भोजन लंडन में करता है।

बुद्धि के अनुसार, **मनुष्य की परिमितता उसके विकास और कल्पना केउपयोग ही पर निर्भर है।** वह अभी तक अपनी कल्पनात्मक शक्ति के उपयोग में पूर्णरूप से विकास की चोटी तक नहीं पहुँच पाया है। उसने केवल खोज निकाला है कि उसमे कल्पना है, अभी तो कल्पना का उपयोग उसने प्रारम्भ ही किया है।

कल्पना शक्ति दो प्रकार से काम करती है। एक संयोगात्मक रूप में और दूसरी रचनात्मक रूप मे। "**संयोगात्मक कल्पना**" इस शक्ति के द्वारा व्यक्ति पुराने बोधों, विचारों या योजनाओं को, नये संयोग में व्यवस्थित कर सकता है। यह शक्ति कुछ भी रचना नहीं कर सकती। यह मात्र स्वपोषित अनुभव शिक्षा और निरूपण के तत्वों के साथ ही कार्य करती है, यह वह शक्ति है जो प्रतिभाशालियों (Genius) के अतिरिक्त अधिकाश रूप मे आविष्कारकों द्वारा उपयोग में लाई जाती है।

रचनात्मक कल्पना— रचनात्मक कल्पना की शक्ति द्वारा मनुष्य का सीमित मन अनन्त बुद्धि के साथ सीधा संसर्ग रखता है। यही वह शक्ति है जिसके द्वारा "आकस्मिक" (Hunches) और "ईश्वर-प्रेरणा या प्रबोध" ग्रहण की जाती है। इसी शक्ति द्वारा दूसरों के मन के विचार स्फुरण ग्रहण किये जाते हैं। इसी शक्ति द्वारा एक व्यक्ति दूसरे के मन की बातें अपने में ग्रहण कर लेता है।

रचनात्मक कल्पना स्वतः कार्य कैसे करती है, वह आगे बतायेंगे। यह शक्ति केवल तभी कर्म करती है जब अवचेतन मन अति द्रुतिगति से स्फुरण कर रहा हो। उदाहरण के लिये, जब चेतन मन उत्कट इच्छा के संवेगों से उत्तेजित किया गया हो, अर्थात् जब चेतन मन उत्कट इच्छा की भावना द्वारा उत्तेजित हो, तब रचनात्मक कल्पना शक्ति काम करती है।

ऊपर वर्णित कारणों से रचनात्मक शक्ति और भी जागरूक तथा उतने ही अनुमान में अधिक प्रतिग्राही बन जाती है, जितना उपयोग द्वारा उसका विकास होता है। यह वचन महत्व के हैं और आगे बढ़ने से पूर्व, **इन शब्दों पर ठहर कर विचार करना आवश्यक है।**

जैसे-जैसे आप इन सिद्धान्तों का अनुसरण करें, यह मन में अवश्य याद रखिये कि कैसे एक व्यक्ति अपनी इच्छा को धन या अर्थ के रूप में परिवर्तित कर सके, यह पूर्ण तथ्य एक ही व्याख्यान में नहीं कहा जा सकता। **यह कथा तो तभी पूर्ण होगी जब केवलमात्र व्यक्ति ने सभी सिद्धान्तों को अधिकृत कर लिया हो, समीकरण किया हो और उन सब को व्यवहार**

में प्रारम्भ किया हो।

व्यवसायी या व्यापारी, उद्यमी, अर्थशास्त्री, और महान् कलाकारों तथा संगीतज्ञों, कवियों और लेखकों ने जो महत्ता पाई है, वह रचनात्मक शक्ति को विकसित करने के कारण ही है।

जैसे शरीर के अंग, संचालन में लाने पर, पुष्टि पाते हैं, वैसे ही ये दोनों संयोगात्मक और रचनात्मक कल्पना की शक्तियाँ व्यवहार द्वारा अधिक जागरूक होती हैं।

इच्छा केवल एक विचार, एक प्रवृत्ति या संवेग है। यह मेघाच्छन्न और क्षणभंगुर है। यह निगूढ़ है और किसी मूल्य की नहीं है, जब तक यह साकार प्रतिरूप में परिवर्तित न की जाय। जब संयोगात्मक कल्पना ही एक शक्ति है, जो बहुधा व्यवहार में, इच्छा के आवेश को अर्थ के रूप में परिवर्तन करने की प्रणाली में, प्रयोग की जाती है, तब इस तथ्य को आपको ध्यान में रखना चाहिये कि आपको ऐसी दशा व स्थिति से सामना पड़ सकता है, जब रचनात्मक कल्पना को भी व्यवहार में लाना पड़े।

हो सकता है आपकी कल्पना शक्ति, अकर्मण्यता द्वारा दुर्बल हो गई हो। वह व्यवहार द्वारा पुनर्जीवित और जागरूक की जा सकती है। यह शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। यह संभव है कि यह उपयोग के अभाव में शान्त बनी रहे।

कुछ काल के लिये अभी संयोगात्मक कल्पना के विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित कीजिए, क्योंकि यह शक्ति बहुधा इच्छा को इष्ट के रूप में परिवर्तन करने की प्रणालो मे अपनाई जाती है।

इच्छा के अगोचर संवेग या प्रवृत्ति की धन को गोचर वास्तविकता में परिवर्तन करने के लिए, योजना या योजनाओं के उपयोग की अपेक्षा करनी चाहिये। ये योजनायें कल्पना को सहायता से ही बनानी होंगी और विशेष रूप से संयोगात्मक कल्पना-शक्ति के साथ इनका समन्वय होगा।

पहले इस पुस्तक को पूरा पढ़ जाइये। पढ़ने के पश्चात् इस अध्याय को पुनः पढ़िये और अपनी कल्पना को ऐसी योजना या योजनाओं के बनाने के कार्य में लगाइये, जो आपकी इच्छा को इष्ट या धन के रूप में परिवर्तित करने में समर्थ हों। योजनाओ को बनाने की विधि व्योरेवार प्रत्येक अध्याय में आपको मिलेगी। इस विधि को लेखबद्ध कर लीजिये तथा अपनी आवश्यकतानुकूल व्यवहार में लाइये। जिस क्षण आप इसको पूरा कर डालेंगे, निश्चयरूप से उस अगोचर इच्छा को आप शीघ्र ही स्थूल रूप दे देंगे। ज्योंही

आप इच्छा तथा योजना को लेखबद्ध कर लेंगे, उन्हें अपने मन का केन्द्र-विन्दु बना लेंगे, त्योंही आप को लगेगा कि आपने इच्छा को साकार बनाने की ओर पहली सीढ़ी पर पैर रख लिया है।

पृथ्वी जिसपर आप रह रहे हैं, आप और आपका शरीर तथा प्रत्येक दूसरी भौतिक स्थूल जड़ वस्तुएँ, यह सब परिणामी परिवर्तन का फल ही तो है। कल्पना-शक्ति द्वारा ही भौतिक वस्तुओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण व्यवस्थित किये गये हैं और उन्हें यथाक्रम सुगठित किया गया है। इसके आगे यह कथन बड़े महत्व का है—यह विश्व आपके कोटियों शरीर-रन्ध्रों का प्रत्येक कोष (Cells) और जड़ वस्तु का परमाणु शक्ति के अगोचररूप से ही या क्रमशः प्रारम्भ हुये हैं। गीता में इसी तथ्य का वर्णन इस प्रकार है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्मब्रह्मोद्भवंविद्धि ब्रह्माक्षर-समुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगत्तं ब्रह्मनित्यंयज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ३-१४,१५

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। कर्म को तू ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान, ब्रह्म अविनाशी (अगोचर शक्ति) से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्व-व्यापी ब्रह्म (अगोचर शक्ति) सदा यज्ञ (कर्म) में प्रतिष्ठित है।

इच्छा विचार संवेग या प्रवृत्ति है। विचार संवेग-शक्ति के ही रूप हैं। जब आप विचार संवेग के साथ इच्छा करना प्रारम्भ करते हैं—स्वार्थ हो या परमार्थ—तब आप उन्हीं तत्वों को आकर्षित करते हैं, जिनका प्रयोग प्रकृति ने इस धरती को, तथा समस्त विश्व के स्थूल जड़ पदार्थों को, शरीर को या विचार सवेग के केन्द्र मस्तिष्क को, रचने मे किया है।

जहाँ तक विज्ञान अनुसन्धान कर सका है, समस्त विश्व केवल दो ही तत्वों से बना है—चेतन और जड़ अथवा प्रकृति और पुरुष, परमात्मा और माया या चाहे जो नाम दीजिये। जड़ और चेतन के संयोग से सभी गोचर होने वाली वस्तुयें रची गई हैं। महान ब्रह्माण्ड के आकाश में चमकने वाले तारागण, चींटी और उससे भी छोटे जीव-जन्तु, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्यान्य कीटाणु, ये सब जड़ चेतन के परिणाम ही हैं।

आप कार्य में तन्मय होकर, प्राकृतिक विधि से लाभ उठाने का प्रयत्न कीजिये। आशा है आप अब प्राकृतिक नियमो के अनुसार चलने में सोत्साह और सच्चे हृदय से, इच्छा को साकार या अर्थ के समतुलन में लाने का

प्रयास करेंगे। **आप इसको अवश्य कर सकते हैं, क्योंकि ऐसा पहले भी किया गया है।**

इन नियमों की सहायता से आप अपने उस भाग्य (संपत्ति, ऐश्वर्य या परमार्थ) को रच सकते हैं, जो अमिट या अव्यय अथवा अक्षर (नियम) है। किन्तु पहले आप को इन नियमों या इन विधानो से सुपरिचित होना चाहिये। आपको पुनरावृत्ति द्वारा इन नियमों या सिद्धान्तों के सभी अवगम योग्य क्षेत्रों में प्रवेश कर, उनको व्यवहार में लाना सीखना चाहिये।

हो सकता है ऐसा करना विचित्र और निरर्थक मालूम पड़े, परन्तु यह 'रहस्य' रहस्य नहीं है। इस भूमि पर, जिसमें हम रह रहे हैं, जिसमें तारागण नक्षत्रादि हमारी दृष्टि में हैं, हमारे चारों ओर ऊपर नीचे तत्वों मे, वनस्पति वर्ग के पत्ते-पत्ते में, और हमारी दृष्टि मे आते हुए सभी रूपो में तथा जीवन के प्रत्येक आकार में, हमे प्रकृति का रहस्य दिखाई पड़ रहा है।

जीव शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन प्रकृति के रहस्य को खोल देता है। एक सूक्ष्माति सूक्ष्म कीटाणु, जो सुई की नोक पर दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, इतने बड़े मनुष्य का आकार धारण कर लेता है, जो इस विषय को पढ़ रहा है या अध्ययन कर रहा है। ठीक इसी प्रकार इच्छा का परमाणु भी, जो सर्वथा अगोचर है, विशाल रूप धारण कर सकता है, अर्थात् इच्छानुसार सब कुछ हो सकता है।

आप निरुत्साहित न हों, आप पूर्ण रूप से, इस विषय को जो यह सब कहा गया है, अवगम नहीं कर सकते। जब तक आप मनोविज्ञान के विद्यार्थी न बनेंगे, तब तक आप से यह आशा नहीं की जा सकती कि आप पहले-पहल ही इस अध्याय को पढ़कर हृदयंगम कर सकेंगे। समय पाकर इससे यह लाभ अवश्य होगा कि आपकी समझने की शक्ति विकसित हो जायेगी।

जो सिद्धान्त आगे आयेंगे, कल्पना-तत्व को समझने का मार्ग आपके लिए खोल देंगे। इस दर्शन शास्त्र या तत्वज्ञान का जो अंश आपने पढ़ा है, उस पर मनन कीजिये, इसके अध्ययन में आपका मन लगेगा, धीरे-धीरे मस्तिष्क के कोश भी खुलेंगे, उनमें प्रकाश होगा, आनन्द की ओर आपकी प्रवृत्ति होगी। मार्ग में ठहरिये नहीं और न इन सिद्धान्तों के अध्ययन मे हिचकिचाइये। इस पुस्तक की तीन बार आवृत्ति, कम से कम, अवश्य कर लीजिये, ऐसा करने से आप मार्ग में रुक नहीं सकते।

कैसे कल्पना का व्यावहारिक उपयोग करें

सूझ (Ideas) अर्थात् मनोगत भाव सभी सिद्धियों या संपत्तियों के प्रार-

म्भिक विन्दु हैं। कल्पना ही की उपज सूझ है अथवा सूझ कल्पना से उत्पन्न होती है। अब कुछ थोड़े उदाहरणों को लीजिये, जिनमें सुविज्ञात मनोगत भाव अर्थात् सूझें हैं और जिनसे करोड़ों की सम्पत्ति प्राप्त हुई है। आशा है कि ये दृष्टान्त आपका निश्चित मार्ग उस विषय के बारे में बतायें, जिसके द्वारा कल्पना इष्ट या सिद्धि प्राप्त करा सके।

जादू की देगची (पतीली)

पचास वर्ष से ऊपर हुए, एक गांव के डाक्टर ने शहर के दवाखाने के दरवाजे पर अपना घोड़ा रोका, और उतर कर पीछे के द्वार से दवाखाने में आकर कार्यकर्ता (Clerk) से बातचीत करने लगे। उसकी प्रेरणा अनेक लोगों को महान् धन प्राप्त कराने में निर्दिष्ट थी। विप्लव के पश्चात् दैवी प्रेरणा के रूप में एक जन-हितकारी कार्य दक्षिण अमेरिका के एक नगर में घटित हुआ।

एक घण्टे से अधिक डाक्टर और दूकानदार धीमे शब्दों में गुपचुप बातें करते रहे, तब डाक्टर ने बाहर आकर अपनी गाड़ी से एक बड़ी पुरानी चाल की देगची और काठ की एक कलछी निकाल कर उसके गोदाम में रख दी।

दूकानदार ने उस देगची को जाचा और अपने कोट की भीतरी जेब से नोटों का बडल निकाल कर डाक्टर को दे दिया। उस बंडल में पूरे ५०० डालर थे, जो उसकी संपूर्ण कमाई थी। डाक्टर ने उसे एक कागज़ का छोटा परचा दिया जिसमे एक रहस्यमय नुस्खा लिखा हुआ था। उसमें लिखे हुये शब्द एक छोटे-मोटे राज्य का मूल्य था, परन्तु वह डाक्टर के लिए नहीं था। यह इन्द्रजाल के शब्द देगची उबालने के लिए थे, किन्तु न तो डाक्टर ही और न दूकानदार ही जानता था कि कितनी काल्पनिक सम्पत्ति उस देगची से उफनाने वाली है।

डाक्टर तो ५०० डालर में उस देगची और नुस्खे को बेंच कर खुश हुआ। उस धन से उसने अपना कर्ज़ चुकाया और शान्ति पाई। दूकानदार ने अपनी समस्त जीवन की कमाई, उस एक छोटे से कागज़ के टुकड़े और पुरानी देगची पर दाँव में लगा दी। उसने कभी स्वप्न में भी न सोंचा था कि एक पुरानी देगची इतना सोना उबालकर बाहर निकाल देगी, जो अलादीन के चिराग से भी बढ़ा-चढ़ा होगा। दूकानदार ने तो वास्तविक रूप में एक काल्पनिक सूझ ही मोल ली थी।

पुरानी देगची और काठ की कलछी तथा कागज़ के टुकड़े पर एक गुप्त सन्देश अंकित था। उस देगची की विचित्र कथा उसके पश्चात् प्रारंभ हुई, जब नये मालिक ने आदेशानुसार औषधि सामग्री मिलाई। इसके विषय में डाक्टर कुछ नहीं जानता था।

इस कहानी को सावधानी से पढ़िये, हृदयंगम कीजिये और अपनी कल्पना की जाँच कीजिए तथा समझिये और देखिये कि क्या वस्तु उस गुप्त आदेश में थी जो उस युवक ने मिलाई, जिससे देगची में से सोना उफनने लगा, क्या आप खोज कर सकते हैं? याद रखिये जो आप पढ़ रहे हैं, कोई अलिफलैला की कहानी नहीं है। यहाँ यह यथार्थ की कहानी है, जो उपन्यास से भी विचित्र है, यह यथार्थ सत्य जो एक कल्पनिक सूझ से निकलकर साकार हुआ है।

अब हमें एक दृष्टि उस महान सोने की राशि पर डालनी चाहिये, जो उस काल्पनिक सूझ ने उत्पन्न की थी।

उस सूझ ने विपुल सम्पत्ति समस्त जगत् के स्त्री-पुरुषों को दी और अब भी दे रही है जो उस देगची का सामान करोड़ों व्यक्तियों में वितरित कर रहे हैं।

यह पुरानी देगची जगत् की सबसे अधिक शक्कर खपत करती है, इस प्रकार हजारों स्त्री-पुरुषों को स्थायी रूप से काम पर लगाये है, जो गन्ने की खेती करते हैं, और शक्कर बना रहे हैं। यह करोड़ों शीशे की बोतलें साल भर में उपयोग में लाती है, जिनके बनाने में बहुत से लोग लगे हुये हैं।

यह देगची बाबू लोगों, लेखकों, और विज्ञापन करने वाले लोगों की एक सेना की सेना को जीविका दे रही है। इसने बीसियों चितेरों को प्रचुर धन विज्ञापन बनाने में दिया और दे रही है।

दक्षिण अमेरिका का एक छोटा नगर अब एक व्यापार-केन्द्र व मुख्य नगर बन गया है। अब वहाँ प्रत्येक व्यवसायी प्रत्यक्ष या गौण रूप से इसके द्वारा लाभ उठा रहा है। यही नहीं वहाँ का प्रत्येक नागरिक भी उस से लाभान्वित हो रहा है। इस काल्पनिक सूझ के प्रभाव से, अब जगत् के प्रत्येक सभ्य नगर को लाभ पहुँच रहा है। साथ ही उन लोगों को जो इससे सम्पर्क रखते हैं, धन की प्राप्ति हो रही है।

कहाँ तक वर्णन किया जाये, यदि इसका पूर्ण ब्योरा लिखा जाय तो अनेक प्रेम आख्यायिकाओं के समान कहानी रूप में ग्रंथ रंगे जा सकते हैं। व्यवसाय से उत्साहित होने वाली आख्यायिका प्रेम की, व्यवसाइयों की

पुरुष और स्त्रियों की, रोमानी कहानी से कहीं अधिक रोचक है। ऐसी-ऐसी घटनायें हैं जिससे अनेक कहानियाँ बन सकती हैं। इस कहानी का लेखक स्वयं एक ऐसी रसिक कथा लिखने का निश्चय रूप से भाग्यशाली भी है। यह प्रेम कहानी, उसी स्थान में जहाँ दुकानदार ने देगची मोल ली थी, प्रारम्भ हुई। यहीं पर इसके लेखक ने अपनी पत्नी से पहले-पहिल भेंट की थी, और वह वही थी जिसने उसे देगची की कहानी सर्व प्रथम सुनाई थी। इस देगची की उपज को वे दोनों पीते हुये, एक दूसरे का अच्छे या बुरे जीवन में साथ व्यतीत करने का निश्चय कर बन्धन में बँधे थे।

अब जान गये होगे कि उस जादू की देगची की उपज एक जगत् प्रसिद्ध पेय है। लेखक मानता है कि उस द्रव्य की उपज ने ही उसके लिये पत्नी प्रदान की। यह पेय बिना किसी मादकता के लेखक से लेखन कार्य सुचारु रूप से करा लेती है।

जहाँ भी आप हों, और जैसे भी हो, आपका चाहे जो उद्यम हो, आप याद रख सकते हैं कि भविष्य में जब आप यह शब्द "**कोका-कोला**" पढ़ेंगे तो आपको यह कहानी याद रहेगी, जो एक काल्पनिक सूझ से उत्पन्न हुई। जिसको आसा केन्डलर (Asa Candler) नामक दूकानदार ने डाक्टर के दिये हुये नुस्खे के अनुसार बनाया। **विचार ही वास्तव में पदार्थ हैं, जिनके प्रयोग के लिए यह जगत् प्रयोगशाला है।** (कर्म-भूमि)

यह कथानक, इस पुरानी कहावत को प्रमाणित करता है, "जहाँ इच्छा है, वहाँ मार्ग भी है।" इसकी कहानी एक पादड़ी गनसालस F. W. Gunsaulus ने कही थी, जो एक बड़े शिक्षक थे और दक्षिणी शिकागो के गुदाम क्षेत्र में उपदेश दिया करते थे।

जब डा० गनसालस विद्यालय में पढ़ते थे, तब उन्होंने अनेकों त्रुटियाँ शिक्षा-पद्धति में देखी। वे विश्वास करते थे कि यदि वे विद्यालय के अध्यक्ष हों तो उन त्रुटियों को सुधार सकते है। विद्यालय मे अध्यक्ष बनने की उनकी आन्तरिक अदम्य इच्छा थी, जिसमें युवक और युवतियाँ कर्म करते हुये शिक्षा प्राप्त कर सकें। उन्होने अपने मन में एक विद्यालय व्यवस्थित करने का **निश्चय** कर लिया, जिसमे वह अपने शास्त्र-सम्मत विचारों को कार्यरूप में परिणत कर सकें।

ऐसे कार्य के लिये, उन्हें दस लाख डालर की आवश्यकता थी। वह इतनी बड़ी रकम पायें कहाँ से ? यही प्रश्न इस युवा उपदेशक की अभिलाषा के विचार सागर में लहराता रहता था, परन्तु मार्ग नहीं सूझता था।

प्रत्येक रात को वह यही विचार लेकर सो जाते और सबेरे जागते ही फिर वही विचार सामने रखते। वह मन में इसी को उस समय तक रटते रहे, जब तक कि इससे पूर्णतः आवेशित न हुए। वह जहाँ जाते यही विचार अपने साथ ले जाते। दस लाख डालर एक वृहत् धनराशि थी। उन्होंने उस यथार्थ को अंगीकार किया और यह सत्य भी अंगीकार किया कि, **"व्यक्ति की केवल परिमितता वही है जो उसके मन में है।"**

एक दार्शनिक और उपदेशक होते हुए भी डा० गनसालस ने इस सार सत्य को ग्रहण किया, यह कोई नई बात नहीं थी। प्रायः सब लोग, जो जीवन में सफलता प्राप्त करते है, इस सार सत्य को जानते हैं। **"ध्येय की निश्चितता ही वह प्रारंभिक विन्दु है, जिससे मनुष्य को आरंभ करना चाहिये।** साथ ही यह भी जानना चाहिये कि ध्येय की निश्चितता जब **ज्वलन्त इच्छा** से पुष्ट होती है, तब उसमें प्राण और शक्ति का संचार हो जाता है तथा वह भौतिक साकारता में परिवर्तित हो जाती है।

वह सब बड़े सत्यों को जानते थे, फिर भी वह इस तथ्य को नहीं जान पाते थे कि कहाँ और कैसे दस लाख डालर मिले। सर्वसाधारण तो यह कहकर बड़ी सुगमता से इस ध्येय का तिलाञ्जलि दे सकता था कि इतनी बड़ी रकम जुटाना मेरे वश की बात नही, परन्तु डा० गनसालस साधारण श्रेणी के व्यक्ति न थे। उनके दृढ़ संकल्प ने ही उन्हें मानव-कोटि से ऊपर उठा दिया था। उनका कथन इतना महत्वपूर्ण है कि उन्हीं के मुख से सुनिये—

एक शनिवार की शाम को मैं अपने कमरे में बैठा हुआ अपनी योजना चलाने के लिये, धन इकट्ठा करने के मार्ग और साधनो के लिये सोच रहा था। मैं लगभग दो वर्षों से विचार कर रहा था, परन्तु मैंने विचार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। अब समय कर्म करने का आ गया।

मैंने उसी समय ठान लिया कि मैं अवश्य दस लाख डालर एक हफ़्ते के अन्दर पा लूँगा। कैसे ? इसके लिये मुझे चिन्ता नहीं करनी थी। मुख्य बात तो धन पाने के निश्चय की, एक अवधि थी, जो महत्वपूर्ण थी। मैं आप से यह कहना चाहता हूँ कि जिस क्षण मैं एक निर्दिष्ट समय के भीतर धन प्राप्त कर लेने के निश्चय पर पहुँचा, उसी क्षण विश्वास की एक विचित्र भावना मेरे मन में आई। इसके पूर्व मैंने कभी भी इस विचित्र दृष्टि को अनुभव नहीं किया था। मैंने जैसे स्वगत ही कहा—"इस निश्चय पर पहले ही क्यों न पहुँचे ? तुम्हारे लिये धन अब तक प्रतीक्षा कर रहा था।"

अब कार्य जल्दी घटित होना आरंभ हुआ। मैंने समाचारपत्रों में यह प्रकाशित किया कि कल सबेरे मैं एक धर्मोपदेश प्रवचन इस विषय पर करूँगा, **"यदि मुझे दस लाख डालर मिलें, तो मैं क्या करूंगा ?"** मैं अपने प्रवचन लिखने पर जुट गया, परन्तु मुझे खुले हृदय से कहना चाहिये कि यह लिखने का कार्य कठिन न था, क्योंकि लगभग दो वर्षों से मैं ऐसे प्रवचन लिखने की तैयारी में था। इसके पीछे उत्कृष्ट भावना काम कर रही थी।

आधी रात से बहुत पहले ही मैंने प्रवचन लेखबद्ध कर लिया था। मैं बिछौने पर लेटकर दृढ़निष्ठ संकल्प के साथ सो गया, मुझे नींद भी इसीलिये आई क्योंकि मुझे ऐसा आभास हुआ कि, मैं दस लाख डालर पहले से ही अधिकृत किये हुए हूँ।

दूसरे दिन सबेरे मैं बहुत जल्दी उठ पड़ा, गुसलखाने मे गया, प्रवचन पढ़ा, तब घुटने टेक कर यह प्रार्थना की, हे प्रभो ! मेरा प्रवचन किसी ऐसे व्यक्ति का ध्यान आकर्षण करे जो आवश्यक धन जुटा दे। जब मैं प्रार्थना कर रहा था तो मेरे मन मे विश्वास की भावना जाग्रत हुई कि धन अवश्य उपस्थित होगा। अपनी उत्तेजना में, मैं बिना धर्मोपदेश का पर्चा लिये बाहर निकल पड़ा और इस भूल को तब तक न जान सका, जब तक मैं आसन पर बैठ कर उपदेश देने को तैयार न हुआ।

उस समय फिर घर लौटकर लिखित प्रवचन को लाने मे बहुत देरी हो जाती और यह ईश्वर कृपा ही थी कि मैं फिर न जा सका। उसके स्थान मे मेरे अवचेतन मन ने मेरी मनचाही सामग्री सब जुटा दी। जब मैं प्रवचन देने को उठा, तो मैंने अपनी आँखें बन्द कर ली और सम्पूर्ण हृदय तथा अपने स्वप्न की आत्मा के साथ मैं बोलने लगा। मै केवल अपने श्रोतावर्ग से कह रहा था, परन्तु मैं ख्याल करता हूँ कि मैं ईश्वर से भी कह रहा था। मैंने कहा, "दस लाख डालर मेरे हाथ सौंपे जायँगे तो मैं उसका क्या उपयोग करूँगा ?" मैंने इस योजना का विवरण दिया, जो मेरे मन मे महान् शिक्षा संस्था के रूप में व्यवस्थित थी। उस कल्पना की झलक दी जहाँ युवा व्यक्ति व्यावहारिक कार्य सीख कर कर्म करेंगे, और साथ ही साथ अपने मन का विकास करेंगे।

मैं जब अपना वक्तव्य समाप्त कर बैठ गया, तब एक पुरुष धीरे से से अपने आसन से, जो तीन पंक्ति पीछे था, मेरी ओर आने लगा। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह क्या करेगा। वह मेरे आसन के पास आकर और अपना हाथ बढ़ाकर कहने लगा, "पादड़ी आपका प्रवचन मुझे बहुत पसन्द

आया, मैं विश्वास करता हूँ कि यदि आपको दस लाख डालर मिल जायें, तो आप अपने वचन के अनुसार सब कुछ कर सकते हैं। इसको प्रमाणित करने को मैं आपका विश्वास करता हूँ, आपके प्रवचन से प्रभावित हूँ। यदि आप कल सबेरे मेरे दफ्तर में आयेंगे तो मैं आपको दस लाख डालर को चिक दे दूँगा, मेरा नाम फिलिप डी० आर्मर है।"

युवा गुनसालस आर्मर साहब के दफ्तर में गया, और दस लाख डालर उसको भेंट कर दिये गये। उस धन से उन्होंने आर्मर कला (शिल्प) मन्दिर स्थापित किया।

यह इतना अधिक धन था कि अधिकांश उपदेशकों ने अपने जीवन में शायद ही कभी देखा हो। आवश्यक दस लाख डालर का विचार सूझ के एक फल या परिणाम के रूप में आया। इस काल्पनिक सूझ की आधारशिला उसके **अदम्य इच्छा** पर थी, जिसका युवा गुलसालस अपने मन में दो वर्ष से संजोए हुये था।

इस घटना की गहराई पर विचार कीजिए—**अपने मन में धन प्राप्ति के निर्दिष्ट निश्चय पर, और उसकी प्राप्ति करने की निर्दिष्ट योजना के निश्चय पर, पहुँचने के उपरान्त, छत्तीस घन्टे के भीतर ही, उसने धन प्राप्त कर लिया।**

दस लाख डालर के विषय मे डा० गुनसालस का संदिग्ध रूप से सोचना और उसपर धूमिल आशा करने में कोई अद्भुत बात या अनोखापन न था, ऐसा तो उसके पहले के और उसके पीछे अनेकों के मन मे आया था, परन्तु इनकी अपेक्षा उसमे निश्चय के विषय मे कुछ अद्भुतता और भिन्नता थी। जब वह स्मरणीय शनिवार आया, तब उसने संदिग्धता को पीछे ढकेल कर और दृढ़ता को आगे बढ़ाकर कहा, "मैं वह धन एक हफ्ते मे प्राप्त कर लूँगा।"

ईश्वर उसी पुरुष के पक्ष में हो जाता है, जिसका लक्ष्य निश्चित है, जो दृढ़व्रत है :—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ ८-१४

हे पार्थ ! जो पुरुष मुझ में अनन्यचित्त से स्थित होकर सदा ही निरन्तर मुझ को स्मरण करता है; उस निरन्तर मुझ में युक्त हुये कर्मयोगी के लिये मैं सुलभ हूँ।

इस श्लोक में "मा" शब्द और "योगिनः" शब्द के अर्थ यदि इस प्रकार लिये जायें, और लेने में कुछ हानि भी नहीं है, तो ऊपर लिखे श्लोक का अर्थ पूर्णरूपेण अनुकूल हो जाता है :—

माम् = (अर्थात् परमात्मा), अपना इष्ट या ध्येय (किसी प्रकार का भी हो)।

योगिनः = कर्मयोगी, युक्ति वाला, अर्थात् सूझ वाला दृढ़ाग्राही अर्थात् जो अविचल भाव में दृढ़ाग्रह से अपने लक्ष्य की ओर चलता जाता है, उसे वह मिल जाता है। और इसकी विशेष पुष्टि में अर्थ इस प्रकार है :—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ताउपासते ॥ ९-१४

दृढ़ निश्चय वाले भक्तजन निरन्तर अपने लक्ष्य पर चित्त लगाए हुए, (मेरे नाम = लक्ष्य और गुणों का कीर्तन करते हुए), तथा (मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करते हुये और मुझ को = लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए इष्ट को) कर्मयोग का साधन करते हुये अपने इष्ट या ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं और अनन्य भक्ति से उपासते (चेष्टा करते) हैं। उसका निश्चय फल इस भाँति होता है :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योग-क्षेमं बहाम्यहम् ॥ ९-२२

जो अनन्य भाव से **मेरे** (इष्ट या ध्येय) में स्थित हुए भक्तजन **मेरा** (अपने ध्येय या इष्ट का) निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, उन नित्य एकी भाव से **मुझमें** स्थित (अपने इष्ट या ध्येय में स्थित) पुरुषों का योगक्षेम मैं (इष्ट) स्वयं प्राप्त करा देता हूँ (अर्थात् उनका लक्ष्य स्वयं उनके पास आ जाता है)। कहावतें भी हैं; "God help those, who help themselves" "हिम्मते मर्दां, मदते खुदा" आदि।

वह सिद्धान्त जिसके द्वारा डाक्टर गुनसालस को दस लाख डालर मिले अब भी जीवित है। आपके लिये भी सुलभ है। यह विश्वव्यापी नियम वैसा ही व्यवहार्य आज भी है, जैसा उन्होंने उस समय किया था।

भारत में उपर्युक्त डा० गुनसालस के समान स्वर्गीय महामना मालवीय जी और श्रद्धास्पद श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम उल्लेख्य हैं जिनका प्रयास, दृढ़ इच्छा, दृढ़ श्रद्धा, दृढ़ाग्रह और निश्चयात्मक बुद्धि, कल्पना तथा सूझ काशी विश्वविद्यालय तथा ज्वालापुर के गुरुकुल आश्रम के रूप में साकार दिखाई पड़ते हैं।

यह देखिये कि आसा केन्डलर और डा० फ्रेन्क गुनसालस के भाव में एक ही आधार था। दोनों इस विस्मयकारी सत्य को जानते थे कि काल्पनिक

सूझें निश्चित हेतु की शक्ति व निर्दिष्ट योजनाओं के द्वारा भौतिक सम्पत्ति में रूपान्तरित हो सकती है ।

यदि आप उनमें से एक हैं, जो कठिन श्रम और सच्चाई से धन प्राप्ति में विश्वास करते हैं, तो आप इसी क्षण इस झूठे विश्वास को निकाल कर बाहर फेंक दीजिये । जब धन प्रचुर मात्रा में आता है, तब वह कठिन परिश्रम का **फल कभी नहीं होता; धन आता है**, यदि वह आता है तो, निश्चित इच्छा के उत्तर में, जो निर्दिष्ट सिद्धान्तों के प्रयोग पर आधारित है । वह किसी घटना या भाग्य से नहीं आता ।

साधारण बोलचाल में भी काल्पनिक सूझ विचार का संवेग है, जो कल्पना के प्रतिनिवेदन द्वारा कर्म-प्रवृत्ति लाती है । सभी दक्ष विक्रेता जानते हैं कि सूझ (Idea) ही बिक्री बढ़ाती है, वणिक वस्तु नहीं । साधारण विक्रेता इस रहस्य को नहीं जानते, इसलिये वे 'साधारण' विक्रेता मात्र रह जाते हैं ।

एक घटना अपने ही जीवन की है—मैंने एक पुस्तक "शिशु चित्रण" खन्ना प्रेस द्वारा प्रकाशित कराई । वह बहुत थोड़ी बिकी । पूज्य वयोवृद्ध अरोड़ा जी ने, जो काँग्रेस के बहुत पुराने सदस्य थे, लागत मूल्य में सब पुस्तकें मुझसे मोल ले लीं । उन्होंने पुस्तक के ऊपर का पृष्ठ सुन्दर आकर्षित करवा दिया और पुस्तकें बेंच डाली । यह बहुत मामूली बात मालूम देती है, पर यह मामूली बात सूझ (Ideas) और कल्पना (Imagination) का रहस्य स्पष्ट कर देती है ।

एन्ड्रू कारनेगी लोहा बनाने के विषय में बहुत कम जानते थे । उन्होंने इस लेख के दो व्यावहारिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया और विभूतिमान् बन गये । वस्तुतः प्रत्येक महान सौभाग्य की कहानी उसी दिन से आरम्भ होती है, जब युक्ति रचने वाला और युक्ति पर कर्म करने वाला दोनों एक रूप होकर कर्म करते हैं । एकीभाव में होते हैं—योगेश्वर श्रीकृष्ण और पार्थ धनुर्धर ही रण में विजय प्राप्त कर सकते हैं । जिन मनुष्यों ने काल्पनिक सूझें और जिन्होंने उन सूझों को व्यवहार या कर्म में प्रयोग किया है, उन्होंने अपने को तथा दूसरों को महान् सम्पत्तिशाली बना दिया ।

करोड़ों लोग ऐसे हैं, जो अकस्मात् भाग्योदय होने की आशा में जीवन व्यतीत करते हैं । कदाचित् भाग्योदय की घटना का अवसर मिल सकता है, किन्तु सबसे सुरक्षित बात है कि भविष्य पर भरोसा ही न किया जाय । "एक घटना थी, जिसने मुझे जीवन में सबसे बड़ा अवसर प्रदान किया ।

पच्चीस वर्ष का दृढ़व्रत प्रयास उस अवसर के लिए करना पड़ा, तब वह विभव के रूप में साकार हो गया।" (नेपोलियन हिल)

"सूझ (Idea) कारनेगी से मिली। परन्तु **दृढ़ निश्चय,** निर्दिष्ट लक्ष्य, **ध्येय की उपलब्धि की इच्छा और निरन्तर पच्चीस वर्ष की चेष्टा,** मेरी अपनी थी। यह कोई **साधारण इच्छा** नहीं थी, जिसमें निराशा या हतोत्साह बाधा डाल सकते। यह तो एक **ज्वलन्त इच्छा** थी, एक आवेश था।"

काल्पनिक सूझें, अदृश्य शक्तियाँ हैं। उनमें स्थूल मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक बल है। उनमें जीवित रहने की शक्ति है, जबकि मस्तिष्क उनको रचकर स्वयं मिट्टी में मिल जाता है।

श्रीकृष्ण अब पृथ्वी पर नहीं रहे, परन्तु उनकी काल्पनिक युक्तियाँ श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में अब भी वर्तमान हैं।

नेपोलियन हिल कहते हैं, जब पहले-पहल कारनेगी ने मेरे हृदय में इस सूझ का पौधा लगाया, तो उसका पालन-पोषण किया गया और जीवित रहने को फुसलाया गया। धीरे-धीरे यह विचार मुझे ललचाने, पोसने और फुसलाने लगा। पहले आप कल्पना विचारों को जीवन दीजिये, उनका पालन-पोषण कीजिये, तब वे विचार शक्तिशाली बन कर मार्ग की सारी बाधाओं को हटा देंगे।

सिद्धि या सफलता कोई विवरण नहीं चाहती।

असफलता कोई बहाने (Alibi) की अनुमति नहीं देती।

साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः

साधारण मनुष्यों को कार्यसिद्धि के लिये सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, कर्मयोगी तो बिना किसी साधन के बड़े-बड़े परमार्थ के काम कर जाते हैं। उनका साधन तप तो केवल अपना आत्मिक बल, ज्वलन्त इच्छा श्रद्धा, दृढ़व्रत, दृढ़ाग्रह, विश्चयात्मक बुद्धि और कर्म-कुशलता में निहित है।

सातवाँ अध्याय

योग व्यवस्था

इच्छा को कर्म में स्थूल रूप में लाना

विभूति की ओर छठा सोपान

अब तक की व्याख्या एक प्रकार से निराकार उपासना का अंग था। अब निराकार को साकार बनाना है, अर्थात् इच्छा को स्थूल आकार में परिवर्तित करना है।

आपने यह तो भली-भाँति अधिगम कर लिया है कि मनुष्य प्रत्येक वस्तु, जो रचता या अर्जित करता है, मूलतः **इच्छा** के रूप में प्रारम्भ होता है। वह इच्छा जब अपने कर्मक्षेत्र में प्रथम चरण धरती है, अथवा जब वह निराकार से साकार की ओर उन्मुख होती है, तब वह **कल्पना** की उद्योगशाला में लाई जाती है, जहाँ योजनायें परिवर्तन के लिये बनाई और व्यवस्थित की जाती हैं।

दूसरे अध्याय में आपसे, छः निर्दिष्ट नियमों को ग्रहण करने के लिये कहा गया है। व्यावहारिक क्रम से आपका प्रयास सम्पत्ति के समतुल्य रूप में इच्छा को परिवर्तित करना है। इन क्रमों में एक क्रम **निर्दिष्ट**, व्यावहारिक योजना या योजनाओं का बनाना है, जिसके द्वारा यह परिवर्तन किया जा सके।

अब आपको यह बताना है कि किस प्रकार योजनायें बनायें, जो व्यावहारिक हों :—

(क). अपने इष्ट साध्य की उपलब्धि के लिये आपको अपने साध्य लक्ष्य के अनुसार कुछ ऐसे विशेषज्ञों से मित्रता करनी होगी जो आपको परामर्श देकर प्रोत्साहित कर सकें। मनीषियों (Mastermind विशेषज्ञ) के सहयोग से लाभ उठाना या उनके आदेशों को उपयोग में लाना आवश्यक है। इस विषय से सम्बन्धित सिद्धान्त का वर्णन आगे चल कर किया गया है। (इन आदेशों का पालन करना महत्त्वपूर्ण और सारभूत है, इनकी उपेक्षा न कीजिये)

(ख), मनीषियों से सहयोग करने के पहले निर्णय कीजिये कि क्या सुविधा या हित और लाभ संघ के वैयक्तिक सभासद को उसके, सहयोग के बदले में, आप दे सकते हैं। निश्चित रूप से, कोई भी किसी रूप में प्रतिफल पाये बिना, कार्य नहीं करेगा। **कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति बिना पारिश्रमिक या पुरस्कार रूप में पर्याप्त प्रतिफल दिये किसी विशेषज्ञ से किसी भी प्रकार की सहायता की याचना या आग्रह** नहीं करेगा। हो सकता है यह अनुदान धन के रूप में न हो, फिर भी किसी न किसी रूप में इसका होना आवश्यक है।

(ग) मनीषी (विशेषज्ञ) सभासदों से हफ्ते में कम से कम दो बार मिलने का निश्चय कीजिये। यदि सम्भव हो तो अधिकाधिक बार मिलिये। जब तक आप लोग एक साथ मिलकर अपने इष्ट-साधन की योजना को सम्पन्न न कर लें, तब तक मिलते-जुलते रहिये।

(घ) पूर्ण रूप से और मनीषी संघ के प्रत्येक सभासद के बीच **एकता** बनाये रखिये। इस उपदेश के अक्षरशः पालन मे कुछ भी त्रुटि हुई तो असिद्धि का सामना करने की सम्भावना हो सकती है। जहाँ पूर्ण रूप से **ऐक्य** स्थापित नहीं है, वहाँ मनीषी पद्धति मिल नहीं सकती।

उपर्युक्त आदेशो के अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्यो को मन मे धारण किये रहना भी आवश्यक है :—

(१) यदि आप ऐसे व्यवसाय में प्रवृत्त हैं जो आपके बड़े महत्त्व का है, तो निश्चित सिद्धि प्राप्त करने के लिये आपके पास निर्दोष योजना होनी चाहिये।

(२) आपको दूसरों के अनुभव, शिक्षा, क्षमता और कल्पना से लाभ उठाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति की उस प्रणाली को अपनाना चाहिये, जिससे वह विभूतिमान् हुआ है।

ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसको पर्याप्त अनुभव, शिक्षा, स्वभावजन्य योग्यता आदि बिना दूसरों के सहयोग के उपलब्ध हो सका हो। इसी प्रकार ज्ञान एवम् पूर्ण सफलता, बिना विशेषज्ञो के सहयोग के विभूति के रूप में संचित ही नहीं होती। विभूतियाँ या इष्ट-सिद्धि के हेतु प्रत्येक योजना, जो आप अपने प्रयास से ग्रहण करते हैं, आपके और मनीषी समुदाय की संयुक्त सम्मति से रची जानी चाहिये। हो सकता है, आप ही स्वयं अपनी योजनायें निर्मित करें, किन्तु **उनको मनीषियों के प्रत्येक सभासद से जंचवाना और अनुमोदित कराना आवश्यक है।**

यदि आपकी पहली योजना **जो आप अपनाते हैं,** सफलतापूर्वक **काम नहीं**

करती, तो एक नई योजना उसके स्थान पर चलाइये। यदि यह दूसरी नई योजना भी विफल होती है, तो उसके बदले में और कोई योजना प्रयोग में लाइये। यह क्रम तब तक रखिये, जब तक आप एक ऐसी योजना न प्राप्त कर लें जो सफल हो। यही बिन्दु है जहाँ पर अधिकांश लोग फिसल जाते हैं, क्योंकि उनमें विफल योजनाओं के स्थान में, नई योजनायें रचने में दृढ़ाग्रह का अभाव रहता है। कहा भी है :—

"योग सिद्धि फल समय जिमि यतिहि अविद्या नास"

कर्मयोगी को सिद्धि प्राप्त होने वाली ही थी, कि अविद्या ने अर्थात् हतोत्साह ने उस सिद्धि को नष्ट कर दिया अर्थात् इष्ट-सिद्धि नहीं होने दी।

व्यावहारिक योजना के बिना अति बुद्धिमान् पुरुष भी न तो इष्ट-सिद्धि प्राप्त कर सकता है और न किसी व्यवसाय या प्रयास में सफलता। इस तथ्य या यथार्थ को मनमें रखिये और ध्यान रखिये जब आपकी योजनायें विफल होती हैं, तब यह आपकी अस्थायी या क्षणिक पराजय है, स्थायी विफलता या पराजय नहीं। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि आपकी योजना ठीक न थी। दूसरी योजना बनाइये, फिर से प्रारम्भ कीजिये।

टामस एडीसन ने, दस हजार बार विफल होने के पश्चात् ही, बिजली का लेम्प बनाने में पूर्णता प्राप्त की थी। अर्थात्—उसने दस हजार बार अस्थायी पराजय पहले पा ली, तब उसके प्रयास ने सफलता का मुकुट धारण किया।

क्षणिक व्याघात का केवल एक ही अर्थ होना चाहिये, एक निश्चित् ज्ञान कि आपकी योजना में कुछ त्रुटि है। करोड़ों मनुष्य जीवन में दुःख और दरिद्रता भोगते हैं, कारण यह है कि उनके पास अर्थ सञ्चय के लिये सार-भूत योजना नहीं है।

हेनरी फोर्ड ने अपार धन अपनी विशिष्ट बुद्धि के द्वारा नहीं संचय किया था। इसका कारण यह था कि उसकी योजना, जिसको उसने अपनाया था, सुचारु थी। सहस्रों मनुष्य गिने जा सकते हैं जो फोर्ड से कहीं अधिक शिक्षित हैं, फिर भी वे लोग दरिद्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्योंकि उनके पास अर्थ संचय के लिये कोई उचित योजना नहीं है। **जितनी शुद्ध आपकी योजना होगी, उससे अधिक सफलता आपको नहीं मिल सकती।**

हो सकता है कि यह स्वयं सिद्ध कथन हो, परन्तु यह सत्य है। सेमुएल इन्सल ने अपनी दस करोड़ की सम्पत्ति घाटे में खो दी, यह सम्पदा युक्त योजनाओं द्वारा बनी थी। परन्तु बाजार में मंदी होने के कारण इन्सल ने

विवश होकर अपनी योजना में परिवर्तन किया और परिवर्तन में अल्पकालीन पराजय हुई, क्योंकि उसकी योजना स्वस्थ न थी। अब वह बूढ़े हो गये हैं, हो सकता है, उसके अनुसार वह उस विफलता को अल्पकालीन पराजय माने, परन्तु यदि उनका अनुभव कहीं असिद्ध बन गया, तो उसका कारण यही होगा कि उनमें अपनी पुनर्योजना बनाने में दृढ़ाग्रह का अभाव हो गया है।

कोई भी मनुष्य उस समय तक दंडित नहीं कहा जा सकता जब तक वह रण से भागा नहीं—(अपने मन में ह्रास होना)।

"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत"

"मनएव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो:"

जेम्स हिल पूर्व से पश्चिम की ओर रेल बनाने के लिये धन जुटाने में लगा था। उसके पहले प्रयास में अल्पकालीन व्याघात आया, परन्तु उसने उस क्षणिक व्याघात को अपनी नयी योजनाओं द्वारा जीत में परिवर्तित कर दिया।

हेनरी फोर्ड को भी केवल प्रारम्भ में ही क्षणिक व्याघात नहीं पहुँचा था अपितु उच्च शिखर पर पहुँच चुकने के बाद भी उसे अनेक व्याघात पहुँचे थे, किन्तु इन व्यघातों ने उसे हतोत्साहित नहीं किया। उसने बार-बार नयी योजना रची और नियोजित योजना के अनुसार आर्थिक विजय पाकर ही शान्त हुआ।

हम विभूतिमानों की महान् सम्पदा का इकट्ठा करना तो देखते हैं, परन्तु बहुधा केवल उनकी सफलता पर ही ध्यान देते हैं, किन्तु हम उस क्षण की ओर ध्यान नहीं देते जिनसे जूझ कर वह प्रत्याशित पद पर पहुँचने में सफल होते हैं। **इस तत्व ज्ञान का कोई भी अनुयायी इष्ट-सिद्धि अथवा अर्थ संचय करने की आशा, बिना क्षणिक व्याघात अथवा विफलता के, नहीं कर सकता।**

जब व्याघात आता है, तब उसे संकेत रूप में अंगीकार कीजिये कि आप की योजना उपयुक्त नहीं है या वह त्रुटिपूर्ण है। अपने ध्येय की ओर नये उत्साह व योजना से पुनः चेष्टा कीजिये यदि ध्येय पर पहुँचने का दृढ़ाग्रह आपने छोड़ दिया, तो आप भगोड़े हैं। **"भगोड़ा कभी विजय नहीं पाता—विजयी कभी भागता नहीं है।"**

इन शब्दों को एक कागज पर बड़े अक्षरों में लिख लीजिये, और जहाँ आप सोते हैं सामने की ओर टांगिये ताकि सोते समय और सबेरे उठते समय उस पर दृष्टि पड़े।

कुछ लोग मूर्खतावश यह विश्वास करते हैं कि रुपया ही रुपया कमा

सकता है। यह सत्य नहीं है। इच्छा का द्रव्य सम्बन्धी तुल्यार्थ में परिवर्तन होना एकमात्र साधन है जिसके द्वारा रुपया बनता है। यह साधन भी यहाँ बताये गये नियमों के पालन से ही उपलब्ध हो सकता है। द्रव्य स्वयं जड़ वस्तु है इसके सिवा वह और कुछ नहीं है। वह न तो हिल-डुल सकता है, न विचार कर सकता है और न बोल ही सकता है। हाँ, वह उसकी बात अवश्य सुनता है, जो उसका आवाहन करता है।

जब आप "मर्नापी संघ" (Mastermind group) के सभासदों को चुनना प्रारम्भ करें, तब उन्हीं लोगों को लीजिये, जो क्षणिक व्याघात को गम्भीर रूप देते ही नहीं।

क्षमता को मूल्यवान् बनाने की योजना

इस अध्याय के अवशेष भाग में उन मार्गों तथा विधियों का विवरण दिया गया है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम का पारिश्रमिक पा सकने में सफलता प्राप्त कर सके! जो बात यहाँ बतायी गयी है, वह प्रत्येक कर्म-निष्ठ के लिये है। ऐसे ही कर्मनिष्ठ लोगों के लिये यह सिद्धान्त सदैव ही व्यावहारिक तथा लाभदायक हैं। साथ ही जो अपने आजीविका में आधिपत्य की आकांक्षा रखते हैं, उनके लिए तो यह अमूल्य सिद्धान्त होगी।

किसी भी व्यवसाय के आरम्भकाल में धन संचय या संग्रह करने मे सफलता के लिए, एक कुशल योजना बनाना आवश्यक है। उन लोगों के लिये, जो अपनी सेवा के बदले धन संग्रह करना चाहते हैं, क्रमवद्ध उपदेश दिये गये हैं।

यह जानना उत्साहवर्धक है कि सभी महापुरुष, अपनी क्षमता, कल्पना, या सूझ बेचकर ही विभूतिमान हुए हैं। संपत्ति के अभाव में इनके अतिरिक्त वे और दे ही क्या सकते थे।

विस्तृत रूप से जगत् में दो ही श्रेणी के लोग हैं, एक प्रकार के लोग **स्वामी नायक और अध्यक्ष** होते हैं और दूसरे वर्ग में **सैनिक, अनुचर, उपजीवी,** (श्रीकृष्ण, अर्जुन = स्वामी और सेवक)। पहले यह निर्णय कीजिए कि आप क्या बनना चाहते हैं, नेता या कर्मचारी, अध्यक्ष या उपजीवी, स्वामी, दास या नायक या सैनिक। इनके प्रतिफल में महान अन्तर है। कर्मचारी न्यायतः अध्यक्ष की अपेक्षा अपने श्रम का प्रतिफल (वेतन) पाने में उतने की आशा नहीं कर सकते जितने का अध्यक्ष अधिकारी है। बहुत से अध्यक्ष के बराबर वेतन पाने की आशा करते हैं, यह उनकी भूल है।

कर्मचारी होना अपमान नहीं है, कर्मचारी ही बने रहना कोई कीर्तिकर

ी नहीं है। बहुत से अध्यक्षों ने कर्मचारी बनकर ही अपना पद प्राप्त किया ै। वे बड़े नेता या अध्यक्ष बन गये, क्योंकि वे चतुर सेनानी या अनुचर थे। कुछ लोगों को छोड़, वह पुरुष, जो किसी नेता या अध्यक्ष का अनुसरण नहीं कर सकता, एक प्रमुख नेता या कुशल अध्यक्ष भी नहीं बन सकता। वह पुरुष, जो एक प्रमुख व्यक्ति का निपुणता से अनुसरण करता है, तीव्रता से बहुधा अध्यक्षता प्राप्त कर लेता है। निपुण कर्मचारी को बहुत से अवसर प्राप्त होते हैं, उनमें अपने अध्यक्ष से ज्ञान पाने का अवसर मुख्य है।

अध्यक्षता के प्रधान गुण या कर्तव्य

यहाँ पर अध्यक्षता के मुख्य अवयव दिये जाते हैं :—

१—**अडिग साहस**—अपने ज्ञान और आजीविका पर निर्धारित कोई भी अनुचर (Follower) ऐसे अध्यक्ष या नेता द्वारा शासित होना न चाहेगा, जिसमें आत्मविश्वास और साहस का अभाव है। कोई भी निपुण अनुचर ऐसे अध्यक्ष द्वारा दीर्घकाल तक शासित नहीं रहेगा।

२—**आत्म संयम**—वह मनुष्य, जो अपने को नियंत्रण में नहीं रख सकता, कभी भी दूसरो पर नियंत्रण नहीं कर सकता। आत्म नियन्त्रण अपने अनुचर के लिए एक प्रबल आदर्श होता है।

३—**न्याय की कुशाग्र बुद्धि**—न्याय और औचित्य से रहित कोई भी अध्यक्ष अपने अनुचरो पर शासन और उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा नहीं कर सकता।

४—**निश्चय की निर्दिष्टता**—वह पुरुष, जो अपने निश्चय से गिरता है, बताता है कि वह स्वयं ही स्थिर चित्त नहीं है। वह दूसरो का सफल अध्यक्ष नहीं बन सकता।

५—**योजनाओं की निर्दिष्टता**—निपुण अध्यक्ष या नायक को अपने कार्य की योजना बना लेना चाहिये। जो बिना किसी व्यावहारिक अथवा निर्णीत योजना के अटकलपच्चू काम चलाता है, एक अनिष्णात नेता या अध्यक्ष है। वस्तुतः वह उस पतवार रहित नौका के समान है, जो बहुत शीघ्र या कुछ देर में चट्टान से टकरा कर नष्ट हो जायगी।

६—**वेतन से अधिक कर्म करने का स्वभाव**—नेता अथवा अध्यक्ष तभी सफल होता है, जब वह अपने कर्मचारियो की अपेक्षा अधिक काम करने को सदा प्रस्तुत रहे। जितना वेतन उसको मिलता है, उससे अधिक काम करे। भले ही यह दंड स्वरूप लगे, पर नेतृत्व के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

७—**एक सुभग आकर्षक व्यक्तित्व**—कोई भी सुखी और असावधान

व्यक्ति सफल अध्यक्ष नहीं बन सकता। अध्यक्षता प्रतिष्ठा चाहती है। किसी भी अध्यक्ष को उसके अधीन कर्मचारी उस समय तक प्रतिष्ठा नहीं देते, जब तक उसका व्यक्तित्व आकर्षक, हँसमुख तथा प्रभावशाली नहीं होता।

८—सहानुभूति और समझ—अपने अधीन कर्मचारियों के लिए, सफल अध्यक्ष में सहानुभूति की भावना होनी चाहिये। उनकी समस्याओं तथा उनके भावों को समझने की योग्यता होनी चाहिये।

९—पूर्ण दायित्व उठाने को उद्यत रहना (चाहिये)—सफल अध्यक्ष को अपने कर्मचारियों की भूलें और न्यूनताओं का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये। यदि वह उनको दूसरे पर डालता है तो वह उस पद पर टिक नहीं सकता। यदि उसके एक कर्मचारी ने भूल की है और अपने को अयोग्य प्रमाणित किया है, तो अध्यक्ष को समझना चाहिये कि वह उसी की असफलता और अक्षमता है।

१०—विस्तृत जानकारी—कुशल अध्यक्ष को पद के पूर्ण दायित्व, कर्त्तव्य और अधिकार के विस्तृत विवरण से परिचित होना चाहिये।

११—सहयोग—सफल अध्यक्ष को सहयोग के सिद्धान्त को समझना और उसको लागू करना सीखना चाहिये तथा अपने कर्मचारियों को वैसा ही करने का प्रोत्साहन देना चाहिए। अध्यक्षता शक्ति चाहती है, और शक्ति सहयोग।

अध्यता या नेतृत्व के दो रूप हैं। पहला रूप वह है जो समर्थन और अनुमोदन द्वारा प्राप्त होता है। अध्यक्षता का यही रूप प्रभावशाली नेतृत्व का परिचायक है। दूसरा रूप वह है, जो बिना किसी समर्थन या अनुमोदन के बलप्रयोग द्वारा थोपा जाता है। इस प्रकार नेतृत्व करना कठिन और कटु होता है।

इतिहास साक्षियों से भरा पड़ा है कि शक्ति द्वारा प्राप्त नेतृत्व सहन नहीं किया जा सकता। डिक्टेटरों का पतन और बादशाहों का विलय या लोप होना निश्चित है। इसका निष्कर्ष यह है कि कृत्रिम नेतृत्व अधिक दिन नहीं टिकता।

जगत् ने नेता और अनुयायियों के बीच नये सम्बन्ध के युग में अभी पदार्पण किया है, जो अति स्पष्ट रूप से नये नेताओं की प्रतीक्षा करता है। वह एक नये छाप का नेतृत्व व्यवसाय और उद्यमों में चाहता है। जो शक्ति द्वारा पुराने ढंग का नेतृत्व प्राप्त किये हुये हैं, उनको नयी छाप के नेतृत्व से

सुपरिचित (सहयोग) होना और इसे अपनाना चाहिये। आज के युग में पद प्राप्त नेताओं को सेनानी अथवा अनुयायियों की पंक्ति में अपने को अर्पण कर देना चाहिए। सम्पूर्ण सफलता पाने के लिये सिवा इसके और कोई मार्ग नहीं है।

नियोजक और नियुक्त, मालिक और कर्मचारी या नेता और अनुयायियों का सम्बन्ध भविष्य मे पारस्परिक सहयोग का होगा, जो व्यवसाय में न्यायपरायण लाभ-वितरण पर आधारित होगा। भविष्य में नियोजक और नियुक्त का सम्बन्ध भूतकाल की अपेक्षा भागीदारी का होगा।

नेपोलियन, कैसर, रूस के ज़ार, काबुल का बच्चा सक्का शक्ति द्वारा प्राप्त नेतृत्व के उदाहरण थे। उनकी नेतागिरी आनन-फानन चली गई। इसी रूप के नेता व्यवसाय, उद्योग, श्रम आदि धन्धों से भी निकाल बाहर कर दिये जाते हैं। समर्थन तथा अनुमोदन द्वारा जो नेतृत्व प्राप्त होता है, वही स्थायो हो सकता है। जो नेतृत्व बलपूर्वक लादा जाता है, वह क्षणिक होता है।

नये छाप के नेतृत्व को चाहिये कि वह उन ग्यारह गुणों को अपनाये, जो इस अध्याय में दिये गये हैं। वह पुरुष, जो अपने नेतृत्व का आधार इनको बनायेगा, जीवन के किसी (कार्य) व्यवहार में प्रवेश पाने का प्रचुर अवसर प्राप्त करेगा। जगत् में असंतोष और बेकारी का यही कारण है कि नई छाप के नेतृत्व का अभाव है। पुरानी चाल के नेताओं को बाध्य होकर नई छाप के नेतृत्व में आने के लिए, अपने में सुधार करना होगा और नये नेतृत्व को अपनाना होगा। आवश्यकतानुसार आपको अवसर मिल सकता है।

नेतृत्व या अध्यक्षता में विफलता के दस मुख्य कारण

अब हम नेताओं या अध्यक्षो के उन दोषो पर आते हैं जिनके कारण वे असफल होते हैं। ऐसे नेता या अध्यक्ष को, जो यह नहीं जानते कि **क्या करें और क्या न करें**, यह जानना आवश्यक है।

(१) सर्वतोमुखी व्यवस्था करने की अयोग्यता

सफल नेतृत्व के लिए सर्वतोमुखी व्यवस्था करने की क्षमता अपेक्षित है। सौपे गए कार्य को करने में, किसी भी सच्चे नेता या अध्यक्ष को अपने सामर्थ्य भर तत्पर रहना आवश्यक है। वह कभी भी यह नहीं कहेगा कि "बहुत व्यस्त हूँ"। जब कोई व्यक्ति, चाहे वह नेता हो या कर्मचारी, अपनी योजना बदलने को या किसी और आकस्मिक अवसर पर ध्यान देने के

स्थान पर यह कहता है कि "बहुत व्यस्त हूँ" तो मानो वह अपनी अयोग्यता स्वयं बता रहा है। सफल अध्यक्ष या नेता को तो अपने पद से सम्बन्धित सभी अंगों या विषयों पर ध्यान देना चाहिए। इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि अपने अधीन योग्य प्रतिनिधि को सभी विवरण से सुपरिचित कराने का उसका स्वभाव होना चाहिए।

(२) अधम या नीच सेवा करने में अनिच्छा

वास्तव में, समय आने पर महान् नेता या अध्यक्ष किसी प्रकार के श्रम करने को उद्यत रहते हैं। ऐसे भी कार्य जिसे वे दूसरों से कहकर करा सकते हैं, उन्हें स्वयम् ही कर लेना चाहिए। "अमानी मानदप्रियः", "सबहिं मानप्रद आप अमानी", "आप सब में जो महान् है वही सबका सेवक है" आदि ऐसे सत्य हैं जिसका पालन एवम् आदर सभी योग्य नेता करते हैं!

(३) वेतन वृद्धि का लक्ष्य

अर्जित ज्ञान के आधार पर योग्यतानुसार कर्म करना ही अध्यक्ष का आदर्श होना चाहिए। जो ऐसा न कर केवल वेतन से प्रेरणा ग्रहण कर उसकी वृद्धि के लिए कर्म करते हैं, वे प्रायः भूल करते हैं, क्योंकि संसार योग्यता का वेतन नहीं देता, अपितु काम का देता है, "जैसा काम वैसा दाम।"

(४) अपने अनुयायियों से स्पर्धा का भय?

वह अध्यक्ष या नेता जो डरता है कि कहीं अधीन व्यक्ति ही उसका पद न ग्रहण कर ले वस्तुतः शीघ्र या विलम्ब में निश्चय ही उसी भय का शिकार हो जाता है। योग्य नेता अपने अधीन कर्मचारी को, जिसकी नियुक्ति वह इच्छानुसार करता है, अपने पद के किसी एक विभाग का ब्यौरा सिखा देता है। इस प्रकार उसके द्वारा दीक्षित अनेक कर्मचारी अनेक विभागों का कार्यभार वहन करने में समर्थ हो जाते हैं। केवल इसी रीति से, एक अध्यक्ष या नेता, स्वयं ही अनेकत्व प्राप्त करता है। एक प्रकार से देखा जाय तो वह अपने को कई स्थानो पर या एक ही समय मे अनेक विषयो पर कार्य करता हुआ सा प्रतीत होगा। वस्तुतः वह जिस कुशलता से इन कार्यों पर नियन्त्रण करता है वही कुशलता ही उसकी सफलता का भेद है। एक कुशल नेता, अपने कार्य के ज्ञान द्वारा और अपने व्यक्तित्व की आकर्षण शक्ति द्वारा दूसरों (अपने कर्मचारियों) की क्षमता को बढ़ा देता है। ऐसा करने से वह उन कर्मचारियों को स्वतन्त्र रूप से बिना अध्ययन के कार्य सम्पादित करने की क्षमता देता है, साथ ही अधिक और उत्तम सेवा के लिए

उन्हें प्रोत्साहन भी देता रहता है। यह शाश्वत सत्य है, कि सम्भवतः स्वयं अपनी चेष्टा से व्यक्ति जो अर्जन कर सकते हैं, इसकी अपेक्षा वे अधिक वेतन अपनी इस योग्यता के लिए पाते हैं। प्रत्येक अध्यक्ष में स्वतः कार्य करने की क्षमता तो रहती है फिर भी दूसरों से काम करा लेने की योग्यता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

(५) कल्पना या सूझ का अभाव

जिसमें कल्पना शक्ति नहीं होती, वह आकस्मिक घटना या अवसर का सामना नहीं कर सकता। यही कारण है कि बिना कल्पनाशक्ति के न तो वह कोई योजना बना सकता है और न अपने अनुयायियों का पथ-प्रदर्शन कर सकता है। इसलिये अध्यक्ष मे कल्पना और सुझाव का होना नितान्त आवश्यक है। बिना इनके वह सफल अध्यक्ष हो ही नहीं सकता।

(६) स्वार्थपरता

वह नेता या अध्यक्ष जो अपने अनुगामी या अधीन कर्मचारियों के कर्म से सम्बन्धित सभी मान्यताओ को स्वयं अधिकृत करता है, निश्चित ही वह अपने कर्मचारियो के कोप का भाजन होगा। वास्तविक महान् नेता या अध्यक्ष **अपने लिये मान्यता कभी नहीं चाहता**। वह मान्यता वाले अपने अधीन को देख कर ही प्रसन्न और सन्तुष्ट रहता है। ऐसा सन्तोष उसमें इसलिये आ जाता है क्योंकि वह जानता है कि बहुत से लोग प्रशंसा और प्रतिष्ठा पाने पर उतना ही अधिक श्रम से कर्म करते हैं, जितना कि शायद वे धन पाने पर न करते।

(७) असंयम

अनुयायी या कर्मचारी असंयमी नेता या अध्यक्ष की प्रतिष्ठा नहीं करते। इसके अतिरिक्त किसी भी रूप के भिन्न-भिन्न व्यसनो मे जो अध्यक्ष लीन होते हैं, वे अपनी सहनशक्ति और जीवनशक्ति को नष्ट करते हैं।

(८) असन्तोष व द्रोह

यह अंश बताये गये दोषो की सूची का पहला दोष होना चाहिये था। वह नेता या अध्यक्ष जो अपने दायित्व (Trust) के प्रति दृढ़ भक्त नहीं है, अर्थात् अविश्वसनीय है, और जो अपने ऊपर अथवा अन्य सम्बन्धित लोगो पर विश्वास नहीं करता, बहुत दिन तक अध्यक्षता नहीं कर सकता। असन्तोष या द्रोह धूल से भी नीचा है। असंतोष अध्यक्ष के सिर पर तिरस्कार और घृणा के कण लाता है। वस्तुतः एक असंतोष ही के कारण वह उसका

शिकार हो जाता है। अराजकता और द्रोह जीवन के प्रत्येक व्यवहार में असफलता को ही जन्म देते हैं।

(९) नेतृत्व के प्रभुत्व को जताना या दृढ़ करना

निपुण नेता अपने अनुगामियों को प्रोत्साहन देकर उनका नेतृत्व करता है। वह अपने अनुयायियों को भयभीत करके उन्हें त्रस्त नहीं करता। वह अध्यक्ष या नेता जो अपने अधिकार की छाप अपने अधीनों पर जताता है, बलपूर्वक प्राप्त नेतागिरी की श्रेणी में आता है। यदि एक नेता या अध्यक्ष वास्तविक नेता है, तो उसको अपने अधिकार को विज्ञापित करने की आवश्यकता नहीं होती। केवल उसके आचरण—सहानुभूति, ग्रहणशक्ति, न्यायपरायणता आदि ऐसे प्रदर्शन हैं,जो उसकी योग्यता को स्पष्ट बताते हैं।

(१९) मानपद की अवधारणा

समर्थ नेता या अध्यक्ष अपने अनुगामियों से मान पाने की इच्छा नहीं रखता। जो पुरुष अपने मानपद पर दुराग्रह करता है, वह अपना सारा गौरव खो बैठता है। सच्चे नेता का द्वार सभी के लिये खुला रहता है और उसका कार्यभवन तथा विधि दिखावा तथा आडम्बर से मुक्त रहती है।

इस अध्याय को पूरा करने के पहले, आपका ध्यान कुछ हितकारी क्षेत्रों की ओर आकर्षित किया जाता है, जहाँ नेतृत्व पतन की ओर उन्मुख हो रहा है। इसलिये इस क्षेत्र में नई भावना (रूप) के नेता या अध्यक्ष के लिये बहुत अच्छा अवसर है।

पहला—राजनीति क्षेत्र में नये नेताओं की बहुत बड़ी माँग है एक ऐसी माँग, जिसको यदि हम आपत्कालीन स्थिति कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अधिकाश राजनीतिज्ञ केवल जिह्वा की कारीगरी दिखाते हैं, उनकी कथनी में बल है, करनी में नहीं। हो हल्ला मचाना, आकाश को सिर पर उठाना ही उनकी राजनीति रह गयी है। उन्होंने व्यवसाय, उद्यम, उद्योग, धन्धों को गन्दा बना दिया है। कर का बोझ इतना बढ़ा दिया है कि जनता उससे दबकर कराह रही है।

दूसरा—बैंक व्यवसाय क्षेत्र सुधार की ओर जा रहा है। पहले इस क्षेत्र में नेताओं या अध्यक्षों ने जनता के विश्वास को खो दिया था। यही कारण है कि बैंक महाजनों ने सुधार की आवश्यकता अनुभव की।

आज प्रायः प्रत्येक बैंक नये सुधारों की ओर अग्रसर हो रहा है।

तीसरा— उद्योग क्षेत्र में नये रूप के अध्यक्षों की माँग है। पुरानी चाल के अध्यक्ष मानवता की ओर ध्यान न देकर केवल अपने स्वार्थ पर ही ध्यान देते थे। भविष्य के अध्यक्ष को उद्योग में अपने आप को एक अर्ध लोक अधिकारी (Quasi Public Official) समझना पड़ेगा। भविष्य में आधुनिक अध्यक्ष को अपने कर्त्तव्य एवम् उत्तरदायित्व को इस रीति से निभाना होगा ताकि अपने आचरण से किसी भी प्रकार की असुविधा एवम् कष्ट न पहुँचने पाये। श्रमिकों से मनमाना काम लेना अब बीते युग की बात हो गई। जो पुरुष व्यवसाय, उद्योग, और श्रम की अध्यक्षता या नेतागिरी की अभिलाषा कर रहा है, उसको यह सब ध्यान में रखना चाहिये।

चौथा—भविष्य के धार्मिक क्षेत्र के नेता को भूतकाल के मुर्दे उखाड़ने और अजन्मे भविष्य की चिन्ता छोड़ कर, अपने मतानुयायियों की ऐहलौकिक आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देना होगा। उनकी वर्तमान आर्थिक तथा निजी समस्याओं को सुलझाने में सहायता देनी होगी।

पाँचवाँ—न्याय, वैद्यक, और शिक्षा वृत्ति आदि व्यवसाय के क्षेत्र में, एक नयी छाप की नेतागिरी और कुछ सीमा तक नये नेताओं की आवश्यकता बनी रहेगी। विशेष रूप से शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार के नेतृत्व की बड़ी आवश्यकता है। आज भारत को आधुनिक प्रकार के उत्साही नेताओं की बड़ी आवश्यकता है। इस क्षेत्र के नेता को भविष्य में लोगों को शिक्षा देते समय यह सिखाना होगा कि जो ज्ञान वे पाठशाला में पा रहे हैं, उसका उपयोग संभव है। साथ ही यह बताना पड़ेगा कि वे किस प्रकार एवम् कैसे उनका उपयोग जीवन में कर सकते हैं। शिक्षकों को अब अधिकतर सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार में शिक्षा देनी चाहिये।

छठा—नये नेताओं (संचालकों) की पत्र-प्रकाशन में आवश्यकता होगी। भविष्य के समाचारपत्रों को सफलतापूर्वक चलाना होगा। "विशेष सुविधाओं" को तिलांजलि देनी होगी। पत्रों को विज्ञापनों की सहायता से मुक्त कराना होगा। उनको उन लोगों

के हित का प्रचार बन्द कर देना होगा, जो उनके विज्ञापन के लिये पन्ने के पन्ने भर देते हैं। उन पत्रों को भी बन्द करा देना होगा जो अश्लील और कामुक चित्र छाप कर लोगों के मन दूषित करते हैं।

ये कुछ क्षेत्र हैं जिनमें नई छाप के नेताओं को अवसर प्राप्त है। जगत तीव्र गति से परिवृत्त हो रहा है। इस परिवृत्त के अनुसार उन साधनों को जिनके द्वारा मनुष्य के स्वभाव में उन्नति होती है, समयानुसार बदलना या अपनाना होगा। उपर्युक्त साधन निःसन्देह सभ्यता की ओर ले जायेंगे।

अपनी सेवाओं के बदले धन प्राप्त करने की नई रीति

भविष्य में ऐसे पुरुष या स्त्री को, जो अपनी सेवाओ के बदले धन कमाना चाहते हैं, यह जान लेना चाहिये कि अब नियोजक (Employer) और नियुक्त (Employee) के सम्बन्ध में बहुत भारी परिवर्तन हो गया है। भविष्य में व्यवसाय एवम् निजी सेवा के क्षेत्रो में सोने के नियम (Rule of gold) की अपेक्षा "सुनहरा नियम" ही मुख्य अंग होगा, अधिकतर भागीदारी सम्बन्ध होगा। साथ ही नियोजक, नियुक्त और जनता का समन्वय होगा।

सेवा व्यवसाय की यह नई रीति अनेक कारणों से नई कही जाती है। पहले दोनो नियोजक ओर नियुक्त (Employer & Employee) अथवा मालिक और कर्मचारी भविष्य मे समान रूप से सेवक समझे जायेंगे, **जिनका कर्तव्य बड़ी योग्यता से लोक सेवा करना होगा।** भूतकाल में वे आपस ही में सौदेबाज़ी करते रहे, लोक पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं देते थे। जिनकी पसीने की कमाई पर उनका यह सौदेबाज़ी होती थी, वे प्रायः शोषित एवम् उपेक्षित ही रह जाते थे। आज यह संभव नहीं है।

अमेरिका में जब मंदी आई, तो पीड़ित जनता ने बहुत कड़ा विरोध किया। इस विरोध का कारण यह था कि उस वर्ग विशेष के स्वत्व सभी ओर से वैयक्तिक हितों और लाभों के लिये संघर्ष करने वालों के द्वारा कुचले जा रहे थे। जब यही मंदी का मलवा साफ हो गया और व्यापार फिर से सामान्य स्तर पर आ गया तो दोनों नियोजक और नियुक्त समझ गये कि जनता की गाढ़ी कमाई पर जो गुलछर्रे वे उड़ा रहे थे, वे दिन अब लद गये। अब तीसरे पक्ष के माथे पर सौदेबाज़ी न हो सकेगी, भविष्य में वास्तविक नियोजक जनता होगी।

यह तथ्य मन में सबसे पहले उन व्यक्तियों को धारण कर लेना चाहिये, जो अपनी निजी सेवा के बदले धन कमाने की खोज में हैं।

एक वह समय था कि एक बिजली का कर्मचारी जब मीटर देखने आता था, तो दरवाज़ा निधड़क खोलकर घुस आता था और जनता को डाँटता था कि मैं इतनी देर से खड़ा हूँ तुम्हें यह ख्याल क्यों नहीं होता ? ठीक इसी प्रकार रेल स्टेशन पर जब किसी गाड़ी का समय पूछने जाओ तो सीधा उत्तर मिलता था कि बाहर टाइम टेबुल देखो या जब टिकट लेने जाओ तो बाबू अपने यार दोस्तों से गप-शप लड़ाते रहते थे। फ़ुर्सत मिलने पर ही टिकट मिलता था। भारत की पुलिस का एक सिपाही गाँव में गया नहीं कि सब अपने घरों में दुबक गये। दूकानदार डाँट फटकार कर मोल तोल करने पर कहता था आगे बढ़ो यहाँ तुम्हारे लायक माल नहीं है।

कितना समय बदल गया। मंदी के कारण हज़ारों बैंकों ने अपना टाट पलट दिया। अब वे अपना दरवाजा खुला हुआ रखते हैं जहाँ कोई भी जमा करने वाला आ सकता है। अब उन लोगों के भाव बदल गये हैं। अब नम्रता और धन्यवाद से ग्राहकों तथा अभिभावकों का अभिवादन करते हैं, तथा उनकी समस्याओं में सहायक होते हैं।

नम्रता और सेवा ही अब बाना है। छान-बीन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब दूकानदार और कर्मचारी, जनता की इच्छा के अनुकूल रखे जाते हैं। आज जनता की अवहेलना कर कोई भी सरकारी या गैर-सरकारी संस्था चल ही नहीं सकती।

मंदी के समय यह अध्ययन कर कि कोयले के व्यवसाय का क्यों ह्रास हुआ, लेखकों को कई महीने पेनसिलवेनिया की कोयलों की खदानों में रहना पड़ा। बहुत से कारणों में मुख्य कारण यह था कि लोभ ने दोनों नियोजक और नियुक्त को मिटा दिया था। अति उत्साही श्रमिकों या कर्मचारियों के नेताओं द्वारा दबाव पड़ने पर मालिकों के लोभ ने उस व्यवसाय को क्षीण कर डाला। कोयला खदान के अधिकारी और उनके कर्मचारियों के बीच आपस में भारी सौदेबाज़ी से कोयले के दाम बढ़ने लगे। अन्त में उन्होंने यह जाना कि उनकी इस सौदेबाज़ी के कारण एक आश्चर्यमय व्यवसाय तेल जलाने के यंत्रों के कारखानों का हो गया है। साथ-ही-साथ उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि कोयला समाप्त होते ही तेल की उपज में वृद्धि हो गई है।

अनेकों ने बाइबिल में पढ़ा है, "पाप का शुल्क मृत्यु है" अथवा "पाप

का अन्त नर्क है", किन्तु बहुत थोड़ों ही ने इसके अर्थ अथवा तत्व को जाना है। आज भी अनेक वर्षों से समस्त संसार विवशता से इस प्रवचन को सुनता आ रहा है कि "जो बोओगे सो पाओगे", जो बुनिये सो लुनिये"। हो सकता है कि अमेरिका में उपर्युक्त कारण से ही मन्दी हुई हो, किन्तु भारत में ऐसी दशा का कारण कोई आश्चर्य नहीं, तेजी भी हो सकती है जनता अब तेजी के कारण घबड़ा उठी है।

यह अर्थ लगाना अयुक्त न होना चाहिए कि मन्दी एक फसल के रूप में है जिसको जगत् विवश होकर काट रहा है। दुख तो यह है कि जगत् ने अयुक्त बीज बोया है। प्रत्येक किसान जानता है कि अनाज की फसल पाने को वह बबूल के बीज नहीं बो सकता। विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से जगत् के लोगों ने सेवा-धर्म को गुण और परिमाण दोनों में (अनुचित) अयोग्य बीज बोकर एक भयंकर स्थिति पैदा कर दी है। लगभग सभी बिना कुछ दिये हुए पाने के खिलवाड़ में लगे हुए हैं।

यह उदाहरण उन लोगों को सावधान करने के लिए दिये गये हैं, जो अपनी व्यक्तिगत सेवा बेचना चाहते हैं। यह दिखलाने को कि अपने चरित्र के कारण हम वही हैं, जो हैं—यो यच्छ्रद्धः स एव सः—"हम वहीं हैं जहाँ हम हैं" और हम क्या हैं? कार्यकारण का एक सिद्धान्त है। जैसा जिसका व्यवसाय होता है, वैसी ही उसकी आय होती है और वैसा ही उसका आदान-प्रदान होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति की जैसी आय होती है, वैसा ही उसका व्यय होता है।

इसी तथ्य को सामने रखकर कि जगत् में असाम्यता, असन्तोष, बेकारी, अधर्म और विप्लव न हो और सब का कल्याण हो, श्रीकृष्ण ने ५००० वर्ष पहले गीता द्वारा कर्मयोग के अंतर्गत नीचे लिखे श्लोकों में मन्त्र रूप में यह उपदेश दिया है। जिसका आदर्श था सर्वःभूतहिते रताः, "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" या "सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामयाः"।

जब यह ग्रन्थ यज्ञार्थ कर्म का प्रतिपादन कर रहा है, तब गीतानुसार नेतृत्व और अध्यक्ष तथा अनुयायी और कर्मचारी के बीच अथवा नियोजक और नियुक्त के बीच किस प्रकार का भाव होना चाहिये? भगवान् कहते हैं:—

नियतं कुरु, कर्मत्व कर्म ज्यायोह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च तेन प्रसिद्धयेदकर्मणः॥ ३-८

तू नियत किये हुए कर्म को कर, कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

उपर्युक्त आदेश कर्मयोग के अन्तर्गत परमार्थ के लिए दिया गया है। व्यवहार में भी जो कर्म आपके भरोसे पर दिया जाता है, अर्थात् समष्टि के हित के लिये जो काम आपको सौंपा जाता है, यदि उसको कुशलता से कर्त्तव्य समझकर न किया गया तो, निश्चय है कि आप पदच्युत कर दिये जाते हैं अथवा कार्य से रहित कर दिये जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं :—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ३-९

यज्ञार्थ कर्म, अर्थात् लोकहित कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धनकारक हैं। हे कौन्तेय! उसी के अर्थ कर्म का आसक्ति रहित होकर भली प्रकार आचरण कर।

समष्टि के हित जो भी कर्म है जैसे खेती, वणिज, संगीत, कला, आविष्कार लोकोपकारी कर्म इत्यादि, सब यज्ञार्थ कर्म ही हैं। यज्ञ के अर्थ कर्म (गीतांक) हैं, तब यहाँ "तदर्थ" शब्द के अर्थ कर्म के हित ही कर्म (Work for work sakes) ठीक हैं। अपने वैयक्तिक स्वार्थ के जो भी कर्म हैं, अर्थात् सकाम कर्म, वे बन्धन के रूप हैं।

यज्ञार्थ कर्म एक मुख्य साधन जगत् का तथा अपने कल्याण या सुविधा का है। जब आप दूसरों के हित और सुविधा का प्रयत्न कर रहे होंगे, तब आपकी सुविधा और हित तो स्वयं सिद्ध है अर्थात् सुरक्षित अपने आप ही हो जाती है। लोकोपकारार्थ कर्म अर्थात् जनता जनार्दन की सेवा करना स्वयं परमात्मा की सेवा है।

यदि लोकोपकारी कर्म में स्वार्थ ही ध्येय हुआ तो, जिस कर्म में स्वार्थ आ जाता है, वहाँ संघर्ष होना बन्धनकारी नहीं है, तो क्या है? गीता के पहले ही श्लोक में "मामकाः" आया है, जहाँ मेरा तेरा की भावना हुई, वहाँ महाभारत हो जाना आश्चर्य नहीं है। यों तो मिलमालिक और कर्मचारियों में अथवा नियोजक और नियुक्त में रोज ही संघर्ष होता रहता है, जो स्वार्थ का परिणाम है।

अब इसको यों स्पष्ट किया है :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ ३-१०

ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त हो और यह यज्ञ लोगों को इच्छित कामनाओं का देने वाला हो।

अब देखिये इस अध्याय में ऊपर कहा गया है कि अब नयी छाप के नेतृत्व को अपनाना होगा तथा इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है, और यह भी कहा है कि नियोजक और नियुक्त में भागीदारी का सम्बन्ध होगा, अन्यथा असन्तोष और द्रोह आदि का भय है।

उपर्युक्त श्लोक इस भाव को स्पष्ट कर देता है कि अपना वैयक्तिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिये ईश्वर ने मनुष्य को नहीं बनाया है। यज्ञ के निमित्त ही उसकी सृष्टि हुई है।

इसलिये :—

देवान्भावयतानेन ते देवा: भावयन्तुव:।
परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ॥ ३-११

इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में (कर्तव्य समझ कर) उन्नति करते हुये परम कल्याण को प्राप्त होगे।

देवता यहाँ पर "दिव्यते-प्रकाशते-विद्वांसः देव" के अर्थ में है अर्थात् विशेष बुद्धि, बल, धर्म, ज्ञान आदि जिस पुरुष में हो वह देवता—नेता, नियोजक, अध्यक्ष, मनीषी अथवा माता, पिता, गुरु, विभूतिमान् आदि।

यह श्लोक राष्ट्र के लिये परम कल्याणकारी है। यह दो शब्द, "परस्पर भावयन्त:" ही जगत् का आधार हैं। यदि मनुष्य मे परस्पर सहानुभूति-सद्भावना न हो, तो एक ही क्षण में सृष्टि का अन्त हो जायगा। इन शब्दों पर जितना ही आप विचार करेंगे उतनी ही इसकी व्यापकता बढ़ती जायेगी। सहकारी संघ का तो यही मूलमन्त्र और आधार है। इसी सिद्धान्त को अपनाने से किसी भी राष्ट्र की सभी योजनायें सफल होती हैं। किसान अन्न देता है, लोहार-बढ़ई खेती के साधन के लिये हल आदि सजाते हैं। बणिक जन किसानों से अन्न इकट्ठा कर जनता में वितरण करते हैं। इसी प्रकार सहयोग भावना से प्रेरित होकर राष्ट्र के नेता, अनुयायी अध्यक्षों और कर्मचारियों के मन में यदि ऐसी भावना होती है तो, राष्ट्र ही स्वर्ग हो जाता है।

ऐसा न हो तो :—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ ३-१२

यज्ञ द्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे लिये बिना माँगे ही प्रिय भोगों को देंगे, उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष इनके लिये बिना दिये ही भोगता है **वह निश्चय चोर है** ।

यज्ञ की महिमा अन्त में इस भाँति कहते हैं :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ३-१३

यज्ञ से शेष बचे हुये अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब विघ्नों (पापों) से छूट जाते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिये ही पकाते हैं वे तो पापों को खाते हैं ।

इस श्लोक में कर्मयोग का सार वर्णन किया गया है । इसको जीवन के सभी पक्षों में लगाइये, तब इस श्लोक की महत्ता प्रगट होगी । इस श्लोक के पिछले दो चरणों का भाव यह है कि समष्टि के हित की वस्तु को व्यष्टि के हित में लगाने वाला चोर है, पापी है ।

आजकल व्यवसाय, उद्योग तथा राज्यों में यही भावना है कि जहाँ तक हो अपने-अपने अधीनों को कम से कम देकर अपनी तिजोड़ियाँ भरें । यही कारण है कि जनता में असन्तोष है । आज लोगों में यज्ञ का शेष भाग ही न लेकर पूर्ण यज्ञाहुति को पचा लेने की चेष्टा रहती है । यही मनःस्थिति आये दिन हड़ताल और विरोध लाती है । अन्त में :—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ सजीवति ॥ ३-१६

जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाए हुये सृष्टि-चक्र के नियम अनुसार व्यवहार नहीं करता अर्थात् कर्मों को नहीं क ता वह इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला **पापी पुरुष व्यर्थ ही जीता है** ।

आप में गुण, परिणाम और उत्साह कितना है
(What is your 'QQS' Rating)

सुदक्षता और स्थायी रूप से सेवा विक्रय में सफलता के कारणों का पूर्ण व स्पष्ट वर्णन किया गया है । जब तक यह कारण विश्लेषण समझ कर **प्रयोग** में न लाये जायें तथा इनका अध्ययन न किया जाय, तब तक कोई भी व्यक्ति अपनी सेवा को, लाभप्रद रूप और स्थायी रूप से, नहीं बेंच सकता । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी सेवाओं का दूकानदार होना चाहिये । **गुण**

(Quality गुण, धर्म, शक्ति) और सेवा प्रतिदान का **परिमाण** (Quantity) तथा **उत्साह** (Spirit), वीर्य, सत्त्व, तेज, उत्साह प्रतिदान के कार्य व्यापार का अधिकांश रूप में मूल्य, जीविका तथा कार्य का काल निर्णय करते हैं।

वैयक्तिक सेवाओं को लाभकारी रूप में बेंचने के लिये (जिसके अर्थ स्थायी रूप का व्यापार और सन्तोषप्रद मूल्य, सुखी वातावरण है), प्रत्येक को चाहिये कि उपर्युक्त सूत्र (QQS = गु.प.उ.) को ध्यान में रखें। जिसका अभिप्राय यह है कि जब **गुण** (Quality) के साथ **परिमाण** (Quantity) एवम् उचित **उत्साह** (Spirit) का संयोग होता है तो दूकानदारी लाभकारी बन जाती है। इस सूत्र को याद रखिये और **इसको स्वभाव रूप से प्रयोग में लाइये**।

निःसंशय होने के लिये एवम् इस सिद्धान्त के अर्थ को यथार्थ रूप में समझने के लिये इस सूत्र का विश्लेषण करने से हमें निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं :—

गुण (Quality)—अपने पद से सम्बन्धित सेवा के गुण का अर्थ यह है कि जहाँ तक सम्भव हो सभी विषयों में कुशल रीति से व्यवहार करने की योग्यता अर्थात् अच्छे से अच्छा जो कर सकते हो करो।

परिमाण (Quantity)—सेवा के परिमाण में इस रूप को समझो। जिस काम के योग्य आप हैं, उसमे सभी समय पर, सभी प्रकार की सेवा करने का **स्वभाव** रखो। इस तात्पर्य से सेवा की मात्रा को बढ़ाओ कि उसके अभ्यास और अनुभव द्वारा एक कुशल सेवा का विकास हो सके। यहाँ पर पुनः **स्वभाव** पर दृढ़ता लाने की आवश्यकता है। अधिक से अधिक जो कर सकते हो, करो।

उत्साह (Spirit)—सेवा के उत्साह की इस अर्थ में व्याख्या करनी चाहिये कि जिससे उसका आचरण स्वभाव सदृश हो सके और मिलकर चलने का अभ्यास पड़ सके। यह आचरण अपने साथियों और संग के कर्मचारियों को सहयोग तथा प्रोत्साहन देगा। जो कुछ तुम भला कर सकते हो करो।

आपने कितनी सेवा की और किस प्रकार की सेवा की, इस पर सेवा का मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। सेवा का मूल्य तो तब निर्धारित किया जाता है, जब यह प्रत्यक्ष हो कि आपने किस भावना से सेवा की।

वैयक्तिक सेवाओं के बारे में भी जो वस्तु सफलता की ओर ले जाती है, उन नियोजनों के सम्बन्ध में वर्णन करते हुये एण्ड्र् कारनेगी ने दूसरों की अपेक्षा इस (उत्साह) विन्दु पर अधिक बल दिया था। उन्होंने पुनः-पुनः

गौरव रूप से मेल-मिलाप के आचरण पर आग्रह किया था। वह किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना ही बड़ा गुण वाला एवम् दक्षता से काम करने में बड़े से बड़े परिमाण का अधिकारी क्यों न हो, उस समय तक प्रोत्साहन न देता था जब तक कि वह मिलनसार होने की भावना से काम नहीं करता था। कभी भी इसके विपरीत गुणवाले को वे अपने यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे जब तक कि उसे अपने यहाँ नहीं रखता था। इसे प्रमाणित करने को उन्होंने इस गुण (मिलनसारी) पर बड़ा मूल्य लगाया था। उन्होंने अपने इस आदर्श के अनुरूप चलने वाले अनेकों व्यक्तियों को धनवान बना दिया और जो अनुरूप न हुए, उनको दूसरों के लिये पद छोड़ना पड़ा।

सुहावने हँसमुख व्यक्तित्व के महत्व पर गुरुता दी गई है, क्योंकि यह ऐसा अंग है जो व्यक्ति को उचित उत्साह से सेवा योग्य बना देती है और, यदि किसी में ऐसा व्यक्तित्व है जो प्रीतिकर होने के साथ-साथ मिलनसारी-भावना की प्रवृत्ति से सेवा करने की भावना एवम् उत्साह का संवर्धन करता है, तब यह विभव, गुण और परिमाण दोनों, की न्यूनता की पूर्ति कर देती है। हँसमुख स्वभाव के स्थान की पूर्ति किसी अन्य गुण की सफलता नहीं कर सकती, क्योंकि 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

आपकी सेवा पूँजी का मूल्य

ऐसा व्यक्ति जिसकी आय पूर्णतयः व्यक्तिगत सेवा बेंच कर रही होती है, वह किसी भी व्यवसायी से कम नहीं है। यहाँ यह भी जोड़ देना चाहिये कि ऐसे व्यक्ति आचरण के ठीक-ठीक उन्हीं नियमों से शासित होते है, जैसे अन्य व्यवसायी।

इसको इसलिये महत्व दिया जाता है, क्योंकि अधिकाश लोग जो सेवा-धर्म के व्यवसाय के द्वारा जीविका अर्जन करते है, अपने को वणिज व्यापार से सम्बन्धित आचरणों के नियमों एवम् उत्तरदायित्वों से मुक्त समझने की भूल करते हैं।

सेवा-धर्म सम्बन्धी व्यापार की नई रीति ने वस्तुतः नियोजक और नियुक्त (Employor & Employee) दोनों को भागीदारी की संधि करने को विवश कर दिया है। दोनों को तीसरे पक्ष अर्थात् जनता जनार्दन के हित की अपेक्षा करनी पड़ती है।

"जाओ और उठा लाओ" (Go-Getter) के दिन लद गये। अब तो "जाओ और देओ" (Go-Giver) के दिन हैं। हाँथी के दाँत बाहर निकल आये, भीतर करना कठिन है। अब व्यापार दबाव का न होगा।

आपकी 'बुद्धि' का वास्तविक मूल्य, आपकी धनराशि से जो आप कमा रहे हैं, जांचा जा सकता है। एक सीधा-सादा अनुमान आपकी सेवा (पूँजी) के मूल्य का लगाया जा सकता है, जो आपकी वार्षिक आय को १६$\frac{1}{4}$ से गुणा करने पर निकल सकता है; क्योंकि यह युक्तियुक्त अनुमान है कि आपका मूलधन आठ आने सैकड़ा ब्याज पर लगा है। बाजार में चलने वाला सिक्का भी छः प्रतिशत का ब्याज लाता है। बुद्धि से अधिक सिक्के का मोल नहीं है, सिक्के का तो बहुधा कम मूल्य होता है।

कुशल (कार्यक्षम) 'बुद्धि' का यदि लाभप्रद व्यापार किया जाय तो, परचून या अन्य किसी वाणिज्य के व्यवसाय में आवश्यक धन की अपेक्षा 'मस्तिष्क' की पूँजी अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी ! यह पूँजी मंदी के कारण स्थायी रूप से कभी क्षीण नहीं हो सकती, न तो इसे कोई चुरा सकता है, न यह व्यय की जा सकती है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय चलाने में आवश्यक धन बालू के ढेर के समान मूल्यहीन है। जब तक उसमें कुशल बुद्धि नहीं मिश्रित होती तब तक उसका उचित मूल्य नहीं बन पाता।

असफलता के तीस प्रधानकारण

इनमें से देखिए कितने आपको जकड़े हुए हैं :—

जीवन सबसे बड़ा दुःखान्त नाटक है। इस नाटक में स्त्री और पुरुष सम्मिलित हैं, जो सोत्साह प्रयत्न करते हैं और विफल होते हैं। यह दुःखान्त नाटक, थोड़े से सफल होने वाले व्यक्तियों की तुलना में, अपेक्षाकृत अधिकांश लोगों पर दुखान्त रूप में घटित होता है। लेखक को कई सहस्र स्त्री और पुरुषों में अनुसंधान करने की सुविधा प्राप्त हुई थी, विश्लेषण से मालूम हुआ कि अट्ठानवे प्रतिशत विफल प्रमाणित हुए।

विश्लेषण कार्य ने प्रमाणित कर दिया है कि असफलता के तीस प्रधान कारण हैं। इसी प्रकार तेरह प्रधान सिद्धान्त हैं, जिनके द्वारा लोग संपदा और विभव संचित करते हैं। इस अध्याय में तीस कारणों का विवरण दिया जायगा। ज्यों-ज्यों आप सूची पढ़ते जायें, अपने को प्रत्येक से मिलाकर जाँच करते जाइये। देखिए कि इनमें से आप में कितने विफलता के और कितने सफलता के कारण हैं।

कारणों की सूची

१—कुल परम्परा की पृष्ठभूमि

जो लोग मस्तिष्क शक्ति की शून्यता में जन्में हैं, उनके लिए कुछ भी किया जाय थोड़ा है। यह शास्त्र ज्ञान इस दुर्बलता को दूर करने के लिए केवल एक ही निर्देश दे सकता है—मनीषी (विशेषज्ञ) की सहायता लो, तब ही इसका निरूपण हितकर है। प्रस्तुत तीस कारणों मे से एक न-एक विफलता का कारण ऐसा होता ही है जो सरलता से किसी व्यक्ति द्वारा ठीक नहीं किया जा सकता। भारत में इसको पूर्व जन्मकृत कर्मफल कहकर समाधान कर लेते हैं।

२—जीवन में एक सुनिश्चित उद्देश्य या ध्येय का अभाव

उन व्यक्तियों के लिए, जो एक निश्चित ध्येय को लक्ष्य नहीं करते, सफलता की कोई आशा नहीं। अनुसंधान के अनुसार अट्ठानवे प्रतिशत व्यक्तियों का ध्येय नहीं था, अर्थात् निश्चयात्मक बुद्धि का अभाव था, जिसका कारण गीतानुसार यह है :—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २-४४

भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति और उससे अपहृत चित्त वालों में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।

३—सामान्य अवस्था से ऊपर उठने की आकांक्षा का अभाव

वह व्यक्ति जो इतना निरभिलाषी है कि ऊपर उठने की इच्छा ही नहीं करता और अकर्मण्यता से मुक्त नहीं होता, उसका तो कोई भी आशाप्रद उद्धार नहीं किया जा सकता है जिसकी ऐसी धारणा होती है उसे गीता में तामस कहा है।

४—अल्प शिक्षा

यह ऐसी न्यूनता है जो आनुषंगिक अवस्था से दूर की जा सकती है। अनुभव ने प्रमाणित कर दिया है कि उत्तम शिक्षित लोग बहुधा वही होते हैं जो "आत्म-निर्भर और स्वशिक्षित" होते हैं। शिक्षित व्यक्ति बनने के लिए विद्यालय की उपाधि से कहीं अधिक अनुभव की आवश्यकता होती है। शिक्षित व्यक्ति वही है, जिसने बिना दूसरो के स्वत्वों पर हस्तक्षेप किये अपने जीवन में जो चाहा, उसको प्राप्त करना सीख लिया। शिक्षा में इतना अधिक ज्ञान ही नहीं है। वर्तमान शिक्षा में ज्ञान को लाभप्रद रूप

से और दृढ़ाग्रह से उपयोग में लाने की क्षमता ही नहीं है। लोगों को जो वेतन या पारिश्रमिक दिया जाता है, वह उनके ज्ञान के लिए नहीं दिया जाता, अपितु इस बात का दिया जाता है कि उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग किया है। जिसको जितना वेतन मिलता है उसी के अनुपात में ज्ञान की क्षमता का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

५—आत्मनियन्त्रण का अभाव

अनुशासन आत्मनिग्रह द्वारा आता है। पातंजलियोग में पहला सूत्र है, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। आत्मशासित अर्थात् स्थितप्रज्ञ होना बड़ा कठिन कार्य है। भगवान् से मन की चंचलता पर अर्जुन ने प्रश्न किया :—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ६-२४

हे कृष्ण ! मन बड़ा चंचल है, और प्रमाथी है, तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है, इसलिये इसको वश में करना मैं वायु की भाँति दुष्कर मानता हूँ।

भगवान् ने अर्जुन का समर्थन किया और उपाय बताया :—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतताशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ६-३५,३६

हे महाबाहो ! निसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। अभ्यास अर्थात् दृढ़ स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से और वैराग्य से वह वश में होता है। मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग दुष्प्राप है और स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।

यदि आप मन पर विजय नहीं पाते हैं तो, मन आप ही पर विजय पायेगा :—

इन्द्रियाणां चरतां यन्मोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ २-६७

क्योंकि जल में वायु नाव को जैसे घसीट ले जाती है, वैसे ही विषयों (Nagative qualities) में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के

साथ मन रहता है, वही इन्द्रिय इस पुरुष की 'बुद्धि' को हर लेती है या घसीट ले जाती है।

आप साथ ही साथ एक ही समय में, एक दर्पण के सामने खड़े होकर, दोनों को, अपने अच्छे से अच्छे मित्र को और बड़े से बड़े शत्रु को, देख सकते हैं :—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
बन्धुरात्मामनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्ततात्मैव शत्रुवत् ॥ ६-५,६

जीवात्मा ही आप अपना मित्र है, आप ही अपना शत्रु है। उस आत्मा का तो वह आप ही मित्र है, जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसके द्वारा मन आदि नहीं जीता गया है, उसका वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में वर्तता है।

६—अस्वस्थता

कोई भी अस्वस्थ व्यक्ति सफलता को नहीं भोग सकता। अस्वस्थता के अनेक कारण हैं जिन्हें अपने नियंत्रण और वश में किया जा सकता हैं। इनमे ये मुख्य ये हैं :—

(क) अति भोजन करना, अयुक्ताहार, जो स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है। गीता मे आहार के विषय में इस प्रकार कहा है :—

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोका भयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूतिपुर्युषितं चयत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १७-८-६-१०

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रस-युक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय, ऐसे आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

कड़ुवे, खट्टे, लवणयुक्त और अतिगरम तथा तीक्ष्ण, रूखे दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं। जो भोजन अधपका, रस रहित और दुर्गन्ध युक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा अपवित्र है वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है।

(ख) अशुद्ध विचार करने का स्वभाव; जो निषेधार्थकों (दुर्गुणों) को व्यंजित करता है, अर्थात् आसुरी भाव प्रगट करता है जिसका लक्षण :—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ १६-४

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान, यह सब आसुरी संपदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं ।

(ग) कामभोग विषय (यौन) में अति और विपरीत उपयोग ।

(घ) उचित व्यायाम का अभाव अर्थात् आलस्य में दिन बिताना ।

(ङ) शुद्ध वायु का अभाव, दूषित श्वाशोच्छ्वास के कारण अर्थात् बन्द कोठरी या कमरे में अधिक जनों के निवास द्वारा ।

७—बाल काल में कुसंग का प्रभाव

जैसी कोमल डाली झुकाई गई होगी, वैसा ही वह वृक्ष बढ़ेगा । अधिकांश लोगों में जो पाप प्रवृत्ति है, वह दूषित वातावरण तथा कुसंग का परिणाम ही है ।

८—दीर्घसूत्री होना

असफलता के अति साधारण कारणो मे से यह एक है । वृद्धों की दीर्घसूत्रता अर्थात् कालयापन हरण प्रवृत्ति, प्रत्येक मानव में छाया रूप से लगी रहती है । सफलता के अवसरों को मलिन करने में यह प्रवृत्ति जैसे अवसर की प्रतीक्षा करती रहती है । हममें से अधिकांश जीवन में असफल रहते हैं क्योंकि "अच्छा समय होने" के लिये ठहरे रहते हैं । कोई लाभकारी धन्धा आरम्भ करने के निश्चय को दीर्घसूत्री होने के नाते बार-बार बदलते रहते हैं । "मत ठहरिये", समय कभी भी इससे अधिक अच्छा न होगा । जहाँ आप खड़े हैं, वहीं से चलिये और जो कुछ भी उपकरण आपको प्राप्त हो सकते हों, उन्हीं से अपना काम चलाइये । ज्यों ही आप काम करने लगेंगे, अच्छे उपकरण मिलते जायेंगे ।

९—दृढ़ाग्रह का अभाव अथवा धारणाशक्ति का अभाव

हममें से अधिकांश 'आरम्भ के तो अच्छे हैं' किन्तु प्रायः सभी विषयों को जो हम प्रारम्भ करते हैं, "पूर्ण करने में दुर्बल" हैं । इसके अतिरिक्त, लोग पहली हार के लक्षण देखते ही काम छोड़ने को उन्मुख रहते हैं । दृढ़ाग्रह के स्थान या अभाव में अन्य कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है, जो इसकी पूर्ति करे । वह व्यक्ति जो अपना बाना **दृढ़ाग्रह** बना लेता है, असफलता को दूर भगा देता है । **दृढ़ाग्रह** का सामना असफलता कर ही नहीं सकती ।

१०—निषेधात्मक व्यक्तित्व (Nagative personality)

वह व्यक्ति जो लोगों को निषेधात्मक व्यक्तित्व द्वारा हतोत्साह करता है, उसके लिये सफलता की कोई आशा नहीं है। सफलता शक्ति के प्रयोग करने से आती है और शक्ति दूसरे लोगों के सहयोग से उपलब्ध होती है।

११—कामशक्ति वासना (मैथुनी) के नियंत्रण या संयम का अभाव

धर्मानुकूल भोग में कामशक्ति सबसे महान् प्रोत्साहक है, क्योंकि वह मनुष्य को कर्म करने को प्रेरित करती है। यह सबसे महान् बलशाली मनोवृत्तियो में से है। इसका निग्रह या संयम अवश्य करना चाहिये। मनको किसी लक्ष्य में लगा देने से संयम का मार्ग सुगम हो जाता है।

१२—निरर्गल इच्छा, "अकिंचित के लिये किंचित" के वास्ते

इसे कहा गया है "बधिरान्मंदकर्णःश्रेयान्", "कुछ नहीं के लिये कुछ" या मृगतृष्णा। जुआ खेलने की सहज बुद्धि या प्रवृत्ति ने करोड़ो मनुष्यो को असफलता में ढकला है। इसके साक्षी सट्टेबाजी, घुड़दौड़ और जुआ है। सन १९२९ में हजारो लखपतियो ने अमेरिका मे सबेरे जागते ही अपने को निर्धन पाया था, क्योकि सट्टे का उन्होने काम किया था। इनमे १००-२०० करोड़ पती भी थे। "तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा।"

१३—एक सुनिर्णीत निश्चयात्मक शक्ति का अभाव

मनुष्य जो सफलता प्राप्त करते हैं, शीघ्र ही निश्चय पर पहुँचते हैं, यदि आवश्यक हुआ तो बहुत मंद गति से निश्चय मे परिवर्तन करते हैं। जो मनुष्य असफल होते है, वे निश्चय कर ही नहीं पाते। यदि कर पाते हैं, तो या तो बहुत ही मंद गति से प्रयास करते हैं, नहीं तो लक्ष्य को बार-बार बड़ी तीव्र गति से बदलते रहते हैं। अनिश्चितता और दीर्घसूत्रता ये दोनों जुड़वाँ सहोदर हैं। जहाँ एक पाया जायगा, वहाँ दूसरा भी पाया जा सकता है। इस जोड़े को तुरन्त मार डालिये, नहीं तो यह आपको असफलता के यज्ञ का पशु बनायेंगे और खम्भे से बाँध देगे।

१४—मौलिक छः भयों में से एक या अधिक भय

इनका वर्णन प्रारम्भ में ही दूसरे अध्याय मे कर दिया गया है। जिसके कारण अर्जुन-विषाद-योग नाम का अध्याय गीता में प्रारम्भ हुआ। पहले इनको अवश्य वश में कर लेना चाहिये। तब कहीं श्रम का लाभ मिलेगा।

१५—विवाह बन्धन में अयुक्त सहचर वरण करना

यह असफलता का सबसे साधारण कारण है। विवाह स्त्री-पुरुष का

सम्पर्क दृढ़ करता है। यदि यह सम्बन्ध अनुरूप स्नेह-भाव में नहीं होता तो असफलता पीछे लगी ही रहती और यह असफलता का कष्ट और दुःखो से घिरा हुआ एक रूप है, जो सभी महत्वाकांक्षाओं के बीज को नष्ट कर देता है।

१६—अति सावधानी

वह व्यक्ति जो अवसरों को नहीं ग्रहण करता है, बहुधा उसको वही अवसर हाथ पड़ता है, जो दूसरों के चुनने के पश्चात् शेष रह जाता है। अति सावधानी उतनी ही बुरी है जितनी कि असावधानी या कम सावधानी। इन दोनों से सावधान रहना चाहिये।

१७—व्यवसाय में अयुक्त सहचर चुनना

सामान्य असफलता के कारणो मे से यह एक है। वैयक्तिक सेवाएँ बिसाहने में, ऐसे मालिक को चुनना चाहिये जो प्रोत्साहक हो और जो स्वयं बुद्धिमान् तथा सफलता प्राप्त किये हो। हम उन्हीं के साथ हिल-मिल जाते हैं, जो घनिष्टता से सहचर होते हैं। वस्तुतः हमे ऐसे नियोजक को वरण करना चाहिये, जो स्वभाव से हमारे ही समान हो।

१८—मूढ़ विश्वास या अविचार मति (अन्धविश्वास)

यह भय का एक रूप है और अज्ञानता का भी एक लक्षण है। जो पुरुष सफलता प्राप्त करते हैं, वे उदार और विमलात्मा होते हैं और सदा निर्भय रहते हैं।

१९—अयुक्त वृत्ति अथवा व्यापार चुनना

कोई भी पुरुष ऐसे व्यापार या वृत्ति में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, जिसको वह न चाहता हो। वैयक्तिक सेवा प्रतिदान में सबसे अधिक सारभूत क्रिया ऐसी जीविका को चुनना है जिसमें आप अभिन्न हृदय से अपने को लगा सकें। अयुक्त वृत्ति ग्रहण करना ही विकर्म कहलाता है। भगवान् ने इसीलिये सचेत किया है—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"—"श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्", अपने स्वभाव के अनुकूल कर्म ही श्रेष्ठ होता है, दूसरे व्यवसाय या कर्म भली प्रकार आचरित किये जाते हों, तो भी वह श्रेयस्कर नहीं। "विधर्म" शब्द का भी भाव यही है।

२०—चेष्टा में एकाग्रता का अभाव

"बहुधन्धी" "jack of all trades", कभी सफल नहीं होता। अपने सभी प्रयासों, चेष्टाओं को एक निश्चित लक्ष्य विशेष पर एकाग्र करना चाहिये तभी सफलता मिलती है।

२१—अव्यवस्थित व्यय करने का स्वभाव

अति व्यय करने वाला कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। उसका मुख्य कारण है सदा निर्धनता के भय में पड़े रहना। अपनी आय से एक निश्चित अंश, एक व्यवस्थित क्रम से, संचित करने का स्वभाव बनाइये। संचित धन पुरुष को साहस का एक सुरक्षित आधार प्रदान करता है। विशेष रूप से वह तब लाभप्रद होता है, जब वैयक्तिक सेवा के क्रय-विक्रय का समय हो। धन के अभाव में व्यक्ति को जो कुछ श्रम के प्रतिदान स्वरूप दिया जाता है, वह उसे विवश होकर, चाहे वह उसके श्रम से कितना ही कम क्यों न हो, स्वीकार करना पड़ता है।

२२—उत्साहहीनता

बिना उत्साह के कोई पुरुष निश्चयात्मक नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त उत्साह संस्पर्शज है, जिस व्यक्ति में उत्साह होता है, सामान्यतः किसी भी जन समुदाय में उसका स्वागत होता है।

२३—असहिष्णुता या असहनशीलता

संकीर्ण मन वाला व्यक्ति, किसी विषय में भी आगे नहीं बढ़ पाता। असहनशीलता का अर्थ यह है कि व्यक्ति ने ज्ञान उपार्जन करना समाप्त कर दिया है। सबसे महान् हानिकारी असहनशीलता वह है, जो धार्मिक, जातीय और राजनैतिक क्षेत्र में अपना भयंकर रूप दिखाती है।

२४—असंयम या अजितेन्द्रियता

अजितेन्द्रियता के सबसे महान् हानिकारी रूप अति भोजन, अत्याचार, अतिमद्यपान और मैथुनी क्रियाशीलताओं से सम्बन्धित है। इन रूपों में एक भी हो, तो वह सफलता के लिए घातक है।

गीता में कहा भी है :—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥ ६-१६

यह योग, न तो बहुत खाने वाले का और न बिल्कुल न खानेवाले का तथा न अति शयन करने के स्वभाव वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

२५—दूसरों के साथ सहयोग करने की अयोग्यता

सब संयुक्त कारणों की अपेक्षा, इस दोष के कारण अधिक लोग जीवन में बड़े-बड़े अवसर और पद खो देते हैं। यह ऐसा दोष है, जिसको अच्छे जानकार व्यवसायी या नेता कभी भी सहन नहीं कर सकते।

२६—बिना प्रयास अन उपार्जित विभव पर अधिकार।

धनियों के पुत्र और पुत्रियाँ तथा दूसरे लोग, जो उत्तराधिकार में धन पाते हैं, जिसको उन्होंने स्वयं नहीं कमाया है, वह उनकी सफलता में धीरे-धीरे घातक हो जाता है। **निर्धनता की अपेक्षा सहसा प्राप्त धन अधिक भयकारी है।**

२७—जानबूझ कर बेईमानी करना।

निष्कपटता अर्थात् ईमानदारी का कोई स्थानापन्न नहीं है। हो सकता है कि घटना प्रभाव द्वारा व्यक्ति अस्थायी रूप से कपट या बेईमानी विवश होकर कर ले, जिस पर उसका कोई वश नहीं चलता जिससे कोई स्थायी हानि नहीं होती। किन्तु उस व्यक्ति के लिए कोई आशा नहीं है जो बेईमानी ही अपनाये है। जल्दी या समय पाकर उसके कर्म ही उसे पकड़ा देंगे और वह अपनी प्रतिष्ठा की हानि द्वारा उसका मूल्य चुकायेगा और कदाचित् अपनी स्वतंत्रता की हानि द्वारा भी फल भोगेगा।

२८—आत्मस्तुति और मिथ्याभिमान

ये अवगुण लोगों को दूर रहने के लिये चेतावनी रूप में लाल झंडी या लालबत्ती के समान प्रभाव रखते हैं। यह सफलता के लिए प्राण घातक है।

२९—आत्मविमर्श के स्थान में अनुमान लगाना।

बहुत से लोग तथ्यों के **यथार्थ** जानने में अति निरपेक्ष या आलसी होते हैं। वे उन पर मस्तिष्क (बुद्धि) लगाने का कष्ट नहीं उठाना चाहते। वे लोग उन निष्कर्षों को, जो अनुमान द्वारा किये गए हैं अथवा उन निश्चयों को, जिन पर वे बिना किसी सोच विचार के पहुँचे हैं, आँख मूँद कर मान लेते हैं।

३०—ओछी पूँजी या पूँजी का अभाव।

असफलता का यह सामान्य कारण, उन लोगों मे होता है, जो पहले पहल अपना व्यवसाय (बिना ऐसे पर्याप्त सुरक्षित कोष के, जो उनकी भूलों के धक्के को सम्हाल ले) प्रारम्भ करते हैं। प्रतिष्ठा स्थिर होने तक, आगे बढ़ने के लिए, सुरक्षित कोष ही एक साधन है।

इन कारणों के अतिरिक्त असफलता का कोई विशेष कारण— जो इस सूची में नहीं आया है और आपने अनुभव किया है लिख लेना चाहिए या उसको विशेष नाम देना चाहिए।

इन तीस मुख्य असफलता के कारणों में जीवन के दुःखान्त नाटक का

वर्णन पाया जाता है। वस्तुतः ये कारण बहुत से उन व्यक्तियों में पाये जाते हैं, जो प्रयत्न करते हैं और असफल हो जाते हैं। यदि आप ऐसे व्यक्ति के साथ, जो आपसे भली-भाँति परिचित है, इस सूची का ब्योरेवार अध्ययन करें, तो वह इसका विश्लेषण करने में आपको सहायता देगा। अधिकांश लोग अपने दोषों को उतना नहीं देख पाते जितना कि दूसरा व्यक्ति। हो सकता है कि उनमें से एक आप भी हों।

इसके लिए गीता में यह आदेश दिया गया है :—

मां च योऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतानब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४-२६

जो पुरुष निश्च्यात्मक (अव्यभिचारणी) सेवा योग (भक्तियोग) द्वारा इष्ट को (मुझ को) निरन्तर भजता अर्थात् सेवा करता है वह इन गुणों को भली प्रकार पार कर सिद्धि प्राप्त (ब्रह्म में एकीभाव) के योग्य होता है।

सबसे पुराना उपदेश "**मनुष्य अपने को पहचान**", "आत्मा वा अरे वा द्रष्टव्य; श्रोतव्यः, मन्तव्य, निदिध्यासितव्यो वा" आदि हैं। यदि आप सफलता-पूर्वक व्यापार करें, तो आपको वाणिज्य से भली-भाँति परिचित होना चाहिये। यही सत्य वैयक्तिक सेवावृत्ति के व्यवहार में भी लागू है। आपको अपनी सभी दुर्बलतायें पहिचाननी चाहिए, जिससे आप उनको घटा सकें अथवा उनका समूल नाश कर सकें। आपको अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए, जिससे सेवा विक्रय के समय उसका उपयोग कर सकें।

अज्ञानता की मूर्खता के सम्बन्ध में, एक युवक ने लिखा है :—मैंने एक सुविख्यात व्यापारी को एक पद के लिए प्रार्थनापत्र भेजा था। उस पत्र ने अध्यक्ष पर बड़ा अच्छा प्रभाव डाला। अध्यक्ष ने मुझसे पूछा कि क्या वेतन पाने की आप आशा करते हैं। मैंने उत्तर दिया कि मेरे मन में कोई निश्चित संख्या नहीं है (निश्चित लक्ष्य का अभाव)। तब अध्यक्ष ने कहा, "हम आपको उतना देंगे, जितनी कार्यक्षमता आप रखते हैं। अभी हम आपको एक सप्ताह के लिए नियुक्त करते हैं।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं इसे स्वीकार नहीं करूँगा, क्योंकि मैं जहाँ काम कर रहा हूँ, वहाँ अधिक पा रहा हूँ"। उस युवक की अज्ञानता यह थी कि वह अपनी योग्यता से परिचित नहीं था। मूर्खता यह है कि उसने निश्चित रकम नहीं बताई।

अपनी वर्तमान स्थिति में, आपको आगे बढ़ने के लिए, बात-चीत

प्रारम्भ करने के पहले या किसी दूसरी जगह नियुक्त होने की स्थिति के पूर्व, इस तथ्य पर विचार कर लेना चाहिए कि आप जो पा रहे हैं उससे अधिक के योग्य हैं या नहीं।

धन चाहना एक अर्थ रखता है—प्रत्येक व्यक्ति अधिक धन चाहता है—परन्तु अधिक योग्य होना, यह पूर्णतः कुछ और ही अर्थ रखता है। बहुत से लोग अपने उचित प्राप्तव्य के लिए अपनी आवश्यकताओं को भूल जाते हैं। आपका मूल्य पूर्णरूप से आपके लाभकारी कार्य करने की योग्यता द्वारा निर्धारित होता है या ऐसी सेवा द्वारा जिसमें दूसरों को प्रोत्साहन देने की योग्यता हो।

स्वयं अपनी परिगणना कीजिये

वैयक्तिक वृत्तियों के लाभकारी व्यवहार में वार्षिक आत्मविश्लेषण अत्यावश्यक है, जैसे वाणिज्य में आय-व्यय का वार्षिक चिट्ठा बनाकर देखना होता है। इसके अतिरिक्त वार्षिक विश्लेषण में न्यूनता का आभास होना और गुणों में वृद्धि का प्रकाश होना चाहिये, जिससे जान पड़े कि आपने कहाँ तक आगे बढ़ने में उन्नति की है, अथवा जहाँ के तहाँ खड़े रहे या जीवन में पीछे लौट रहे हैं। निःसन्देह व्यक्ति का ध्येय आगे बढ़ने का होना चाहिए।

आत्म-विश्लेषण वार्षिक करना यह प्रगट करेगा कि क्या उन्नति हुई, और यदि हुई तो कितनी ? उससे यह भी प्रकाशित होगा कि कोई पीछे लौटने का डग तो, व्यक्ति ने नहीं बढ़ा दिया ? लाभकारी सेवावृत्ति का व्यवहार तो आगे बढ़ने के लिए होता है, चाहे उसकी गति मन्द ही क्यों न हो।

इस परिगणन को आप ग्रहण कीजिए और अपने आप से इन अट्ठाइस प्रश्नों को क्रमानुसार पूछिये और किसी दूसरे की सहायता लेकर प्रत्येक प्रश्न के उत्तर को जाँचिये, आपका साथी उसकी यथार्थता के विषय में आपको ठीक-ठीक बता देगा।

आत्म-विश्लेषणात्मक प्रश्नावली

(वैयक्तिक परिगणन के लिये वार्षिक चिट्ठा)

१. क्या मैंने वह उद्देश्य प्राप्त कर लिया, जिसकी मैंने कर्म विषयक व्यवस्था की थी ? (एक निश्चित वार्षिक कार्य-विषयक योजना बनाकर कर्म करना चाहिए, जिसकी उपलब्धि आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य है।)

२. क्या मैंने सेवा में अपनी योग्यता का पूरा-पूरा उपयोग किया है ? क्या मैंने जो कुछ काम किया है उससे भी कुछ अच्छा कार्य कर सकता था ?

३. क्या मैंने अपनी योग्यता के अनुसार बड़े से बड़े संभव **परिमाण** में, अपने कार्य को निबाहा है ?

४. क्या मेरे आचरण का भाव सभी समयों में मेल-जोल और सहयोग का रहा है ?

५. क्या मैंने **दीर्घसूत्रता** के स्वभाव के कारण अपनी क्षमता को घटा दिया है, यदि ऐसा है तो कितने परिमाण में ?

६. क्या मैंने अपने **व्यक्तित्व** की उन्नति की है, यदि ऐसा है, तो कौन से मार्ग में ?

७. क्या मैं अपनी योजना को पूर्ण करने तक **दृढ़व्रत** रहा ?

८. क्या मैं सभी अवसरों पर अपने **निर्णयों पर निश्चयात्मक रूप से** शीघ्र ही पहुँचा ?

९. क्या मैंने छः मौलिक भयों में से किसी एक को अपनी कार्यक्षमता के लिए आने दिया ?

१०. क्या मैं **आवश्यकता से अधिक या कम सावधान** रहा ?

११. कर्म करने में अपने साथियों या सहकारियों के साथ मेरा **बर्ताव** प्रिय था या अप्रिय ? यदि वह सम्बन्ध अप्रिय था तो क्या उसमें अंशतः या पूर्णतः मेरा ही दोष था ?

१२. क्या मैंने **एकाग्रता** के अभाव द्वारा अपनी किसी भी शक्ति को भ्रष्ट कर दिया था ?

१३. क्या मैं सभी प्रसंगों में **उदार हृदय और सहनशील** रहा ?

१४. मैंने किस प्रकार अपना कर्त्तव्य पालन के लिए अपनी **कार्यक्षमता** बढ़ाई ?

१५. क्या मैं अपनी किसी प्रवृत्तियों में **असंयमी** रहा ?

१६. क्या मैंने प्रत्यक्ष या गुप्त रूप में **मिथ्याभिमान** प्रदर्शित किया ?

१७. क्या मेरा व्यवहार या आचरण अपने साथियों के साथ ऐसा रहा जिससे उनके मन में मेरे लिये प्रतिष्ठा का स्थान हुआ ?

१८. क्या मेरी मंत्रणायें और **निश्चय** अनुमान पर आधारित थे या विश्लेषण और **विचार** की वास्तविकता पर ?

१६. क्या मैंने अपने समय, आय और व्यय का चिट्ठा बनाया था ? क्या मैंने उसका पालन किया ?

२०. कितना समय मैंने **अनर्थक** चेष्टाओं में लगाया, जिसको मैं किसी भले अर्थकर कार्य के उपयोग में ला सकता था ?

२१. अगले वर्ष के लिये मैं अपना चिट्ठा किस प्रकार बाँधू जो मेरे समय और प्रवृत्तियों को परिवर्तित कर मुझे अधिक कार्यक्षम बनाये ?

२२. क्या मैं अपने किसी आचरण में अपराधी रहा, जिससे मेरे अन्तःकरण में पश्चात्ताप हुआ ? या जो मेरी आत्मा को नहीं भाया।

२३ जितना वेतन मुझे मिला **उससे अधिक और विशेष अच्छा** काम किस रीति से मैंने किया ?

२४. क्या मैं किसी के प्रति अनुदार या अशिष्ट रहा, यदि ऐसा हुआ, तो कौन से मार्ग में ?

२५. यदि मैं अपने स्वयं की सेवाओं का नियोजक (Employer) होता तो, क्या मैं जो शुल्क दे रहा था, उसमें सन्तुष्ट होता ?

२६. क्या मैं उचित व्यवसाय में लगा हूँ, यदि नहीं तो क्यों ?

२७. क्या मेरा मालिक मेरी सेवाओं से सन्तुष्ट रहा, यदि नहीं, तो क्यों ?

२८. सफलता के मौलिक सिद्धान्तानुसार वर्तमान में, मेरी क्या स्थिति (मूल्य) है ?

इस अध्याय में किये गये पथ प्रदर्शन से परिपक्व होकर, अब आप अपनी वैयक्तिक जीविका-व्यापार के लिये एक व्यावहारिक योजना बनाने को तैयार हैं। इस अध्याय में आप पर्याप्त विवरण, वैयक्तिक सेवा प्रदान कर नेतागिरी या अध्यक्षता के मुख्य गुणों के अर्जन आदि के और अनेक सारभूत सिद्धान्त पावेंगे; असफलता के अतिसामान्य कारणों को; अध्यक्षता या नेतृत्व (Foreman, Superintendent, Excutive Officers Etc.) के लिये क्षेत्रों का वर्णन; जीवन में सभी आचरणों में असफलता के मुख्य कारणों का विवरण आदि महत्व के प्रश्न जो आत्म विश्लेषण के उपयोग में आने चाहिये— सभी आपको इसमें मिलेंगे।

इसमें विस्तृत और विवरण सहित यथार्थ बोध का प्रतिपादन संयुक्त किया गया है। यह संयोजन उन लोगों के लिये आवश्यक होगा, जो अपनी वैयक्तिक सेवा द्वारा धन संचय करना चाहते हैं या उनके लिये भी आवश्यक है जो धन संचय के प्रयास को प्रारम्भ करना चाहते हैं। उन सभी

लोगों के लिये जिन्होंने या तो अपनी संपत्ति खो दी है अथवा वे जिन्होंने धन कमाना अभी प्रारम्भ ही किया है, अथवा वे जिनके पास संपत्ति के बदले में देने के लिये वैयक्तिक सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह आवश्यक है कि वे प्राप्य व्यावहारिक ज्ञान से अच्छे से अच्छा लाभ उठायें।

यह ज्ञान मालिकों, संचालकों एवम् काम दिलाऊ अध्यक्षों के लिये नितान्त आवश्यक है। दूसरे प्रकार के लोग जो कर्मचारी चुनते हैं, अथवा कुशल व्यवस्था चाहते हैं, उन लोगों के लिये बड़े मूल्य का है।

जिन मनुष्यों में कल्पना, श्रद्धा, उत्साह, निश्चय तथा दृढ़ाग्रह के साथ जिनमें व्यवस्थित योजना बनाने का ज्ञान भी प्राप्त है, वे ही मनुष्य, बड़े-बड़े जहाज, रेलमार्ग, आविष्कार, उद्योग, व्यवसाय जनता के हित-सुविधा के लिये निर्माण कर, अपार धन संचित करते हैं और विभूतिमान् बनते हैं।

अब भी करोड़ों मनुष्य, 'बिना दिये कुछ प्राप्त कर लें,' इस खिलवाड़ में लगे हुये हैं—अर्थात् सट्टा बाजार में व्यस्त हैं। यदि उनमें से एक आप भी हैं तो खुशी से रहिये। किन्तु यह सत्य आपको जान लेना चाहिये कि "**बिना प्रयास या चेष्टा के धन नहीं मिलता।**"

धन संचय और न्यायपूर्वक अधिकार के लिये, एक ही विश्वसनीय पद्धति है और वह है लाभप्रद योगदान अर्थात् सेवा। कोई ऐसी रीति अभी तक मनुष्यों द्वारा नहीं रची गई है, जिससे बिना कुछ किये कराये न्यायतः मनुष्य धन अर्जुन कर सके।

संसार में **अवसर** ने अपनी सभी प्रकार की वणिक वस्तुयें बिखेर रखी हैं। आगे बढ़िये और जो इच्छा हो चुन लीजिये, अपनी योजना बनाइये, योजना को कर्म का रूप दीजिये और दृढ़ाग्रह द्वारा पोषण कीजिये, बुद्धियोग का युक्त उपयोग कीजिये और फल प्राप्त कीजिये।

बिना बुद्धियोग के जो धन प्राप्त होता है वह सदा पतन के गढ्ढे में गिराता है।

आठवाँ अध्याय

निश्चय

दीर्घसूत्रता पर नियंत्रण

विभूति की ओर सातवाँ सोपान

पच्चीस सहस्त्र स्त्री पुरुषों के अनुसंधान में जिन्होंने असफलता का अनुभव प्राप्त किया, यह यथार्थ या निष्कर्ष प्रकट हुआ कि **निश्चय का अभाव** ही असफलता के तीस मुख्य कारणों की सूची में सबसे मुख्य था। यह वर्णन मात्र ही नहीं है—यह एक यथार्थ है।

निश्चय का प्रतिद्वन्दी, एक सामान्य शत्रु **दीर्घसूत्रता** है। सभी मनुष्यों को चाहिए कि इस पर विजय प्राप्त करें।

जब आप इस ग्रंथ को पूरा से पढ़ लेंगे, तब आपको शीघ्र ही निर्दिष्ट निश्चय पर पहुँचने की अपनी योग्यता को जाँचने का अवसर मिलेगा। आप इस अध्ययन के पश्चात् ही उन वर्णित सिद्धान्तों को कर्मरूप में आरम्भ करने को तत्पर होंगे।

हेनरी फोर्ड की एक मुख्य विशेषता किसी भी निश्चय पर निर्दिष्ट रूप से तुरन्त पहुँचने की थी, किन्तु उसमें आवश्यक परिवर्तन वह बहुत धीरे-धीरे करता था। मिस्टर फोर्ड के इसी गुण ने उनको हठी के रूप में ख्याति दी। इसी गुण ने उसको अपनी प्रसिद्ध माडल 'टी' मोटर गाड़ी, जो दुनिया की सबसे भद्दी गाड़ी थी, बनाते रहने की प्रेरणा दी। उसके सलाहकारों ने तथा अनेकों ग्राहकों ने आग्रह किया था कि इसका रूप बदल दिया जाय, लेकिन वह वही माडल बनाता रहा।

ऐसे सैकड़ों मनुष्य हैं जिन्होंने करोड़ों पैदा किये। उनके जीवन के विश्लेषण से यह तथ्य सामने आया कि वे किसी भी लक्ष्य पर तुरन्त पहुँच जाते थे। मार्ग में आवश्यकता पड़ने पर धीरे-धीरे परिवर्तन करते रहते थे। जो लोग असफल हुए, उनके जीवन का विश्लेषण बताता है कि वे प्रायः अपने निश्चय पर पहुँचते ही न थे। किसी प्रकार पहुँच भी गए तो तुरन्त

ही उसे बदल भी देते थे। उनकी प्रगति भी इतनी धीमी होती थी कि वे कभी लक्ष्य पर पहुँच ही न सकते थे।

कदाचित् फोर्ड ने माडल बदलने में आवश्यकता से अधिक विलम्ब किया, परन्तु इस कथा का दूसरा पक्ष यह है कि इस परिवर्तन के पूर्व अपने निर्णय की दृढ़ता से फोर्ड ने अपार धन कमा लिया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फोर्ड के दृढ़ निश्चय के स्वभाव में हठी या दुराग्रही होने की गन्ध आती है, परन्तु यह अवगुण तुरन्त निश्चय पर पहुँचने तथा तुरन्त परिवर्तन कर देने के अवगुण से कहीं अच्छा है।

बहुत से लोगों को अपनी आवश्यकता के लिये धन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि वे दूसरों की सेंत-मेत में मिलने वाली सम्मति से प्रभावित रहते हैं। वे विचार के लिये अपना मस्तिष्क समाचारपत्रों और पड़ोसी गपाष्टक लगाने वालों को दे देते हैं। वे अपने सोचने विचारने का काम ऐसे निठल्लों को सौंप देते हैं, जो बड़ी संख्या में जहाँ-तहाँ फिरते ही रहते हैं। सबके पास अपनी-अपनी सम्मति बिलकुल तैय्यार रहती है। आपके मुँह खोलने की देर है, सम्मतियों की ढेर लग जायगा। इसके लिये आपको एक पैसा भी न देना पड़ेगा। भारत में जब कोई मनुष्य रोगग्रस्त होता है तब उसको देखने के लिये जो भी जाता है, एक न एक औषधि का सेवन अथवा अमुक वैद्य के उपचार की सम्मति तो निःशुल्क अवश्य देता ही है। यदि आप **स्वतंत्र निर्णय** करने में दूसरों की सम्मति से प्रभावित होते हैं, तो आप अपनी **इच्छानुसार** धन प्राप्त कर ही नहीं सकते और न किसी लक्ष्य पर ही पहुँच सकते हैं।

यदि आप दूसरों की सम्मति से प्रभावित हैं, तो आपकी अपनी **इच्छा** रह ही न जायगी।

अपने निश्चय और अनुसरण में जब आप उन सिद्धान्तों को, जिनका यहाँ वर्णन किया गया हैं, प्रयोग में लाने लगें, तब अपनी स्वतन्त्र सम्मति को अपने मन में ही रखिये। किसी पर भरोसा न कीजिये। मनीषी अर्थात् विशेषज्ञों के समुदाय के अतिरिक्त और किसी को अपने विश्वास में न लाइये। इस समुदाय के चुनने में बहुत सावधान रहिये। जिनको आप चुनें, वे ऐसे हों, जो पूर्णरूप से आपके लक्ष्य में सहानुभूति और साम्यता रखते हों।

अपने घनिष्ट मित्र और सम्बन्धी, यद्यपि उनके मन में बुरी भावना नहीं है, बहुधा अपनी सम्मतियों और कभी-कभी व्यंग्य एवम् उपहास के द्वारा प्रायः व्यक्ति को निरुत्साहित कर देते हैं। सहस्त्रों स्त्री पुरुष अपने जीवन भर

हीन भावना से ग्रसित रहते हैं, क्योंकि अज्ञानी व्यक्तियों ने अपनी सम्मतियों या उपहास द्वारा उनके विश्वास को नष्ट कर दिया है।

आप में बुद्धि है और अपना मन है। **उसको उपयोग में लाइये** और अपने निश्चय पर पहुँचिये। बहुत से प्रसंग ऐसे आएँगे, जब आपको अपने निर्णय में पहुँचने के लिये कुछ सूचनाओं तथा तथ्यों की आवश्यकता पड़ेगी। बड़े गम्भीर भाव से इनकी उपलब्धि कर|लीजिये, अपना अभिप्राय प्रकट न होने दीजिये।

यह लोगों की विचित्रता है कि वे केवल अल्प और उपेक्षणीय ज्ञान होते हुए भी ऐसी छाप डालने का प्रयत्न करते हैं कि उनमें अधिक ज्ञान भरा हुआ है। कुछ लोग **बकवास अधिक लगायेंगे** और सुनेंगे **बहुत कम**। यदि आप तुरन्त **निश्चय** करने के स्वभाव का उपार्जन करना चाहते हैं, तो अपने आँख और कान सदा खुले रखें—और अपना मुँह बन्द किये रहें। वे लोग जो अधिक बोलते हैं, करते बहुत ही कम हैं। यदि आप सुनने की अपेक्षा अधिक बोलेंगे, तो आप केवल अपने को अनेकों लाभकारी ज्ञान संग्रह करने के अवसरों से वंचित ही नहीं रखेंगे, अपितु अपनी योजनाओं और तात्पर्यों को भी प्रकट कर देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि आपके प्रतिद्वन्दी ईर्षा के कारण, बहुत प्रसन्न होंगे।

यह भी स्मरण रखिये कि प्रतिक्षण आप अपना मुख ऐसे व्यक्ति के सम्मुख खोलते हैं, जिसमें ज्ञान की प्रचुरता है। आप उस व्यक्ति को अपना यथार्थ ज्ञान-भंडार दिखाते हैं या अपने ज्ञान का अभाव। सच्ची बुद्धि बहुधा मर्यादा, शालीनता और मौन द्वारा सुस्पष्ट होती है गीता में कहा भी है :—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७-१६

मनकी प्रसन्नता, शान्तिभाव, मौन मन का निग्रह और शुद्ध भावना यह मन सम्बन्धी तप कहे जाते हैं।

इस तथ्य को मन में रखिये कि प्रत्येक व्यक्ति, जिसके साथ आप संगति करते हैं, आपके ही समान है। वह भी धन संचय के अवसर की खोज करने में है। यदि आप अपनी योजना के विषय में अति स्पष्टता से बातचीत करेंगे तो हो सकता है, कि आप यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि किसी और व्यक्ति ने आपके ध्येय तक पहुँचने के **पहले ही लक्ष्य पर पहुँच कर आपको पछाड़ दिया**। अपने मन की बात बता देने का परिणाम यह है।

आपका पहला नियम तो यह होना चाहिये कि **मुख बन्द रखो और आँख कान खुले रखो।**

इस उपदेश के अनुसार चलने के लिए स्वयं उद्बोधक रूप में बड़े अक्षरों में लिखकर ऐसी जगह यह टाँग दीजिये जहाँ आपकी दृष्टि नित्य पड़े—"स्वयं पहले काम कर दिखाओ, फिर जगत् से कहो।"

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ उद्योगपर्व विदुरनीति

दूसरे लोग जिसके कर्त्तव्य, सलाह और पहले से किये हुए विचार को नही जानते, बल्कि काम पूरा होने पर जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥२४॥

जो पहले निश्चय कर फ़िर कार्य को आरम्भ करता है, कार्य बीच में नहीं रुकता, समय को व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्त को वश में रखता है, वही पण्डित कहलाता है। यह इस कहने के समतुल्य है :—

"कर्म न कि शब्द अधिकांश गणना में आते हैं।"

निश्चय पर स्वतन्त्रता या मृत्यु

निश्चय का मूल्य काम करने के साहस पर निर्भर रहता है। महान् निश्चय ने सभ्यता की नींव डाली थी, बड़ी-बड़ी जोखिमें उठाकर सफलता प्राप्त की थी। इसमें प्रायः मृत्यु का सामना करना था।

सुकरात का अपने विश्वास से टलने की अपेक्षा विष का प्याला खुशी से पीना, एक साहस का निश्चय था।

गुरु तेग बहादुर ने सभ्यता के लिये अपना सिर देना स्वीकार किया, पर निश्चय का त्याग नहीं किया। "शीश दिया पर सी न उचरी"

गुरु गोविन्द सिंह ने अपने प्यारे पुत्रों का दिवाल में चुनना सहा, परन्तु अपना धर्म न छोड़ा और सभ्यता का प्रसार किया।

लिंकन ने अपने जीवन को दास-मुक्ति पर निछावर किया। महाराज छत्रसाल के निश्चय ने अकेले ही पूरे बुन्देलखण्ड पर अपना राज्यानुशासन चलाया।

दृढ निश्चय का मूल्य हमारे नेताओं ने प्रत्यक्ष प्रमाणित करके दिखा दिया। बिना शस्त्र चलाए अथवा रक्त बहाये भारत ने स्वराज्य प्राप्त कर

लिया। यह सब उनके साहस पर ही निर्भर था।

अब यहाँ उन घटनाओं का उल्लेख करते हैं, जिनसे स्वराज्य की घोषणा हुई और राष्ट्र को प्रतीति दिलाकर यह दिखा दिया कि जगत् के सभी राष्ट्रों के बीच भारत भी एक प्रतिष्ठित राज्य का पद रखता है। स्वतन्त्रता का जन्म भी निश्चय द्वारा ही हुआ। यह भी एक योजना थी जिसे प्रतिभाशाली विशेषज्ञों ने बनायी थी। दादाभाई, लोकमान्य, महात्मा देश-भक्त, दीनबन्धु, त्यागमूर्ति आदि-आदि अनेक माननीय जन इसी निश्चित योजना और लक्ष्य के लिये जीवन देकर अमर हो गये। उन्होंने यज्ञार्थ अर्थात् समष्टि के हित अपना जीवनोत्सर्ग कर दिया। यह उन्हीं लोगों का निश्चय था, जिसने अपना परिवर्तित रूप स्वतन्त्रता में दिखाया।

यह भी उल्लेखनीय है (निजमें बड़े लाभ की) कि वह शक्ति जिसने इस राष्ट्र को स्वतन्त्रता प्रदान की है, वस्तुतः वही दृष्टि है जिसका उपयोग प्रत्येक धीर पुरुष को करना चाहिये।

यह शक्ति उन सिद्धान्तों से बनी है, जिनका वर्णन इस पुस्तक में है। कम से कम ये छः सिद्धान्त—इच्छा, निश्चय, श्रद्धा, धारणा (दृढ़ाग्रह), विशेषज्ञ बुद्धि अर्थात् मनीषी (बल) और व्यवस्थित योजना—मुख्य हैं।

इस दर्शनशास्त्र में सर्वत्र यह प्रेरणा पायी जायगी कि प्रबल **इच्छा** द्वारा प्रेरित विचार ही (एक प्रवृत्ति रखते हैं जो) रूपान्तरित होकर भौतिक समतुलन में व्याप्त हो जाते हैं, अर्थात् निराकार साकार हो जाता है, या "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" स्पष्ट हो जाता है।

इस पद्धति या मार्ग की जिज्ञासा में किसी चमत्कार को न देखिये, क्योंकि यह आपको नहीं मिलेगा। यहाँ आपप्रकृति के शाश्वत नियमों को ही पावेंगे। यह नियम प्रत्येक व्यक्ति के लिये, जिसमें उनका उपयोग करने की **श्रद्धा** और **साहस** है, सदा सुलभ है। यह राष्ट्र की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपयोग में भी लाये जा सकते हैं और विभव संग्रह के सभी विभागों की प्राप्ति हित भी इनका प्रयोग किया जा सकता है; केवल उनको समझने और आत्मसात करने के लिये और कोई मूल्य नहीं चुकाना पड़ता है।

जो लोग तुरन्त और दृढ़ता से **निश्चय** करते हैं, जानते हैं कि उन्हें क्या चाहिये और बहुधा वे प्राप्त भी कर लेते हैं। **जीवन के प्रत्येक व्यवहार में नेतागण तुरन्त और दृढ़ता से निश्चय करते हैं**। नेता बनने का मुख्य कारण **यही है**। जगत् का स्वभाव है कि वह उन लोगों के लिये मार्ग या स्थान

खाली कर देता है, जिनके वचन और कर्म यह प्रगट करते हैं कि वे अपने लक्ष्य को जानते हैं।

अनिश्चितता एक स्वभाव है, जो प्रायः सब युवकों में प्रारम्भ से होता है। यह स्वभाव स्थायित्व प्राप्त कर लेता है। यदि बालक बिना ध्येय के निर्णय किये हुए पाठशालाओं, शिक्षालयों तथा विद्यालयों में पदार्पण करता है, तो उसमें ध्येयहीनता आ जाती है। सभी शिक्षा पद्धतियों की प्रधान दुर्बलता यही है कि न तो वे शिक्षा ही देती हैं और न निश्चित स्वभाव को प्रोत्साहन दे पाती हैं।

सबसे लाभकारी कार्य तो यह होगा कि कोई भी विद्यालय (College) किसी भी छात्र को प्रवेश पाने की तब तक अनुमति ही न दे, जब तक वह इसमें प्रवेश पाने का अपना ध्येय विज्ञापित न कर दे। यह नियम भी दृढ़ता पूर्वक पालन किया जाय कि छात्रों को अनिवार्य रूप से निश्चय करने का स्वभाव सीखना पड़ेगा।

हमारे विद्यालयों की शिक्षण पद्धति अनिश्चितता के दोष से दूषित है। इसी दूषित पद्धति को छात्र अपने साथ ले जाता है, वह वही काम करने के लिये तत्पर हो जाता है, जो उसे मिल जाता है। भले ही न वह उसके योग्य हो या न उसमें सफल हो। यह सब उसके **अनिश्चित स्वभाव** के कारण होता है। अठानवे प्रतिशत वेतनभोगी कर्मचारी इसी प्रकार के हैं। वे न किसी निश्चय पर पहुँच सकते हैं, न किसी योजना को बना सकते हैं और न किसी अनुरूप मालिक को ही चुन सकते हैं।

निश्चय की दृढ़ता सदा साहस चाहती है, कभी-कभी तो वह साहस बहुत ही बड़ा होता है। जिन नेताओं ने "Quit India." "भारत छोड़ो" के प्रस्ताव का समर्थन किया था, उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया था और जेल में सड़ने की स्थिति का अनुमान भी कर लिया था।

जिस व्यक्ति ने किसी निर्दिष्ट पद को प्राप्त करने का **दृढ़ निश्चय** किया है, उसने यह निश्चय केवल रुपया कमाने के लिये किया है, न कि जीवनोत्सर्ग के लिये। ऐसे व्यक्ति ने केवल अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता दांव पर रखी है, आत्मिक स्वतन्त्रता नहीं।

व्यवस्थित योजना के उस अध्याय में पूरा विवरण मिलेगा। प्रत्येक वर्ग की वैयक्तिक सेवा या व्यापार के ये विवरण तब तक किसी मूल्य के नहीं हैं, जब तक आप **निर्दिष्ट ढंग से** उनको कार्यरूप में परिणत न करें।

निश्चय ही नियति है, गीता में इसीलिये कहा है :—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च तेन प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ३-८

तू (निर्दिष्ट) नियत किये हुये कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने (अकर्म अर्थात् अकारथ कर्म) की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा ।

सिद्धि अथवा जीवननिर्वाह को सुख से भोगने में निर्दिष्ट कर्म ही फलदायक है—

नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ १८-७

नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहलाता है ।

नववां अध्याय

श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए धारणा शक्ति

(अनवरत चेष्टा)

विभूति की ओर आठवाँ सोपान

दृढ़ाग्रह

सतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मर्य्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स में प्रियः ॥ १२-१४

जो कर्मयोगी निरन्तर, लाभ हानि मे सन्तुष्ट, मन और इन्द्रियों सहित दृढ निश्चय वाला है वह मुझ (ध्येय या इष्ट) में मन और बुद्धि वाला मेरा (इष्ट का) भक्त मुझ (इष्ट या ध्येय सफलता) को प्रिय है (अर्थात सिद्धि प्राप्त करता है ।

दृढ़ाग्रह अथवा अनवरत चेष्टा:—यह इच्छा को पदार्थ तुल्य रूपाँतर करने की विधि में मुख्य अंग (Factor) है। **दृढ़ाग्रह** का आधार **इच्छाशक्ति** ही है। धारणाशक्ति (Will power) और इच्छा उचित रूप से संयुक्त होकर एक दुधर्षि जोड़ी बन जाती है। प्रायः महान् धनी पुरुष निष्ठुर और क्रूर कहे जाते हैं। प्रायः यह बड़ी भारी भूल या मिथ्या भावना उनके प्रति है। जो कुछ धारणाशक्ति उनमें है, उसको वे इच्छाशक्ति से मिलाते हैं, इसीसे अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होते हैं।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ॥
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा हार्थ सात्विकी ॥ १८-३३

हे पार्थ ! कर्मयोग के द्वारा निश्चयात्मक (अव्यभिचारिणी) धारणा से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को, धारण करता है, वह धृति सात्विकी है ।

अधिकांश व्यक्ति विरोध या विफलता का पहिला लक्षण देखते ही अपने ध्येय और तात्पर्य को समुद्र में फेंकने को तैयार हो जाते हैं। बहुत कम ऐसे हैं, जो विरोध होने पर भी अपना कार्य करते रहते हैं और लक्ष्य पर पहुँचते

हैं। इनमें फोर्ड, कारनेगी, राकफीलर, एडीसन, गाँधी, मालवीय, आदि हैं जिनके लिये भर्तृहरि ने कहा है :—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः ॥
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ॥
प्रारभ्य उत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

निम्न पुरुष विघ्न भय के कारण कर्म आरम्भ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के मनुष्य कार्य आरम्भ तो कर देते हैं, परन्तु विघ्न पड़ जाने पर उसे बीच मे ही छोड़ देते हैं, किन्तु उत्तम लोग बार-बार विघ्न पड़ने पर भी प्रारम्भ किये हुए काम को नहीं छोड़ते।

यह विषय गीता में इस प्रकार है :—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यततिसिद्धये ॥
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥

हज़ारों मनुष्यो में कोई ही सिद्धि के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले कर्मयोगियों में कोई ही पुरुष अपने इष्ट की (मा) तत्व से सिद्धि प्राप्त करना जानता है।

हो सकता है कि "**दृढ़ाग्रह**" के लिए कोई उपयुक्त शब्द न हो, परन्तु उसके गुण मनुष्य के चरित्र में ऐसा काम करते हैं जैसा सोने को कड़ा करने के लिए ताम्बा, अथवा इस्पात को कड़ा करने में कारबन, मिलाया जाता है।

विभूति अर्जन में, साधारणतया, इस तत्वशास्त्र की पुस्तक के तेरहों क्रमों का समावेश व्यवहार में होता है। इन सिद्धन्तों को भली भाँति समझ लेना चाहिए या उनको बुद्धिगम्य करना चाहिये और दृढ़ाग्रह के साथ उनको विभूति प्राप्ति हित प्रयोग में लाना चाहिये। यदि आप इस पुस्तक में प्रतिपादित ज्ञान का अनुसरण करेंगे और उस ज्ञान को प्रयोग में लाने का उद्देश्य ध्यान में रखेंगे तो आपको दृढ़ाग्रह की परीक्षा में सफलता तभी मिलेगी, जब आप दूसरे अध्याय में वर्णित छः क्रमों का अनुसरण भी साथ-साथ करने में यत्नशील होंगे।

इसी बिन्दु पर आपकी जाँच भी हो जायगी, क्योंकि दृढ़ाग्रह का अभाव असफलता के प्रधान कारणों में से एक है। इसके अतिरिक्त हज़ारों लोगों के संसर्ग के अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि दृढ़ाग्रह का अभाव ही वह सामान्य दुर्बलता है जो अधिकांश लोगों में पाई जाती है। **इच्छा की प्रबलता**

दृढ़ाग्रह के अभाव की अवस्था को दूर करने के लिये रामबाण औषधि है। इच्छा में जितनी ही अधिक तीव्रता होगी, उतना ही रोग सुखसाध्य होगा।

सभी निष्पत्तियों का प्रारम्भिक विन्दु **इच्छा** ही है। इसको निरन्तर मन में रखिए। दुर्बल इच्छा दुर्बल फल लाती है। जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि थोड़े ही परिमाण में ऊष्णता उत्पन्न करती है, इसी प्रकार इच्छा शक्ति की कमी विभूति में कमी लाती है। यदि आप अपने में दृढ़ाग्रह के आभाव को पाते हैं, तो यह अभाव आपकी **इच्छाओं** की प्रचण्ड अग्नि (ज्ञान) द्वारा भस्म किया जा सकता है :—

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ४-३७

जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधन को भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देती है।

इसको अविराम आदि से अन्त तक पढ़ जाने के पश्चात् दूसरे अध्याय को फिर से पढ़िये। छः क्रमों के सम्बन्ध में दिये गये निर्देशों का अनुसरण अव्यवधान रूप से प्रारम्भ कीजिये। जितनी व्यग्रता से आप इन निर्देशों का अनुसरण करेंगे, उससे स्पष्ट प्रगट होगा कि कितनी अधिक या कितनी कम विभूति संचय में आपकी इच्छा का वास्तविक रूप है। यदि आप अपने को तटस्थ पाते हैं, तो विश्वास कर सकते हैं कि आप अभी तक "विभूति भावना" का उपार्जन नहीं कर पाये हैं। यह भावना विभूतिमान् बनने की इच्छा के पूर्व ही आ जानी चाहिये।

जैसे निःशंक रूप से नदियाँ समुद्र की ओर ढलती जाती हैं। उसी प्रकार विभूति उन्हीं लोगों की ओर ढलती है, जिनके मन उसको आकर्षित करने के लिए सन्नद्ध हैं। कहा भी है "पुरुषसिंहमुपैतिलक्ष्मीः" इस निबन्ध में किसी सामान्य मन को उन स्फुरणों से साथ ताल-मेल मिलाने के सभी आवश्यक प्रोत्साहन पाये जा सकते हैं, ये स्फुरण ही व्यक्ति की इच्छाओं के लक्ष्य विषय को आकर्षित करने में सहायक होते हैं।

यदि आप दृढ़ाग्रह में अपने को दुर्बल पाते हैं, तो आप अपने मनोयोग को उन उपदेशों पर केन्द्रित कीजिये, जो "शक्ति" के अध्याय में वर्णित हैं। अपने को "मनीषी संघ" (Master mind group) अर्थात् विशेषज्ञ संघ से परिवेष्ठित कीजिये। इन लोगों के सत्संग द्वारा या इनकी सहयोगी चेष्टा द्वारा आप अपने दृढ़ाग्रह का विकास कर सकते हैं। दृढ़ाग्रह का विकास आत्म प्रस्तावना एवम् अवचेतन मन के अध्यायों में, तत्सम्बन्धी आदेश विवरण

के साथ, मिलेंगे। इन अध्यायों के आदेशों का अनुसरण **तब तक** कीजिये, **जब तक** आपकी स्वभाव-प्रवृत्ति आपकी **इच्छा** के अभीष्ट का एक स्पष्ट चित्र अवचेतन मन को सुपुर्द न कर दे। अब आपके मार्ग में दृढ़ाग्रह के अभाव की बाधा न रहेगी।

आपका अवचेतनमन तैलधारावत् निरन्तर कर्मरत रहता है, चाहे आप जाग रहे हों अथवा सो रहे हों।

आकस्मिक या प्रासंगिक चेष्टा इन नियमों के संप्रयोग में कोई मूल्य की न होगी। परिणाम या फल प्राप्त करने के लिये आपको सभी विषयों को तब तक प्रयोग में लाना होगा, जब तक उनका संप्रयोग आपके साथ एक दृढ़ स्वभाव न बन जाये। किसी भी दूसरी रीति से आप आवश्यक "वित्तेषणा" का विकास नहीं कर सकते।

दरिद्रता उन्हीं की ओर आकर्षित होती है, जिनका मन उसके अनुरूप हो। धन उन लोगों की ओर आकर्षित होता है, जिनका मन विचारपूर्वक सज्जित किया गया हो। इन्हीं नियमों द्वारा **दारिद्र-चेतना स्वतःमन को ग्रसित कर लेगी, जो विभूतिबोध में व्यस्त नहीं हैं।**" अर्थात् एक के अस्तित्व में दूसरे का अभाव—"जहाँ राम तहँ काम नहि, जहाँ काम नहिं राम। तुलसी कबहु न रहि सके, रवि-रजनी इक ठाम" अथवा

"पियतन छबि मन में बसी, पर छबि कहा बसाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय।"

आगे के अनुच्छेद में वर्णन किये हुये पूर्ण महत्वसार-तत्व को ग्रहण कीजिये। इसके बाद ही आप विभूति प्राप्ति में दृढ़ाग्रह के महत्व को समझ पावेंगे। दृढ़ाग्रह के अभाव में, आप प्रारम्भ करने से पूर्व ही परास्त हो जाएँगे। दृढ़ाग्रह से ही विजय पायेंगे।

यदि आपने कभी एक दुःस्वप्न का अनुभव किया हो, तो आप दृढ़ाग्रह के महत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति करेंगे। आप अपने बिछौने पर लेटे हुए हैं, आधी जागृत अवस्था में, इस भावना के साथ मानों आपका श्वास रुँध रहा है। आप करवट लेने या किसी पुट्ठे को हिलाने में अशक्त हैं। तब आप सोचते हैं कि आपको अपनी स्नायुओं पर फिर से नियंत्रण प्राप्त करना आरम्भ करना चाहिये। इच्छा शक्ति की बारबार चेष्टा द्वारा, अन्त में आप अपने एक हाथ की उगलियों को हिलाना प्रारम्भ करते हैं। अपने उस नियंत्रण को फिर हाथ के पुट्ठे की ओर बढ़ाते हैं, जब तक उसे उठा न सकें। तब आप दूसरी बाँह पर इसी प्रकार नियंत्रण करते हैं। अन्त में

एक पैर को पुनः नियंत्रित कर दूसरे पैर को भी इसी प्रकार वश में करते हैं। तब इच्छा की परम चेष्टा के साथ आप अपनी स्नायुओं पर पूर्ण नियंत्रण कर पाते हैं और अपने दुःस्वप्न को भंग करते हैं, यह सब शनैः शनैः हुआ।

हो सकता है, कि आपको अनुरूप प्रणाली द्वारा अपनी मानसिक जड़ता भंग करने की आवश्यकता पड़े। पहले धीमी चाल से चलकर बाद में अपनी चाल बढ़ायें। जब तक आप अपनी इच्छा पर पूर्ण शासन न प्राप्त कर लें, अभ्यास करते जाइये।

इसका कोई विचार नहीं करना है कि कितनी धीमी चाल से पहले चलें। दृढ़ाग्रह होना अनिवार्य है। मन वश में करने के लिये गीता में जो वर्णन है, दृढ़ाग्रह के लिये भी लागू होता है :—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ६-२५

धीरे-धीरे उपराम को प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धि (दृढ़ाग्रह) द्वारा मन को अपने में स्थित कर कुछ भी चिन्तन न करे।

यदि आप अपने "मनीषी संघ या विशेषज्ञों" को सावधानी से चुनते हैं, तो उनमें कम से कम एक व्यक्ति तो ऐसा होगा ही, जो आपके **दृढ़ाग्रह** के विकास में सहायक हो। कुछ पुरुषों ने, जिन्होंने विभूति संचय की है, **आवश्यकतानुसार** ऐसा ही किया था। उन्होंने **दृढ़ाग्रह** का स्वभाव विकसित किया था, क्योंकि परिस्थितियों द्वारा दृढ़रूप से प्रेरित होकर उनको दृढ़ाग्रा ही बनना पड़ा।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि **दृढ़ाग्रह का कोई प्रतिनिधि नहीं है**। यह किसी और दूसरे गुण से निराकृत नहीं किया जा सकता। यह आपको धैर्य प्रदान करेगा। आरम्भ में ही जब आपको आगे बढ़ना कठिन और धीमा प्रतीत होगा तो निश्चय ही इससे आपको विशेष सहायता मिलेगी।

जिन्होंने दृढ़ाग्रह की प्रवृत्ति की अभिवृद्धि की है, वे असफलता के विरोध में सुरक्षा और योगक्षेम का आस्वादन लेते दिखाई पड़ते हैं। कितनी बार वे परास्त हुये, यह कहना निरर्थक है, पर सीढ़ी के शिखर पर वे अन्त में पहुँच ही गये। कभी-कभी ऐसा दिखाई देता है कि कोई छिपा हुआ पथ प्रदर्शक है, जिसका कर्तव्य मनुष्यों को सभी प्रकार से निरुत्साही अनुभवों द्वारा जाँचने का है। जो लोग परास्त होने के पश्चात् भी प्रयत्न करते

रहते हैं, वे जब लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं; तब संसार चिल्लाकर "**शाबास**" कहता है। तब सभी कहने लगते हैं, "मैं जानता था कि तुम इसको कर सकते हो"। यह छिपा हुआ पथ-प्रदर्शक किसी को, बिना **दृढ़ाग्रह की परीक्षा** में उत्तीर्ण हुये, महान् उपलब्धि या सिद्ध का आस्वादन नहीं लेने देता। जो उत्तीर्ण नहीं होते, वे ऊपर की कक्षा में चढ़ाये नहीं जाते।

जो उसको साध लेते हैं, उनको दृढ़ाग्राहिता के लिये मुक्तहस्त से पुरष्कृत किया जाता है। चाहे जिस उद्देश्य का अनुष्ठान हो, वे प्रतिफल पाते हैं। यही नहीं वे अमित रूप से भौतिक पुरस्कार की अपेक्षा कुछ अधिक महत्व का तत्व पाते हैं—"**प्रत्येक विफलता अपने साथ सफलता का बीज लाती है।**"

इस नियम में कुछ अपवाद भी हैं, बहुत थोड़े लोग अनुभव से **दृढ़ाग्रह** की निर्दोषता को जानते हैं। कुछ लोग पराजय या विफलता को एक क्षणिक रूप से अधिक स्वीकार नहीं करते। वे ही ऐसे लोग हैं, जिनकी **इच्छायें** इतनी **दृढ़ाग्रह से प्रयोग में** लाई गई थी कि पराजय विजय के रूप में परिणत हो गई। ऐसे लोगों की भी बहुत बड़ी संख्या है, जो इस तरह पराजित होते हैं कि फिर कभी नहीं उठते। इसके विपरीत ऐसे लोगों की संख्या प्रायः न्यून होती है जो पराजय पाने से अधिक उत्साही बन जाते हैं। सफलता वास्तव में उन्हीं को मिलती है जो पराजित होने के बाद अधिक प्रयास करते हुये काम पर जुट जाते हैं। सौभाग्य से ऐसे लोगों ने पीछे मुड़ना सीखा ही नहीं है—[तुलसीदास जी ने इनका पपीहे के रूप में यों वर्णन किया है, "गरज तरज पाखान बरषि पवि प्रीति परखि जिय जाने। अधिक-अधिक अनुराग उमग उर पर परिमित पहिचाने"] ऐसे लोगों की सहायता, एक ऐसी अदृश्य शक्ति करती है, जिसके अस्तित्व पर बहुतों को विश्वास ही नहीं है।

इस शक्ति को हम चाहे कुछ भी कह सकते हैं, किन्तु हम उसको **दृढ़ाग्रह के** नाम से ही सम्बोधित करते हैं। एक बात हम सभी जानते हैं कि यदि किसी के वश में **दृढ़ाग्रह** नहीं है, तो वह किसी भी व्यवहार में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

दृढ़ाग्रह की सफलता का जीता जागता रूप 'फेनीहर्ष्ट' (Fannie Hurst) उपन्यास लेखिका के जीवन में मिलता है। वह लिखकर कमाने की आशा में सन् १९१५ में न्यूयार्क गई। वर्षों तक भटकती रही, प्रकाशकों के दरवाजे खटखटाती रही और अनुनय विनय करती रही। असफलता सुरसा की तरह उसके सामने मुँह बाये खड़ी थी, पर वह भी ऐसी साहसी थी कि

उसने हनुमान का रूप धारण कर लिया। सुरसा को पछाड़ा। जो प्रकाशक उससे बातें भी करना नहीं चाहते थे, वे ही उससे लेख देने के लिये अनुनय-विनय करने लगे। लेखनकला का व्यवसाय ऐसा चमका कि उसने "महान् हास्य" (Great Laughter) उपन्यास लिखा, जिसको चलचित्र वालों ने एक करोड़ डालर देकर चित्र बनाने की आज्ञा ली। उसके पास इतना प्रचुर धन आया कि बटोरना कठिन हो गया। जो देवी किसी दिन अकिंचन बन न्यूयार्क में आयी थी, वही दृढ़ाग्रह के बल पर करोड़ों की अधिष्ठात्री बन गई।

दृढ़ाग्रह मन की एक अवस्था है, इसलिये यह उपजाई जा सकती है। मन की और अवस्थाओं के समान, दृढ़ाग्रह निर्दिष्ट कारणों पर आधारित है। उनमें से कुछ ये हैं :—

क—उद्देश की निर्दिष्टता—अपनी अभिलाषा को जानना पहला और कदाचित् सबसे महत्त्व का क्रम है। यही दृढ़ाग्रह को विकास की ओर ले जाता है। यह एक महान् प्रेरक शक्ति है जो हमें अनेकों कठिनाइयों को अतिक्रमण करने की शक्ति देती है।

ख—इच्छा—दृढ़ इच्छा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये एवम् दृढ़ाग्रह को योग-क्षेम का रूप देने के लिये दूसरी भावनाओं की अपेक्षा इच्छा की भावना सुगम है।

ग—आत्म निर्भरता या आत्मावलम्बन—एक योजना के चलाने में अपनी योग्यता पर विश्वास रखना, व्यक्ति को दृढ़ाग्रह करने में उत्साहित करता है।

घ—योजनाओं की निर्दिष्टता—व्यवस्थित योजनाएँ चाहे निर्बल हों, पूर्ण रूप से अव्यावहारिक हों, तो भी अनवरत चेष्टा को प्रोत्साहन देती रहती हैं।

च—यथार्थ ज्ञान—यह जानकर कि अपनी योजना ठोस है, अनुभव पर आधारित है, यथार्थ ज्ञान दृढ़ाग्रह को प्रोत्साहित करता है। इसके विपरीत ज्ञान के स्थान पर मात्र अनुमान होने से दृढ़ाग्रह नष्ट हो जाता है।

छ—सहयोग—सहानुभूति, समझ और दूसरों के साथ हेल-मेल में सहकारिता दृढ़ाग्रह को विकसित करती है।

ज—धारणा शक्ति (Will power)—एक निर्दिष्ट अभिप्राय की उपलब्धि के

लिये योजना बनाने के विचारों को एकाग्र करने का स्वभाव दृढ़ाग्रह की ओर ले जाता है।

झ—**प्रवृत्ति** (Habit)—प्रवृत्ति से ही दृढ़ाग्रह उपलब्ध होता है। मनुष्य जो काम दिन भर करता है, उसका प्रभाव मन पर पड़ता है। भय मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। बार-बार साहस के कामों को करने से ही वह दूर होता है। युद्ध क्षेत्र के सिपाही को इस तथ्य का अच्छा अनुभव होता है।

दृढ़ाग्रह के विषय को समाप्त करने के पूर्व आप अपना निरीक्षण करें और निर्णय करें कि आप में किस आवश्यक गुण की कमी है। प्रत्येक विषय पर, प्रत्येक विन्दु को लेते हुये, अपने को साहसपूर्वक जाँचिये और देखिये कि दृढ़ाग्रह के इन आठ नियोजनों में से कितनों की आप में कमी है। यह विश्लेषण आत्मिक बल को जन्म देने वाले मार्ग पर आपको ले जा सकता है। यह नया आत्मिक बल आप के हित में ही होगा।

दृढ़ाग्रह के अभाव के लक्षण

यहाँ पर आप वास्तविक शत्रुओं को अर्थात् बाधाओं को पावेंगे जो आपके लक्ष्य के बीच खड़े होते हैं। इसमें केवल दृढ़ाग्रह की दुर्बलता सूचित करने वाले लक्षण ही नहीं, अपितु इस दुर्बलता के गहरे पैठे हुये अज्ञात कारण भी मिलेंगे।

यदि आप वास्तव में अपने को जानना चाहते हैं और अपनी शक्ति का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, तो निम्न सूची का सावधानी से अध्ययन कीजिये। ये दुर्बलतायें हैं, जिन्हें उन सभी लोगों को अपने वश में करना चाहिये जो विभूति संग्रह करते हैं।

(१) व्यक्ति स्वयं क्या चाहता है, इसकी जानकारी, पहिचान और स्पष्ट व्याख्या का अभाव।

(२) दीर्घसूत्रता—कारण अथवा बिना कारण ही बहाने बनाकर कालक्षेप करना।

(३) विशिष्ट ज्ञान उपार्जन में अरुचि।

(४) अनिश्चितता—सभी अवसरों पर टाल-मटोल का स्वभाव। मार्ग में उपस्थित बाधाओं का डटकर सामना न कर बगलें झाँकना।

(५) समस्या को सुलझाने के लिये कोई निश्चित योजना बनाने के स्थान पर किन्तु, परन्तु, और आदि लगाने का स्वभाव।

(६) आत्म संतोष—इस व्यथा को कर्म-मार्ग में बाधा रूप से माना गया है और इसका कोई उपचार भी नहीं है। जो इससे पीड़ित हैं उनसे कोई आशा करना व्यर्थ है।

(७) तटस्थता—विरोध का सामना कर लड़ने की अपेक्षा, सभी अवसरों में समझौता करने की तत्परता बहुधा इस स्वभाव वाले में झलकती है।

(८) अपनी भूलों या अपने दोषों को दूसरों के मत्थे मढ़ना और प्रतिफल और परिस्थिति को अनिवार्य समझना।

(९) इच्छा दौर्बल्य—कर्म में प्रेरित करने वाले निश्चित लक्ष्य की उपेक्षा करने से यह दोष आता है।

(१०) पराजय या विफलता का पहला लक्षण सामने आते ही, भाग जाने अथवा छोड़ देने को उद्यत होना और व्यग्रता दिखाना।

(११) व्यवस्थित योजनाओं का अभाव—योजनायें लेखबद्ध न हों, और उनका विश्लेषण न किया गया हो, तो यह दोष आता है।

(१२) किसी कल्पना या सूझ पर कार्य करने की उपेक्षा का स्वभाव, या जब अवसर आता है, तो उसको अपनाने में उपेक्षा करना।

(१३) दृढ़ इच्छा करने की अपेक्षा कोरी इच्छा करना।

(१४) धन की ओर प्रवृत्ति करने के स्थान पर दरिद्रता से ही समझौता कर लेने का स्वभाव। 'पाल्यो है, पालति, पालहुगे' के सिद्धान्त को अपनाना, अथवा "अजगर करे न चाकरी, पछी करै न काम, दास मलूका कह गये, सबके दाता राम" कहकर सन्तुष्ट रहना।

(१५) धन प्राप्ति हित सभी सरल मार्गों को ढूंढ़ना। बिना श्रम द्रव्य पाने का प्रयत्न करना, प्रायः जुआ खेलने का स्वभाव और सट्टेबाजी की प्रवृत्ति।

(१६) छिद्रान्वेषण का भय—**योजना बनाने और उनको कार्यरूप में परिणत करने का अभाव, दूसरे लोग क्या सोचेंगे, करेंगे या कहेंगे,** इस ओर ध्यान देना। यह शत्रु सूची में प्रमुख शत्रु है, इस कारण कि यह साधारणतया व्यक्ति के अज्ञात चेतन मन में रहता है, जहाँ उसकी उपस्थिति पहिचानी नहीं जाती।

छिद्रान्वेषण द्वारा उपजे हुए भय के लक्षणों का अब निरूपण कीजिए। अधिकांश लोग, बन्धु, सम्बन्धियों मित्रों और जनता को इतना प्रभावित करने की चेष्टा एवम् अनुमति पर बल देते हैं कि वे अपना स्वयं का जीवन नहीं भोग सकते। ऐसे लोग प्रायः छिद्रान्वेषण के भय से ग्रस्त होते हैं।

लोगों की बहुत भारी संख्या विवाह सम्बन्ध करने में भूल करती है। प्रण पर स्थिर रहती है। जीवन में दुःख और कष्ट भोगती है, क्योंकि वे छिद्रान्वेषण से भय खाते हैं। यदि वह भूल सुधारें तो छिद्रान्वेषण अर्थात् निन्दा पीछे-पीछे आती है।

करोड़ों मनुष्य पाठशाला छोड़ने के पश्चात् बड़ी अवस्था में विद्या उपार्जन करने के विचार को त्याग देते हैं, क्योंकि वे छिद्रान्वेषण से भय खाते हैं।

अगणित स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध अपने बाँधवों को कर्त्तव्य के नाम पर, अपना जीवन नाश करने की अनुमति देते हैं, क्योंकि उन्हे छिद्रान्वेषण का भय है। [कर्त्तव्य, किसी व्यक्ति को अपनी आकांक्षायें और अपने ही मार्ग से जीवन व्यतीत करने के स्वत्व का नाश करने की अपेक्षा नहीं करता।]

व्यवसाय मे लोग अवसर से लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं, क्योकि वे छिद्रान्वेषण से डरते हैं। यदि वे विफल हुए तो ऐसी धारणा में सफलता के लिये इच्छा करने की अपेक्षा छिद्रान्वेषण का भय बलवान हो जाता है।

अनेक लोग अपने लिए ऊँचा लक्ष्य प्राप्त करना अस्वीकार कर देते हैं। वे ऊँचे व्यवसाय को ग्रहण करना अथवा पद प्राप्त करना भी छोड़ देते हैं, क्योकि वे अपने बाँधवों, मित्रो के छिद्रान्वेषण से भय खाते है। वे इस भावना से डर जाते हैं कि कहीं लोग यह न कहे कि इतना ऊँचा लक्ष्य लेकर चला था। पागल है, सनकी है।

हजारों लोगों में अनुसन्धान द्वारा यह तथ्य प्राप्त हुआ है कि **अधिकांश कल्पनायें या सूझें मृतप्राय शिशु हैं जिनके तात्कालिक उपचार के लिये कर्म की निश्चित आवश्यकता है**। कल्पना के जन्म लेते ही उसको पोषण की आवश्यकता पड़ती है। यही क्षण जीवन देने वाला होता है। तब जितने क्षण वह जीवित रहती है, उतने ही क्षण उसके जीवन का अच्छा अवसर या पूर्ण क्षण कहे जा सकते हैं, अर्थात् जब तक श्वासा तब तक आशा। अधिकांश सूझों की तल भूमि में **विनाशकारी छिद्रान्वेषण** या आलोचना का भय रहता है। यह भय हमें कभी भी **योजना बनाने** एवम् **कर्म का रूप** नियोजित करने का साहस ही नहीं प्रदान करता।

अनेक लोग विश्वास करते हैं कि भौतिक सफलता अनुकूल "भाग्य" का परिणाम है। इस विश्वास के लिए यह भावना आधार स्वरूप है, किन्तु जो लोग सर्वथा 'भाग्य' ही पर निर्भर रहते हैं, वे प्रायः सदा

निराश ही होते हैं। वे प्रायः महत्व के काम की उपेक्षा कर जाते हैं। सफलता में निःसंशय हो सकने के पूर्व ज्ञान की उपस्थिति होनी ही चाहिये। ज्ञान ही के साथ 'भाग्य' व्यवस्थित किया जा सकता है। वही केवल 'भाग्य' है जिस पर कोई भरोसा कर सकता है और वह एक स्वनिर्मित भाग्य है। "ज्ञान, हानि लाभ, जीवन मरण, जस, अपजस, विधि हाथ" स्वनिर्मित होते हैं। इसका आना दृढ़ाग्रह के प्रयोग द्वारा होता है, जिसका आरम्भिक विन्दु **ध्येय की निर्दिष्टता है**।

एक सौ लोगों की, जो आपसे मिलें परीक्षा लीजिये। उनसे पूछिये कि जीवन में सबसे अधिक आपकी क्या अभिलाषा है। उनमें से अट्ठानवे तो कुछ कहने के योग्य न होंगे। यदि उनसे उत्तर पाने का आग्रह कीजियेगा, तो कुछ तो कहेंगे—सुरक्षा, अनेक लोग कहेंगे—धन, बहुत थोड़े लोग कहेंगे—सुख, दूसरे लोग कहेंगे—कीर्ति और बल, और तब दूसरे लोग कहेंगे—सामाजिक मान, आराम का जीवन, नाच-गाने या लेखन की योग्यता। किन्तु इनमें से एक भी इन उद्देश्यों की व्याख्या न कर सकेंगे। वे उस इच्छा की प्राप्ति की एक छोटी सी योजना का संकेत देने में असमर्थ होंगे। भला ऐसी दशा में वे संदिग्ध व्यक्त आकांक्षाओं को कैसे पा सकते हैं। **सम्पत्ति या धन कोरी इच्छा से नहीं आता**। यह तो केवल **निश्चित योजनाओं से या निश्चित इच्छा** से प्रेरित हुये **दृढ़ाग्रह** द्वारा आता है :—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ १४-११

यत्न करते हुये कर्मयोगी अपने हृदय में स्थित हुए इस तथ्य को देखते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शोधित नहीं किया अर्थात् निश्चयों की योजना नहीं बनाई वे अज्ञानीजन यत्न करते हुये भी इसको नहीं देखते।

दृढ़ाग्रह किस प्रकार विकसित किया जाय

यह चार सरल साधन (क्रम) है जो **दृढ़ाग्रह** के स्वभाव की ओर ले जाते हैं। वे कोई बहुत बड़ी बुद्धि या चातुर्य नहीं चाहते और न कोई विशेष शिक्षा उपाधि ही चाहते हैं। वे केवल थोड़ा सा समय और चेष्टा चाहते हैं। वे आवश्यक साधन ये हैं :—

(१) ज्वलन्त इच्छा से प्रेरित इष्ट की पूर्णता या सिद्धि के लिए एक निर्दिष्ट उद्देश्य।

(२) एक निर्दिष्ट योजना, जो अविरत कर्म में प्रगट की गई हो।

(३) अविचलित मन—जिस पर निषेधात्मक, हतोत्साह करने वाले वातावरण का प्रभाव न पड़े, और न जिसको मित्रों, परिचितों तथा सम्बन्धियों का नकारात्मक सुझाव क्षुब्ध कर सके।

(४) एक या अनेक व्यक्तियों के साथ मित्रता का सम्बन्ध जो योजना तथा उद्देश्य दोनों की पूर्ति के लिए प्रोत्साहन दे।

यह चार साधन जीवन के सभी व्यवहार (अर्थ या परमार्थ) में सफलता या सिद्धि के लिए आवश्यक हैं। इस शास्त्र के तेरह सिद्धान्तों का पूर्ण अभिप्राय तथा इन चार साधनों को ग्रहण कर साधक अपने स्वभाव में समाविष्ट कर ले तो उसकी सफलता निश्चित ही होगी।

इन साधनों से कोई साधक अपनी आर्थिक स्थिति पर नियंत्रण रख सकता है।

इन साधनों से साधक को विचार की स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता प्राप्त होती है।

इन साधनों से साधक को थोड़ी या बड़ी मात्रा में धन की उपलब्धि होती है।

इन साधनों से साधक को शक्ति, यश और प्रतिष्ठा का मार्ग मिलता है।

ये ही चार साधन साधक को सौभाग्य का विश्वास दिलाते हैं।

ये ही चार साधन स्वप्नों को साकारता देने वाले हैं।

ये ही चार साधन भय, हतोत्साह और उदासीनता को मिटाने वाले हैं।

जो इन साधनों का उपयोग करना सीख जाते हैं, उन सभी के लिए महान् शोभनीय पारितोषिक है। यह एक विशेषाधिकार अपने भाग्य निर्माण का है जो अपने जीवन से जो माँगे, वह प्राप्त कर ले।

महात्मा गान्धी ने इन चारों साधनों की साधना से साध्य प्राप्त किया :—

(१) निर्दिष्ट उद्देश्य—भारत की स्वतन्त्रता।

(२) अविरत कर्मयोग—प्रदर्शन

(क) बिहार के निलहे गोरों के अत्याचार व चंगुल से किसानों को मुक्त कराना।

(ख) असहयोग आन्दोलन।

(ग) सत्याग्रह आन्दोलन।

(घ) 'भारत छोड़ो' आन्दोलन।

(ङ) 'करो या मरो' आन्दोलन

(३) **अविचलित मन**—(क)नरम दलवालों ने गाँधी जी को हतोत्साह करने का शक्ति भर प्रयत्न किया, पर गाँधी जी हिमालय के समान अचल रहे।

(ख) अंग्रेजों ने गाँधी जी की कटु आलोचना की—आवारा, उच्छृखंल, और मूर्ख कहा पर वह 'अटल' बने रहे।

(ग) अंग्रेजों ने जेल में डाला, यातनायें दीं पर गांधी जी 'स्थितप्रज्ञ, रहे।

(घ) बहुतों ने विशेषरूप से सरकारी नौकरों व अंग्रेज़ों के पिट्ठुओं ने गालियाँ भी दीं, पर गाँधी जी 'स्थिरधी' बने रहे।

(ङ) संसार के अंग्रेज़ भक्त देशों ने गाँधी जी को भला बुरा कहा पर वह 'बीतराग' अवस्था में बने रहे।

(४) **मित्रता**—गाँधी जी ने सबसे मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया और अपने पक्ष में करोड़ों मनुष्यों का सहयोग प्राप्त किया, विशेषरूप से अंग्रेजों के प्रति अपना हाथ बढ़ाकर, मित्र भाव को साकारता दी।

इस प्रकार गाँधी जी साधक बन कर उपर्युक्त चार साधनों से साध्य बन गये—अर्थात् उपासक से उपास्य अथवा अणोरणीयान् से महतो महीयान्। **यज्ञार्थ कर्म** समष्टि के हित कर्म द्वारा **स्वराज्यरूपी सिद्धि** प्राप्त कर वे महात्मा बन गये।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तोमुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।- ३-१३

यज्ञ का शेष खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब विरोधों (पापों) से छूटते हैं, जो अपने ही पोषण के लिए (सकामीजन) पकाते हैं वे तो पाप को खाते हैं।

यज्ञ शेष (भाग) निष्कामकर्म (समष्टि के हित कर्म) द्वारा विभूति में राष्ट्रपिता का पद प्राप्त किया, जो उपनिषद् के शब्दों में, "मृत्युं तीर्त्वा अमृतमश्नुते, अर्थात् मृत्यु को पारकर सदा के लिए वे अमर हो गए। महान् आत्मा उत्क्रमण नहीं करती, यहीं विश्व अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाती है, जिसको महाकवि इकबाल ने यों व्यक्त किया है—

"उठाये कुछ वरक लाले ने कुछ नरगिस ने कुछ गुल ने।
चमन में हर तरफ बिखरी हुई हैं दास्तां मेरी॥
उड़ा ली कुमरियों ने तूतियों ने अन्दलीबों ने।
चमन वालों ने मिलकर लूट ली दर्दे फुगां मेरी॥"

अर्थात् उसके आचरण तथा वाणी जो उपदेश रूप में होती है, उसका अनुकरण कर, उसके गुण गाते रहकर, अमर बना देते हैं। **"एकत्वेन पृथत्वेन बहुधा विश्तोमुखम्।"**

इसमें आत्मा के विस्तार का सुन्दर वर्णन किया गया है।

यज्ञ दो प्रकार के कहे गये हैं—एक निष्काम और दूसरा सकाम। निष्काम का रूप स्वयं महात्मा गान्धी थे। दूसरा वैयक्तिक स्वार्थ साधन सकाम यज्ञ आजकल उनके अनुयायी, पदलोलुपता में कर रहे हैं। इसका प्रतिफल अस्थायी स्वर्ग प्राप्ति तो है, किन्तु अन्त में "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" में ही होता है अथवा "भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् में प्रत्यक्ष होता है।

●

दसवाँ अध्याय

मनीषी मनोबल—प्रेरक शक्ति

विभूति की ओर नवम सोपान

विभूति संग्रह में सफलता प्राप्त करने के लिये "**शक्ति**" आवश्यक है।

योजनायें कर्म में रूपान्तरित करने के लिए पर्याप्त शक्ति आवश्यक है। बिना इस शक्ति के वे निश्चेष्ट और निष्फल हैं। यह अध्याय उस विधि की व्याख्या करेगा, जिसके द्वारा कोई व्यक्ति **शक्ति** प्राप्त कर सके और उसे प्रयोग में ला सके।

शक्ति की व्याख्या "व्यवस्थित और बुद्धिपूर्वक निर्देशित **ज्ञान**" के रूप में की जा सकती है। शक्ति शब्द जो यहाँ उपयोग में आया है, व्यवस्थित चेष्टा को लक्षित करता है। शक्ति इतनी पर्याप्त होनी चाहिए ताकि **इच्छा** को विभूति में रूपान्तरित किया जा सके। **व्यवस्थित** चेष्टा भावना है जो, दो या अधिक लोगों की सम्मिलित चेष्टा द्वारा, एक निर्दिष्ट ध्येय की ओर ऐक्य भावना से कर्मरत करने में सहायता देती है।

विभूति संग्रह या संचय में शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। विभूति अथवा धन के योगक्षेम अथवा ग्रहणसामर्थ्य के लिए संग्रह के पश्चात् शक्ति आवश्यक है।

अब हम निर्णय करें कि शक्ति कैसे उपार्जित की जा सकती है। यदि शक्ति "व्यवस्थित ज्ञान" है, तो हम उसके स्रोतों का निरीक्षण करें।

क—अनन्त ज्ञान (Infinite Intelligence)—इस ज्ञान का स्रोत, जो अन्य अध्याय में रचनात्मक कल्पना की सहायता के साथ वर्णित है, व्यवहार में लाया जा सकता है।

ख—संचित अनुभव—मनुष्य के संचित अनुभव (या वह भाग जो व्यवस्थित और लेखबद्ध कर लिया गया है) किसी सुसज्जित सार्वजनिक पुस्तकालय में पाये जा सकते हैं। इस संचित अनुभव का एक महत्वपूर्ण भाग सार्वजनिक पाठशालाओं और विद्यालयों में पढ़ाया जाता है, जहाँ वह यथाक्रम व्यवस्थित है।

ग—**प्रयोग और अनुसंधान** (Experiment & Research)—विज्ञान के क्षेत्र में और वस्तुतः प्रत्येक जीवन के दूसरे व्यवहारों में, मनुष्य नित्यप्रति नये तथ्य और तत्व एकत्रित, वर्गीकृत, और व्यवस्थित कर रहा है।

यदि संचित अनुभव से ज्ञान प्राप्त न हो तो साधक को इस ओर (परीक्षण व अनुसन्धान की ओर) मुड़ जाना चाहिए। यहाँ भी रचनात्मक कल्पना का प्रयोग अवश्य होना चाहिये।

ज्ञान उपर्युक्त स्रोतों में किसी से भी उपार्जित किया जा सकता है। निर्दिष्ट **योजनाओं को व्यवस्थित कर** और उनको कर्म से संयुक्त कर यह ज्ञान **शक्ति** में परिवर्तित किया जा सकता है।

यदि साधक ज्ञान संचय करने में तथा निश्चित योजना को **कर्मरूप** में परिणत करने में अकेला ही चेष्टा करेगा और अपने प्रयत्नों पर ही निर्भर रहेगा तो ज्ञान के तीन प्रधान स्रोतों का परीक्षण उसकी कठिनाई को तुरन्त ही प्रकट कर देगा। यदि साधक की योजना बहुत विस्तीर्ण या बहुत बड़े परिमाण में हो, तो शक्ति के आवश्यक तत्वों को अन्तःप्रवेश करने के पूर्व उसे दूसरों से सहयोग के लिए आग्रह करना चाहिए।

मनीषी (Master mind) द्वारा शक्ति अर्जन करना

"मनीषी" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—किसी निश्चित उद्देश्य की उपलब्धि के लिए दो या दो से अधिक मनुष्यों के बीच ऐक्य भावना में ज्ञान और चेष्टा का समन्वय।

भारत में गुरु परम्परा इसी हेतु माननीय है, क्योंकि ज्ञान विशेषज्ञों और अनुभवी पुरुषों को ही उपलब्ध है, और वह भी सीमित संख्या को। अधिकाँश लोग अपने अपने आश्रम व कुल के अनुसार जीवन निर्वाह के कर्मों में लगे रहते हैं और उन कर्मों में जो भी कठिनाई पड़ती है वह अपने गुरुजनों से दूर करा लेते हैं। यों तो मनुष्य का पहला गुरु माता है, फिर पिता का पद है। ये दोनों तो शारीरिक और आर्थिक ज्ञान देते हैं, परन्तु इनसे ऊपर कुल गुरु होते हैं, जो धर्म तथा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देते हैं। ये ही लोग देवता के रूप में माने जाते हैं, जैसा कि वेदों में कहा है, **"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव गुरुदेवो भव"**

मनुष्य जब अपने अपने कर्म में रत होकर जीवन की वृद्धावस्था पर पहुँचता है, तब अपने जीवन की सभी क्रियाशीलताओं में शिथिल होने के कारण मनन करना ही उसका कर्म रह जाता है। उस अवस्था में वह विगत क्रियाशीलताओं के अनुभवों तथा परिणामों पर बिचार करता रहता है।

यद्यपि यह भावना सभी वृद्धों में रहती है, तथापि ऐसे मननशील व्यक्ति उनमें बहुत थोड़े ही होते हैं जिनकी बुद्धि विवेकशील होती है। ऐसे ज्ञानी जन प्राचीन काल में वानप्रस्थ आश्रम मे जाकर पुराने मनीषियों के सत्संग में अपने भी जीवन के अनुभव प्रस्तुत करते थे। वाद-विवाद के उपरान्त किसी नियम को बनाते थे। ये नियम शास्त्रों में सम्मिलित कर लिये जाते थे।

इन लोगों के पास राजे महाराजे अपनी कठिनाइयाँ प्रस्तुत करते और सहायता माँगते थे। इन्ही के परामर्श से राज्य में न्याय व्यवहृत होता था। ऐसा भी होता था कि नागरिक न्याय इन्ही के हाथ में रहता था। राजा दशरथ के दरबार में गुरु बशिष्ठ ही प्रधान मंत्री थे। इन लोगों का काम ज्ञान देना होता था। प्रजापालन राजा करते थे। गाँव के वृद्ध-जन भी गुरुजन कहलाते थे। छोटी-छोटी बातों का न्याय वे ही करते थे। प्रत्येक समाज में चौधरी अर्थात् गुरुजन रहते थे, वे समस्या सुलझाने की युक्तियाँ बताते थे। द्वापर में योगेश्वर श्रीकृष्ण और उनके शिष्य महान् कर्मयोगी अर्जुन ने मिलकर भारत में धर्मसंस्थापन किया था।

ज्ञान उपार्जन का साधन, गीता के अनुसार, उपर्युक्त "संचित अनुभव के विषय में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है :—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामनारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यास्थतौ।
ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।

जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होगा और न परमगति (इष्ट) को और न सुख को ही। इससे तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्याख्या में शास्त्र ही प्रमाण हैं, ऐसा जानकर शास्त्र-विधि से नियत किये हुये कर्म को करो।

इस प्रकार आप शक्ति के अदृश्य प्रभाव को, जो उपर्युक्त रीति से चुने हुये मनीषी समुदाय द्वारा प्राप्य है, भली भाँति समझ सकते हैं। यहाँ हम मनीषी सिद्धान्तों के लक्षणों की व्याख्या करेंगे, जिनमें एक आर्थिक स्वभाव का है और दूसरा आध्यात्मिक (Psychic) स्वभाव का। आर्थिक रूप तो स्पष्ट है। आर्थिक लाभ व सुविधायें किसी व्यक्ति द्वारा उत्पदित की जा सकती हैं। जो ऐसे मनीषी समुदाय के सम्पर्क में रहता है, उसे असफलता नहीं मिलती। जो प्राप्त उपदेश, मंत्रणा, विवेचन आदि को सच्चे हृदय से एवम् ऐक्य की भावना के साथ निजी सहायता के लिये ग्रहण करते हैं, वे प्रायः सफल-

होते है। इस रूप की सहकारी संधि प्रायः प्रत्येक संपदा का आधार रही है। हो सकता है, इस महान् सत्य को समझ लेना निर्दिष्ट रूप से आपकी आर्थिक स्थिति का निर्णय करने में सहायक हो सके।

मनीषी मनोबल सिद्धान्त का आध्यात्मिक रूप बहुत अधिक निगूढ़ है। उसे अन्तर्हित करना कठिन है। उसका सम्बन्ध उन आध्यात्मिक—(निराकार अथवा असांसारिक)-शक्तियों से है, जिससे मानव जाति, समष्टि रूप से, भली भाँति परिचित नहीं है। हो सकता है कि आप इस वर्णन से एक उपदेशपूर्ण तथ्य को ग्रहण कर सकें—"जहाँ द्वैत भाव होता है, वहाँ अद्वैत भावना आने तक ही मतभेद रहता है। जहाँ अनन्तज्ञान अद्वैत भाव में आया, वहाँ मतभेद समाप्त हुआ।"

इस यथार्थ को मन में रखे रहिये कि समस्त विश्व में दो ही तत्व हैं। चेतन और जड़ अथवा शक्ति और पदार्थ (Mater)। यह तो भली भाँति जानी हुई बात है कि जड़ पदार्थ को अणु, परमाणु, इलेक्ट्रान में खण्डित किया जा सकता है। केवल जड़ पदार्थ की इकाइयाँ ही ऐसी होती हैं जिनका विभाजन, विच्छेद और विश्लेषण किया जा सकता है, इसी प्रकार शक्ति की भी इकाइयाँ होती हैं।

मानव मन शक्ति का एक रूप है जिसका एक भाग आध्यात्मिक (निराकार या असांसारिक) स्वभाव में स्थित है। जब दो लोगों के मन ऐक्य की भावना में संयुक्त होते हैं, तब प्रत्येक मन की शक्ति की आध्यात्मिक इकाइयाँ एकरूप हो जाती हैं। यही एकता तत्ववेत्ता के आध्यात्मिक जगत् की रचना करती हैं।

किसी भी ऐसे पुरुष के जीवन का विश्लेषण कीजिये जिसने महान् संपत्ति संचित की हो। साथ ही उन अनेक लोगों के भी जीवन का विश्लेषण कीजिये जिन्होंने अल्प परिमाण में संपत्ति संचित की है। आप इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से उन्होंने मनीषी मनोबल सिद्धान्त का प्रयोग किया था।

महान् शक्ति, मनीषी सिद्धान्त के अतिरिक्त और किसी दूसरे सिद्धान्त द्वारा संचित नहीं की जा सकती।

यह सिद्धान्त परमार्थ और स्वार्थ दोनों के लिये यथार्थतः लागू है — "बिन गुरु होय न ज्ञान" अथवा "बिन सत्संग विवेक कि होई"।

शक्ति प्रकृति की निर्माण समाग्री है। प्रकृति इसी शक्ति के माध्यम से विश्व के सभी स्थूल पदार्थों का निर्माण करती है। इसमें मनुष्य और सभी प्रकार के पशु, पक्षी, जीव, जन्तु तथा बनस्पति वर्ग सम्मिलित हैं। एक ऐसी

विधि द्वारा जिसका पूर्ण ज्ञान केवल प्राकृति को ही है, वह शक्ति का रूपान्तर पदार्थों में करती है।

प्रकृति की निर्माण सामग्री मनुष्य को उस शक्ति से उपलब्ध होती है, जो विचार में अन्तर्निहित है। मनुष्य के मस्तिष्क की तुलना एक ऐसी बिजली की बैटरी से की जा सकती है जो आकाश में पदार्थों के प्रत्येक कण में व्याप्त उस शक्ति को खींच लेती है। वस्तुतः समस्त विश्व उस शक्ति से भरपूर है।

यह भी भली भाँति जाना हुआ तथ्य है कि एक बैटरी की अपेक्षा बैटरियों का समुदाय अधिक शक्ति उत्पन्न करता है। यह भी जाना हुआ है कि एक अकेली बैटरी उतने ही परिमाण में शक्ति देती है, जितनी संख्या में और जितनी क्षमता के कोष (Cell) उसमें लगाये जाते हैं।

मस्तिष्क भी ठीक इसी प्रकार काम करता है। यह इस तथ्य को सिद्ध करता है कि कुछ मस्तिष्क दूसरों की अपेक्षा अधिक कार्य साधक हैं। यह निष्कर्ष इस अर्थयुक्त वर्णन की ओर ले जाता है कि ऐक्य भावना के अनेक मस्तिष्क, एक मस्तिष्क की अपेक्षा, अधिक विचार-शक्ति उसी प्रकार प्रदान करेंगे, जिस प्रकार एक बैटरी की अपेक्षा अनेक बैटरियाँ अधिक शक्ति देती हैं।

इस रूपक द्वारा शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि जो विचारशील मस्तिष्कों के संसर्ग में रहते हैं, उनसे प्रशासित शक्ति का रहस्य मनीषी सिद्धान्त पर अवलम्बित है।

इस जगह एक दूसरा कथन भी आता है, जो मनीषी मनोबल सिद्धान्त के आध्यात्मिक पक्ष को समझने में सहायक होता है। जब अनेक व्यक्ति किसी विषय पर सामूहिक रूप से सहयोग की भावना में विचार करते हैं, तब, सबके मस्तिष्क की शक्ति एकत्र होकर, **महाशक्ति** बन जाती है। यह महाशक्ति उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध होती है।

यह तथ्य सुविदित है कि हैनरी फोर्ड ने अपने उद्योग को दरिद्रता, अशिक्षा और अज्ञान से ग्रस्त अवस्था में प्रारम्भ किया था। यह भी समान रूप से जाना हुआ तथ्य है कि दस वर्ष के नगण्य समय में फोर्ड ने इन तीनों बाधाओं को दूर कर दिया था। पच्चीस वर्ष के भीतर ही अपने इन्हीं प्रयासों से वह अमेरिका के सबसे बड़े धनियों में एक बन गया था। जब से फोर्ड की घनिष्ठ मित्रता एडीसन से हुई, तब से उसकी उन्नति दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी। यह दो मस्तिष्कों के सहयोग का परिणाम था।

अब और आगे बढ़कर देखिये। जब से फोर्ड की घनिष्टता हार्वे फायर स्टोन, जॉनवरों और लूथर बरबेंक से हुई, जिनमें से प्रत्येक महान धीमान् था, तब से फोर्ड की आर्थिक सम्पत्ति सीमा अतिक्रमण कर गई। यह जीता जागता प्रमाण है कि मस्तिष्कों के सहयोग से कितनी अद्भुत शक्ति उत्पन्न को जा सकती है।

इसमें सन्देह नहीं है कि फोर्ड उद्योग और व्यवसायी जगत् में एक सुबोध पुरुष था। उसके धन के विषय में तो कहना ही नहीं है। फोर्ड के घनिष्ठ मित्रों का निरूपण कीजिये, उनमें से कुछ ऊपर दिये गये हैं, और इस सूक्ति को हृदयंगम कीजिये :—

"मनुष्य उन लोगों की प्रकृति, स्वभाव, **विचार** तथा **शक्ति** को ग्रहण कर लेता है, जिनके साथ उनका घनिष्ठ संपर्क होता है।"

फोर्ड ने महान् आत्माओं से मित्रता कर एवम् उनके विचारों के स्पन्दनों को आत्मसात् कर, दरिद्रता, निरक्षरता और अज्ञान को कोड़े मारकर दूर भगाया था। एडीसन, बरबेंक, फायरस्टोन और बरोंस के संसर्ग में आकर, फोर्ड ने अपनी मस्तिष्क शक्ति के साथ, इन चार महापुरुषों की बुद्धि, अनुभव, ज्ञान और आध्यात्मिक शक्तियों को जोड़ लिया। उसने इस निबंध में वर्णित मनीषी मनोबल सिद्धान्त को कार्यप्रणालियों का उपयोग किया।

यह सिद्धान्त आप के लिये भी उपलब्ध है।

हम महात्मा गाँधी के विषय में पहले भी कह चुके हैं। जिन्होंने गाँधी जी के विषय में सुन रखा है, उनमें कदाचित् अधिकाश लोगो का मत यह है कि गाँधीजी एक सनकी और विपथगामी पुरुष था, जो नंगा, लंगोटी लगाये सब जगह फिरा करता था और ब्रिटिश राज्य के लिये कांटा था।

वास्तव में महात्मा गाँधी विपथगामी नहीं थे और न सनकी ही थे, अपितु आधुनिक जगत् में सबसे अधिक शक्तिशाली पुरुष थे। उनके अनु-यायियों की संख्या बहुत बड़ी थी, जिनकी उन पर अटूट श्रद्धा थी। गाँधी जी से अधिक प्रभावशाली पुरुष कदाचित् ही कभी हुआ हो। उनकी शक्ति अन्तर्निहित थी।

अब हम गाँधीजी की पद्धति का अध्ययन करें, जिनके द्वारा उन्होंने महान् बल प्राप्त किया। इसकी थोड़े ही शब्दों में व्याख्या हो सकती है। उन्होंने बीस करोड़ से अधिक जनता के मन और शरीर में **ऐक्य की भावना भर दी**। इसी भावना ने उन्हें शक्तिशाली बनाया। गाँधी जी का यही एक

अलौकिक चमत्कार था। यदि आप को शंका है कि यह चमत्कार नहीं है, तो कुछ व्यक्तियों को **एकता की भावना** में सहयोग करने के लिये प्रोत्साहन दीजिए। प्रसिद्ध कहावत के अनुसार "एक और एक ग्यारह" होने के सिद्धान्त को गाँधी जी ने प्रयोग में लाकर दिखा दिया।

प्रत्येक व्यक्ति जो व्यवसाय चलाता है, जानता है कि ऐसे कर्मचारी का, जिसका मालिक से **तादात्म्य** सम्बन्ध हो, मिलना कितना कठिन है।

मुख्य साधनों की सूची में, जिनसे शक्ति प्राप्त होती है, **अनन्त ज्ञान** ही का पहला स्थान है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। जब दो या अधिक व्यक्ति **एकता की भावना** में मिलकर, एक निर्दिष्ट उद्देश्य के हेतु काम करते हैं, तब उस संधि द्वारा वे **अनन्त ज्ञान** के भण्डार से शक्ति को तुरन्त आत्मसात् कर लेते हैं। शक्ति का उद्गम स्थान यही है। इसकी ओर प्रत्येक नेता अथवा मेधावी या प्रतिभाशाली व्यक्ति, जाने या अनजाने में, आकर्षित होता है।

शक्ति प्राप्त करने के लिए **संचित अनुभव** और **अनुसंधान एवं प्रयोग**, ये दो और मुख्य स्रोत हैं, जो इन्द्रियजन्य हैं। इसी से ये पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं हैं। इन्द्रियाँ सदा विश्वासपात्र नहीं होतीं। **अनन्त ज्ञान में कभी भूल नहीं होती।**

यह ग्रन्थ किसी संप्रदाय विशेष का धर्मोपदेश नहीं है। इसमें वर्णित सभी सिद्धान्त मौलिक है, जो किसी भी धर्म पर परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से आक्षेप नहीं करते। इसका लक्ष्य तो केवल पढ़ने वालों को उपदेश रूप में यह बताना है कि किस प्रकार **इच्छा के निर्दिष्ट उद्देश्य को विभूति या संपत्ति में रूपान्तरित** करें—अथवा यों कहिये इसमें उस अगोचर मार्ग को गोचर कर दिया गया है, जिससे मनुष्य **विभूतिमान** बन सकता है।

धन उतना ही **लज्जाशील** और छलिया है, जितना कि एक अति सुन्दर युवती। जैसे सुन्दरी युवती अपने निर्दिष्ट प्रेमी को आकर्षित करने के लिये छल-छन्द, द्वन्द-फन्द और हाव-भाव दिखाती है, वैसे ही विभूति को आकर्षित करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। वह शक्ति जब सफलतापूर्वक धन या विभूति संचय में लगाई जाय, तब वह श्रद्धा के साथ मिश्रित होनी चाहिए। साथ ही **इच्छा** और **दृढ़ाग्रह** अर्थात् **अनवरत चेष्टा** भी उसमें मिली होनी चाहिए और एक योजना द्वारा वह कार्य रूप में परिणित होनी चाहिए।

जैसे पहाड़ी से पानी ढलान में सरलता से बहता है, वैसे ही धन विपुल मात्रा में आता है अर्थात् छप्पर फाड़ कर आता है। वह उनकी ही ओर

आता है, जो संचय करने में लगे हुए हैं। जगत् में शक्ति का महान् प्रवाह वर्तमान है, जिसकी तुलना एक नदी से की जा सकती है। इसकी एक धारा एक दिशा को बह रही है। उस धारा में जो भी पड़ता है, उसे वह आगे संपत्ति की ओर बहा ले जाती है। दूसरी धारा, उसके विपरीत दिशा में बह रही है। वह उन अकर्मण्यों को, जो उसकी लपेट में आते हैं और जो अपने को उससे बाहर नहीं निकाल सकते, नीचे दुख और दरिद्रता की ओर बहा ले जाती है।

प्रत्येक पुरुष जिसने महान् संपदा संचित की है, जीवन के इस प्रवाह के अस्तित्व को स्वीकार तथा प्रमाणित किया है। वह व्यक्ति की निश्चयात्मक प्रवृत्ति हैं। विचार की निर्दिष्ट भावनाएँ प्रवाह के लिए उस पक्ष को रखती हैं जो व्यक्ति को संपदा की ओर ले जाती हैं। अनिश्चित भावनायें उस पक्ष को रखती हैं, जो व्यक्ति को नीचे दरिद्रता और दुःख की ओर ले जाती है :—

उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा. ॥१४-१८

सत्व अर्थात् निश्चयात्मक बुद्धि वाले ऊँचे जाते हैं, रजोगुण वाले अर्थात् जिनकी उभयात्मक बुद्धि है बीच में ही रहते हैं, तामस अर्थात् आलस, कार्यरूप निद्रा वाले अधोगति को प्राप्त होते हैं कर्मण्य विभूतिमान बनते हैं। थोड़ा बहुत काम करने वाले मध्यमवर्ग में रहते हैं। अकर्मण्य दरिद्रता का दुःख भोगते हैं। (विशेष व्याख्या पृष्ठ ६५ पर देखिए।)

प्रस्तुत सिद्धान्त उस व्यक्ति को जो इस निबन्ध का अनुवर्तन कर रहा है, विभूतिमान बनने की प्रेरणा देता है, क्योंकि एक आश्चर्यमय महत्वता का विचार, सम्पत्ति संचय को प्रोत्साहन देता है।

यदि आप शक्ति के प्रवाह के उस पक्ष में हैं जो दरिद्रता की ओर बह रहा है तो हो सकता है, कि यह विचार आपको डाँड़ों के रूप में सहायता करे। इसके द्वारा आप नदी के दूसरे किनारे पर, जहाँ विभूति है, खे कर लग सकते हैं। यह मार्ग आपकी सेवा उसी समय कर सकता है जब आप निर्देशित प्रयोगों और उपयोगों को व्यवहार में लाने का प्रयास करेंगे। मात्र पढ़ना और एक या दूसरे पक्ष में उस पर निर्णय करना, किसी भी रीति से आपको लाभ न पहुँचायेगा।

दरिद्रता और **संपदा** बहुधा स्थान परिवर्तन करती हैं। हो सकता है कि दरिद्रता स्वतः सहसा संपदा का स्थान ले ले। जब **संपदा दरिद्रता का स्थान**

लेती है, तब वह प्रायः सुबोधित और सावधानी के साथ आचारित योजनाओं द्वारा ही लेती है। दरिद्रता योजना की सहायता नहीं चाहती, क्योंकि वह निर्लज्ज और निष्ठुर है, और संपदा लज्जावान और कातर। गीता में मनीषी मनोबल के विषय में कहा है :—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥ १८-७८

जहाँ योगेश्वर (Master mind) श्रीकृष्ण हैं, जहाँ गाँडीव धनुषधारी अर्जुन (ज्वलन्त इच्छा और दृढ़ाग्रही हैं) वहीं पर श्री, विजय और विभूति है। ऐसा मेरा मत है। इसलिये यदि विभूति की उत्कट इच्छा है तो :—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्यस्यसि शाश्वतं ॥१८-६२

हे भारत! सब प्रकार अपने इष्ट की ही शरण में प्राप्त हो, उसकी कृपा से परम शान्ति तथा सनातन स्थान या सर्व कालीन सुख प्राप्त होगा अर्थात् विभूति प्राप्त करो, जिससे सुख ही सुख होगा।

विभूति कृष्ण के रूप में कह रही है—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥१८-६६

सब धर्मों अर्थात् सभी प्रवृत्तियों को त्यागकर, मुझ विभूति की शरण में आ, अर्थात् विभूतिमान बनने का प्रयत्न कर। मैं अर्थात् विभूतिरूप से तेरे सब पापों को अर्थात् दरिद्रता को दूर कर दूँगा, शोक न कर। धर्मश्चार्थ परिग्रह अर्थात् धर्म सिद्ध होता है (अर्थ संग्रह से) अथवा धर्म का अनुष्ठान भी महान् धन ही हो सकता है (म० भा० वनपर्व)

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनतो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २३

धन को उत्तम धर्म का साधक बताया गया है। धन में सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसार में धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं। जो निर्धन हैं, वे तो मरे हुए के ही समान हैं।

तं तदा मन्युरेवैति स भूयः सम्प्रमुह्यति।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ॥३२॥

निर्धन अवस्था में मनुष्य को केवल क्रोध आता है, जिससे वह पुनः मोहाछन्न हो जाता है—विवेक शक्ति खो बैठता है। मोह के वशीभूत होकर वह क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है। इसलिये :—

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ।
प्राणयात्रोपि लोकस्य बिना ह्यर्थं न सिद्धयति ॥ शां. प. अ. ८श्लोक--१७
धन से ही धर्म, काम और स्वर्ग की सिद्धि होती है।
लोगों का जीवन निर्वाह भी बिना धन के नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि, मन को इधर-उधर और दूसरे व्यर्थ के कामों में न लगा कर, विभूति देवता को प्राप्त करने में अनन्य भाव से लगा । विभूतिमान बनने से सब दुःख स्वयं नष्ट हो जाते हैं कहा भी है :—

धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति ।
धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति ॥
धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके ।
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वं ॥—भर्तृहरि

धन से अकुलीन भी कुलीन बन जाता है, धन से ही मनुष्य सब आपदाओं को पार कर जाता है। इस लोक में धन के समान कोई बन्धु नहीं है। इसलिये धन ही संचय करो, धन ही संचय करो अर्थात् विभूतिमान बनो।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण विभूतिवादी अमेरिका है, जो वर्तमान युग में उन्नति के शिखर पर पहुँच गया है। दूसरी ओर धर्म परायण (अध्यात्मवादी) भारत हजार वर्ष से अधिक समय से दासता के बन्धन में पड़कर दरिद्रता भोगते हुये अभी तक अपने को दरिद्रता से मुक्त न कर सका और विभूतिमान अमेरिका से आर्थिक सहायता की याचना करता रहता है। गिड़गिड़ाता रहता है।

यस्य धर्मोहि धर्मार्थं क्लेश भाङ् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥ म० वन० ३३-२३

जिसका धर्म केवल धर्म के लिये ही होता है, वह धर्म के नाम पर केवल क्लेश उठाने वाला मानव बुद्धिमान नहीं है। जैसे अन्धा सूर्य की प्रभा को नहीं जानता, उसी प्रकार यह धर्म के अर्थ को नहीं समझता।

केवल धर्म में ही लगे रहने वाले किसी भी नरेश ने आज तक न तो पृथ्वी पर विजय पायी है और न पृथ्वी तथा लक्ष्मी को प्राप्त किया है ॥ (महाभारत वन पर्व अ० २३ श्लोक २३)

धार्मिकवाद (अध्यात्मवाद) का यहाँ पर खंडन नहीं किया जा रहा है, उसका अपना महत्व है, परन्तु सभी समय अध्यात्म उपयोग में नहीं

लाया जा सकता। अध्यात्मवाद का उपयोग केवल अनाशक्ति के लिये है। विभूतिमान बनने के पश्चात् ही अध्यात्मवाद उपयोगी है।

पहले आप विभूतिमान बनिये, तब अध्यात्म को उपयोग में लाइये। विभूति पाने पर जो गर्व होता है, उसको अध्यातमवाद रोकेगा और अपना सुन्दर प्रभाव डालकर, आपको समष्टि के हित अपनी विभूति को सद्उपयोग में लगाने को प्रेरित करेगा। दरिद्रता के रहते अध्यात्म को प्रोत्साहन देना उतना ही प्रयोजन रखता है, जितना एक मनुष्य के गड्ढे में गिरने की संभावना होने पर उसको और ढकेलना कि वह गिर ही जाय। कहा भी है:— "**भूखे भजन न होय गुपाला।**" दूसरी ओर अध्यात्म विभूतिमान की बुद्धि-साम्य रख कर, उसके योगक्षेम में दूना उत्साह बढ़ाता है। इसलिये पहले विभूतिमान बनिये, चाहे कोई भी विभाग हो। व्यवसाय, उद्योग, आविष्कार कला, ज्ञान, विज्ञान आदि सब में अपना प्रभुत्व स्थापित कीजिये तब अध्यात्म के सहयोग से परमानन्द प्राप्त कीजिये।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

काम-शक्ति के रूपान्तर का रहस्य

विभूति की ओर दसवाँ सोपान

रूपान्तर शब्द के अर्थ, सरल भाषा में "परिवर्तन" हैं। इसका आशय है, एक तत्व या शक्ति के रूप को दूसरे में परिवर्तित या स्थानान्तरित करना।

काम-भावना जीव के मन को, एक अनिर्वचनीय अवस्था में ले जाती है।

इस विषय की अज्ञानता के कारण मन की इस अवस्था को सामान्यतः शरीर से संसर्गित किया जाता है। काम-भावना का ज्ञान प्राप्त करने मे लोग इसी भ्रम से प्रभावित होते हैं। मानसिक भावना को शारीरिक समझने के कारण इसका विकृत रूप खड़ा कर दिया गया है।

काम-भावना के पृष्ठ में तीन रचनात्मक क्षमतायें संभव हैं। वह—

१. जीव मात्र की परंपरा बनाये रखती है।

२. स्वास्थ्य को सुरक्षित रखती है।

३. सामान्य जन को प्रतिभाशाली व्यक्ति में रूपान्तरित करती है।

काम-भावना का परिवर्तन सुगम है और सरलता से इसका निरूपण होता है। इसका उपाय यह है कि शारीरिक विषय की ओर ध्यान न देकर दूसरी ओर ध्यान बटा देने से काम-भावना दूसरे भाव में परिवर्तित हो जाती है।

कामेच्छा, मानव इच्छाओं में सबसे बलवान इच्छा है। जब मनुष्य इस इच्छा से प्रेरित होता है, तब उसमें कल्पना की तीक्ष्णता, साहस, इच्छा-शक्ति, दृढ़ाग्रह (अनवरत चेष्टा) और रचनात्मक योग्यता सहसा प्रस्फुटित हो जाती है। रति के लिये इतनी प्रबल और प्रोत्साहक इच्छा होती है कि मनुष्य, कामाशक्ति की अवस्था में, अपनी प्रतिष्ठा, यहाँ तक कि अपने प्राण भी, बलिवेदी पर चढ़ाने को तत्पर हो जाता है। जब यह आशक्ति दूसरी ओर नियोजित या निर्देशित की जाती है, तब यह प्रेरक शक्ति सभी उपर्युक्त गुण, कल्पना की तीक्ष्णता साहस आदि को सुरक्षित रखती है, तथा

बलवान रचनात्मक शक्ति के रूप में साहित्य, कला, आविष्कार, उद्यम या कोई अन्य व्यापार, विभूति संचय आदि मे प्रयुक्त हो जाती है।

निःसंशय होने के लिये काम-शक्ति के परिवर्तन में इच्छाशक्ति के प्रयोग की आवश्यकता है, परन्तु फल चेष्टा पर निर्भर है। रति इच्छा का व्यक्त होना जन्मजात और प्राकृतिक है। इच्छा कभी नष्ट नहीं की जा सकती और करना भी नहीं चाहिये, परन्तु उसके निकलने के लिये एक ऐसा मार्ग भी देना चाहिये, जो शरीर, मन और मनुष्य की भावना को समृद्ध करे। यदि यह मार्ग न दिया गया, तो वह दूसरे मार्ग को अर्थात् शारीरिक सम्बन्ध को ढूँढ़ेगी क्योंकि उसे अवश्य निकलना है।

किसी एक नदी का पानी, कुछ समय के लिये, बाँध निर्माण द्वारा रोका जा सकता है। किन्तु अन्त में वह कहीं न कहीं फोड़ कर अपना निकास निकाल लेता है। काम भावना के लिये भी यह समान रूप से सत्य है। हो सकता है कि वह कुछ समय के लिये रोक दी जाय या वश में कर ली जाय, परन्तु उसका स्वभाव ही व्यक्त होने के माध्यमों को खोजते रहने का है। यदि वह किसी रचनात्मक चेष्टा में विपरिणमित न की गई हो, तो वह अनुपयुक्त निकास ढूँढ़ लेगी।

वही व्यक्ति भाग्यशाली है, जिसने काम भावनाके लिये किसी प्रकार का एक रचनात्मक चेष्टा के द्वारा, निकास खोज निकाला है, क्योंकि उसने खोज से अपनी आत्मा को प्रतिभाशाली पद से ऊँचा उठा लिया है। कहा भी है, "जिसने काम जीता, उसने जग जीता।"

वैज्ञानिक अनुसंधान ने, इन अर्थयुक्त यथार्थों को प्रगट कर दिया—

१. सब से महान् पराक्रमी पुरुप वे ही हैं जिनकी काम भावना अति विकसित है अथवा जिन्होंने काम परिवर्तन की कला को सीख लिया है।
२. वे लोग, जिन्होंने महान् विभूति संचित की है और उच्च प्रतिष्ठा के साथ साहित्य, कला, आविष्कार, उद्यम, शिल्पज्ञान और व्यवसाय में धन प्राप्त किया है, मुख्यतः किसी-न-किसी स्त्री के प्रभाव द्वारा प्रेरित हुये थे।

उदाहरण के लिये रामचन्द्र (सीता), कृष्ण (रुक्मिणी), पाण्डव (द्रौपदी), सूरदास, तुलसीदास आदि या देवताओं में ब्रह्मा (सरस्वती) विष्णु (लक्ष्मी) और महेश (पार्वती), इनमें से चाहे जिसकी कथा लीजिये ये स्त्री अर्थात् शक्ति द्वारा प्रेरित हुये हैं।

यह अनुभव अनुसंधान, जिससे यह विस्मयकारी खोज पिछले हजारों वर्षों के इतिहास और जीवनियों के पढ़ने से उपलब्ध हुई है। जहाँ कहीं भी स्त्री-पुरुषों की महान् उपलब्धि के सम्बन्ध में अन्वेषण किया गया, यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य का उत्थान सुविकसित कामशक्ति का ही फल था।

काम-भावना एक ऐसी दुर्निवार शक्ति है, जिसके प्रतिकूल कोई विरोधी "स्थावर पदार्थ" नहीं ठहर सकता। जब व्यक्ति इस भावना से प्रेरित होता है, तब वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए अतिशय शक्ति के कारण विशिष्ट होता है। आप इस सत्य को अवगत् कीजिए और उस वर्णन को चरितार्थ कीजिये। आप को स्वयं लगेगा कि काम-भावना-परिवर्तन का परिणाम् व्यक्ति को प्रतिभाशाली पद पर उठा लेना है।

काम-भावना में रचनात्मक योग्यता का रहस्य भरा है। पुरुषत्व की काम-शक्ति वाली ग्रन्थि का नाश, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, कर दीजिये, तो उसके प्रधान कर्म का स्रोत ही नष्ट हो जाता है। प्रमाण के लिए पशुओं पर क्या बीतती है जब वे बधिया किये जाते हैं? एक बैल उतना ही विनीत या अधीन हो जाता है, जितनी कि एक गाय। पुरुषत्व-हीन होने से, चाहे मनष्य हो या पशु, सारी युद्ध करने की शक्ति उसमें से निकल जाती है। यही सिद्धान्त स्त्रीत्व पर भी लागू है।

मन के दस उत्तेजक भाव

मानव मन उत्तेजनशील है। वह तीव्र गति वाले स्फुरणों के साथ जोड़ा जा सकता है उत्साह, रचनात्मक कल्पना, प्रचण्ड इच्छा आदि मानव मन की उत्तेजनशीलता के परिचायक हैं जिनसे मन अति स्वच्छन्दता से उत्तर देता है (Responds)। वे उत्तेजक भाव निम्न हैं—

(१) कामातुरता (व्यक्त करने की इच्छा)।

(२) प्रेम।

(३) यश, बल और आर्थिक लाभ के लिए धन की इच्छा।

(४) संगीत।

(५) स्त्री या पुरुष अथवा एक ही जाति के बीच मित्रता।

(६) एक मनीषी मनोबल सत्संग, या संधि जो दो या अधिक लोगों के साथ, ऐक्य की भावना पर आधारित है, जो अपनी पारिमार्थिक या सांसारिक उन्नति के लिए मिलते हैं।

(७) पारस्परिक समवेदन, जैसा कि उन लोगों ने अनुभव किया था जो पीड़ित हुए थे।

(८) आत्म-प्रस्तावना।

(९) भय।

(१०) मादक द्रव्य और सुरा।

कामातुरता उपर्युक्त सूची में सबसे पहले आती है। यह सबसे अधिक बल के साथ मन के स्फुरणों को उद्वेलित कर, शारीरिक कर्म के पहियों को चला देती है। आठ उत्तेजक प्राकृतिक और रचनात्मक हैं, अन्त के दो विध्वंसक हैं।

यह सूची आपके सामने इसलिये रखी गई है कि आप मन के उत्तेजनात्मक उद्गमों का आनुषांगिक अध्ययन करें। न्यूनाधिक भावों द्वारा अध्ययन से देखा जा सकता है कि कामातुरता समस्त उत्तेजकों में सबसे प्रचण्ड और बलिष्ठ है।

यह तुलना यह समझने के लिये परम आवश्यक है कि कामातुरता मनुष्य को मेधावी के प्रतिष्ठित पद पर पहुँचा देती है और यह कैसे होता है इस पर मनन किया जाय।

कुछ पडितों ने कहा है कि मेधावी एक पुरुष है, जिसके लम्बे-लम्बे बाल होते हैं, जिसका भोजन विलक्षण होता है। वह एकान्तसेवी और दूसरों के उपहास का पात्र होता है। मेधावी की इससे अच्छी व्याख्या यह है, मेधावी ऐसा पुरुष है, जिसने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है कि किस प्रकार विचार के स्पन्दनों को प्रकृति के उस बिन्दु तक पहुँचाया जाय, जहाँ वह स्वेच्छा से ज्ञान के स्रोतों के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके। इस बिन्दु तक सामान्य विचार के स्पन्दनों की पहुँच नहीं है।

मेधावी की इस व्याख्या के सम्बन्ध में विचारशील व्यक्ति के मन में प्रश्न उठेगा। उसका पहला प्रश्न यह होगा कि व्यक्ति ज्ञान के स्रोतों के साथ किस प्रकार उस बिन्दु से सम्पर्क स्थापित कर सकता है, जहाँ **सामान्य गति** के विचार स्पन्दनों की पहुँच नहीं हो पाती। दूसरा प्रश्न यह होगा—"क्या वे ज्ञान के स्रोत जाने हुये हैं, जो केवल मेधावी को ही प्राप्य हैं? यदि ऐसा है तो **यह स्रोत क्या है** और तत्वतः उस तक कैसे पहुँच हो सकती है?"

हम कुछ महत्वपूर्ण वर्णनों का, जो इस पुस्तक में किये गये हैं, प्रमाण प्रस्तुत करेंगे—या कम-से-कम ऐसा साक्षी प्रस्तुत करेंगे, जो अनुसन्धान और प्रयोग तो होगा ही साथ ही दोनों प्रश्नों का उत्तर भी होगा।

मेधा छठी इन्द्रिय द्वारा विकसित होती है

छठी इन्द्रिय की वास्तविकता भली भाँति प्रतिष्ठित हो गई है। यह छठी इन्द्रिय रचनात्मक कल्पना है। रचनात्मक कल्पना की क्षमता (Faculty) एक महत्वपूर्ण योग्यता है, जिसका उपयोग अधिकांश लोग अपने जीवन-काल में कभी नहीं करते। यदि करते भी हैं तो केवल आकस्मिक घटना के रूप में। बहुत थोड़े **मनुष्य जानबूझ और सोच विचार कर किसी उद्देश्य से** रचनात्मक कल्पना का उपयोग करते हैं। जो इस कल्पना की गतिविधि समझते हैं और इसका उपयोग करते हैं, वे ही **मेधावी** हैं।

रचनात्मक कल्पना की क्षमता (Faculty) मनुष्य के सीमित मन के और अनन्त ज्ञान के बीच सीधी कड़ी है। सभी प्रकाशन (Revelations) कहलाने वाले तत्त्व, जो धार्मिक लोक में प्रदर्शित किये गये हैं, और आविष्कार क्षेत्र में नये सिद्धान्त या मौलिक अनुसंधान के रूप में आविष्कृत हुए हैं, उनका उद्गम रचनात्मक कल्पना ही है। जो विचार या सूझ अथवा बोध किसी मन में सहसा प्रकाशित या आभासित होता है, वह साधारणतः "तरंग" या "Hunch" के नाम से कहा जाता है। यह एक या अधिक स्रोतों से आता है—

१. अनन्त ज्ञान।
२. व्यक्ति का अचेतन मन, जहाँ प्रत्येक इन्द्रियगत संस्कार और विचार संवेग संचित होते हैं, जो पाँचो इन्द्रियों द्वारा कभी भी मस्तिष्क में पहुँचाये गये हैं।
३. किसी दूसरे व्यक्ति के मन से, जिसने अपने विचार प्रगट किया हो, या सूझ का चित्रण किया हो (Picture of idea)।
४. दूसरे व्यक्ति के अचेतन मन के भाण्डार से।

कोई जाना हुआ स्रोत नहीं है, जिससे "आभास या तरंग" प्राप्त हो सकती हो।

रचनात्मक कल्पना सबसे अच्छा कार्य तब करती है, जब मन किसी प्रकार की उत्तेजना के कारण अति तीव्रगति से स्फुरण कर रहा हो; अर्थात् जब मन अपनी प्राकृतिक स्थिति को छोड़कर उत्तेजनात्मक स्पन्दनों में विहरता है तभी रचनात्मक कल्पना उत्तम रूप में क्रियाशील होती है।

जब मस्तिष्क की क्रियाशीलता मन की १० उत्तेजनाओं में से एक या अधिक उत्तेजनाओं से उत्तेजित होती है, तब इसका प्रभाव यह होता है कि

चिन्तक साधारण विचार के क्षितिज से ऊँचा उठकर चिन्तन करने लगता है। व्यवसाय सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना, किसी धन्धे की प्रवृत्ति पर विचार करना आदि निम्नस्तर का चिन्तन है। इस साधारण चिन्तन में उपर्युक्त उच्चस्तर का परिणाम देखने को नहीं मिलता।

जब व्यक्ति साधारण विचार के स्तर से ऊँचा उठ जाता है, तब वह उस वायुयान चालक के समान हो जाता है, जिसके सामने क्षितिज का अस्तित्व रहता ही नहीं। अतः उसे क्षितिज के बाहर की वस्तुएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। जब चालक पृथ्वी पर था तब यह बात न थी, क्योंकि उसकी दृष्टि क्षितिज पर ही सीमित थी। ऊँचा उठने पर सीमा की बाधा दूर हो गई। साधारण स्तर के लोगों के विचार भोजन, बसन, छाजन आदि में ही सीमित रहते हैं, अतः वे उसके बाहर चिन्तन कर ही नहीं सकते। वायुयान चालक जब घाटी, पहाड़ियों आदि से ऊँचा उठता है, तभी उसकी दृष्टि व्यापक होती है। इसी प्रकार व्यक्ति जब सांसारिक चिन्तनों से ऊँचा उठकर चिन्तन करने लगत. है, तब उसका चिन्तन उच्चकोटि का हो जाता है।

जब व्यक्ति उच्च स्तर पर विचार करता है, तब मन को क्रियाशील होने के लिये स्वतन्त्रता मिल जाती है। छठी इन्द्रिय के कर्म करने का मार्ग खुल जाता है, वह सुझावों को ग्रहण करने लगती है। किसी भी परिस्थिति में में इस सूझ तक साधारण व्यक्ति की पहुँच नहीं हो सकती। साधारण व्यक्ति और मेधावी (Genius) के बीच में यही अन्तर है कि, मेधावी की "छठी इन्द्रिय" क्रियाशील है, साधारण मनुष्य की नहीं। गीता में भी कहा है :—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। १५-११

मेधावी (कर्मयोगी) अपने हृदय में स्थित हुए इसको यत्न करते हुए ही तत्व से जानते हैं, और साधारण मनुष्य (अकृतात्म।) और अज्ञानी यत्न करते हुए भी इसको नहीं जानते।

रचनात्मक क्षमता उन स्फुरणों को ग्रहण करने के लिये अधिक ग्राही और सचेत बन जाती है, जो अज्ञात चेतन मन के वहिप्रदेश से उत्पन्न होते हैं। जितना ही अधिक इस क्षमता का उपयोग होता है, उतना ही अधिक व्यक्ति उस पर विश्वास करता है और विचार-संवेगों के लिये उस पर जिज्ञासा करता है। यह क्षमता केवल उपयोग द्वारा उत्पन्न और विकसित की जा सकती है।

वह तत्व जो "अन्तःकरण", या बोल चाल में कभी "ब्रह्म बोलता है" के नाम से, कहा जाता है, पूर्णतः छठी इन्द्रिय की क्षमता द्वारा कार्य करता है।

बड़े-बड़े चित्रकार, लेखक, संगीतज्ञ, कविगण और आविष्कारक महान् बन गये, क्योंकि उन्होंने 'अनहद' शब्दों पर श्रद्धा करना स्वभावगत कर लिया था। यह अनहद स्वर रचनात्मक शक्ति (क्षमता) द्वारा ही प्रगट होते हैं, जिसके कारण वे अन्तःकरण से बोले जाते थे। इस तथ्य से लोग भली भाँति परिचित हैं। उनमें "तीक्ष्ण" कल्पनायें हैं। उनकी सबसे अच्छी सूझें उन "आभासों या तरंगों" द्वारा ही आती हैं।

साधारणतया एक महान-वक्ता, उस विशिष्टता को उस समय तक प्राप्त नहीं कर पाता जब तक वह अपनी आँखें बन्द करके अपनी रचनात्मक शक्ति पर श्रद्धा करना प्रारम्भ न करे। यदि उससे पूछा जाय कि आप अपनी आँखें क्यों बन्द कर लेते हैं ? वह उत्तर देगा, "कि मैं इसलिये बन्द कर लेता हूँ कि उसके द्वारा विचार आते हैं और मेरे अन्तर्जगत् की दृष्टि खुल जाती है।"

एक अमेरिका के महान् सफल और सुविख्यात महापुरुष कोई निश्चय या निर्णय करने के पहले अपनी आँखें ५-७ पल के लिये के बन्द कर लेने के स्वभाव का अनुसरण करते हैं। जब उनसे पूछा गया कि ऐसा क्यों करते हैं, उन्होंने उत्तर दिया कि अपनी आँखें बन्द करके मैं विशिष्ट ज्ञान ग्रहण करने योग्य हो जाता हूँ।

स्वर्गीय डाक्टर एल्मर गेट्स ने दो सौ से अधिक लाभप्रद आविष्कार किये। इन आविष्कारों में अनेक मौलिक थे। वे सब रचनात्मक शक्ति के उत्पादन और प्रयोग में लाने की प्रणाली द्वारा सिद्ध हुये थे। उनकी प्रयोग-शाला में उनके निजी संसर्ग (व्यवहार) का एक अलग कमरा था। इस कमरे में कोई वाह्य शब्द प्रवेश नहीं कर सकता था और सभी प्रकाशों का आना बन्द किया जा सकता था। उसमें एक छोटी मेज पड़ी रहती थी, जिस पर लिखने के लिये कागज रखे रहते थे। उस मेज के सामने दीवाल पर एक बिजली का स्विच प्रकाश करने के लिये था। जब उनको अपनी रचनात्मक कल्पना के द्वारा कुछ ग्रहण करने की इच्छा होती थी, वे इस कमरे में जाकर मेज के पास बैठकर सभी प्रकाशों को बन्द कर एकाग्रता से उस आविष्कार के लिये ज्ञात अंशों और कणों पर ध्यानावस्थित हो जाते

थे। वे उस अवस्था में उस समय तक रहते थे, जब तक कि उनको उस आविष्कार के **अज्ञात अंग** के विषय में स्फुरण न हो जाता था।

एक समय विचार और सूझों का प्रवाह इतनी द्रुत गति से आ रहा था कि वह तीन घन्टे तक उसको लिखने में व्यस्त रहे। जब उन विचारों का प्रवाह रुक गया, तब उन्होंने अपने टीपन का निरूपण किया। उसमें उन्होंने सिद्धान्तों का इतना गंभीर विवरण पाया कि उसके सन्तुलन में, वैज्ञानिक जगत् में जाने हुए तत्वों में, कोई नहीं था। इस तथ्य का प्रमाण व वर्णन अमेरिका राज्य के विशेषाधिकार कार्यालय (Paten office) में है। डाक्टर गेट्स अपनी आजीविका इन्हीं सूझों के लिये बैठकर कमाते थे। कुछ अमेरिका की बड़ी कम्पनियाँ उनकी इस बैठक पर घण्टों के हिसाब से भारी रकम देती थीं।

यह भारत की प्राचीन प्रणाली है। महात्मा लोग पर्वतों की अंधेरी गुफाओं और कन्दराओं में बैठकर, इसी तत्व की उपलब्धि के लिये वर्षों ध्यानमग्न रहते थे। उनके चिन्तन का परिणाम शास्त्र, विज्ञान, रसायन, ज्योतिष आदि हैं, जिनका लोहा आज-कल का संसार भी मानता है। यही ध्यानयोग रचनात्मक क्रियाशक्ति है, जो षष्ठेन्द्रिय के नाम से व्यवहृत की गई है।

बुद्धि या चिच्छक्ति बहुधा सदोष भी होती है, क्योंकि वह व्यक्ति के संचित अनुभव द्वारा अधिकतर अनुशासित रहती है। सभी ज्ञान जो अनुभव से संचित होते हैं, यथार्थ सत्य नहीं होते। तर्क या बुद्धि से उपलब्ध विचारों की अपेक्षा रचनात्मक शक्ति द्वारा प्राप्त विचार अधिक विश्वसनीय होते हैं।

मेधावी और साधारण वक्रमार्गी आविष्कारक के बीच में मुख्य भेद यह पाया जा सकता है, कि (ज्ञानी) मेधावी तो अपनी रचनात्मक कल्पना की क्षमता द्वारा कर्म करता है, किन्तु साधारण वक्रमार्गी उस क्षमता के विषय में कुछ भी नहीं जानता। जहाँ मेधावी प्रकृति का कार्य समझता है, वहाँ वक्रमार्गी अहंभाववश अपना काम समझता है :—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ ३-२७

संपूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं, तो भी अहंकार से मोहित हुआ मूढ़, मैं कर्ता हूँ ऐसा मान लेता है। उसे रचनात्मक शक्ति का ज्ञान भी नहीं है।

गीता में तत्ववेत्ता अर्थात् मेधावी का लक्षण यह है—

तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।।३-२८

परन्तु हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभाग को जानने वाला, संपूर्ण गुण का गुणों में वर्तते हैं ऐसा मान कर, आसक्त नहीं होता। वह रचनात्मक क्रियाशक्ति पर विश्वस्त है।

वैज्ञानिक आविष्कारक एडीसन और गेट्स दोनों संयोगिक और रचनात्मक शक्तियों से लाभ उठाते थे।

उदाहरण के लिये वैज्ञानिक आविष्कारक या मेधावी को लीजिये। वह अनुभव द्वारा संचित किये हुए सिद्धान्तों और परिचित सूझों को व्यवस्थित और संयुक्त कर, संयोंगिक क्षमता द्वारा एक आविष्कार आरम्भ करता है। यदि वह इस संचित ज्ञान को अपने आविष्कारों की पूर्ति के लिये कम पाता है, तब वह उन ज्ञान के स्रोतों से सहायता लेता है जो उसकी रचनात्मक क्षमता को प्राप्य हैं। यद्यपि व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रणाली होती है, परन्तु सबका सारांश यही है :—

१—वह अपने मन को उत्तेजित करता है जिससे उसमें सामान्य स्तर की अपेक्षा उंचे स्तर पर स्फुरण हो सके। वह कार्य के लिये मन की दस उत्तेजनाओ से एक या अधिक को प्रयोग में लाता है, अथवा कोई दूसरी उत्तेजना प्रणाली प्रयुक्त करता है।

२—वह अपने आविष्कार के परिचित अंगो (Factors) पर **एकाग्र** होता है और मन में अपने आविष्कार के अज्ञात अंगों का अशेष चित्र या सम्पन्न चित्र रचता है। वह इस चित्र को उस समय तक मन में रखे रहता है, जब तक वह अज्ञात चेतन द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता। ऐसा हो जाने पर वह अपने मन को सभी प्रकार के चिन्तन से मुक्त कर लेता है और अपने उत्तर के लिये मन में जो "आभास" होगा, उसकी प्रतीक्षा करता है।

कभी-कभी तो परिणाम निश्चित होने के साथ-साथ शीघ्रतम गति से आता है, दूसरे समय में परिणाम निषेधार्थक रूप में होते हैं। ये परिणाम छठी इन्द्रिय या रचनात्मक क्षमता के विकास के आधार पर निर्भर रहते हैं।

एडीसन ने अपनी रचनात्मक शक्ति लगाने के पूर्व, जब दस हजार से अधिक सूझों की सहायता से संयोगात्मक शक्ति द्वारा प्रयत्न कर (प्रयोग और अनुसन्धान) लिये थे, तब कहीं परिणाम में बिजली के लैम्प का

आविष्कार सिद्ध कर पाया था। इस प्रयोग की प्रक्रिया ग्रामोफोन के आविष्कार के समान ही घटित हुई थी।

रचनात्मक कल्पना की क्षमता या शक्ति के अस्तित्व सम्बन्धी बहुत से विश्वसनीय प्रमाण मौजूद हैं। ऐसे प्रमाण उन व्यक्तियों के जीवन के सूक्ष्म अन्वेषण से मिलते हैं, जिन्होंने कोई उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की, फिर भी अपनी रचनात्मक शक्ति तथा क्षमता द्वारा अपने-अपने कार्य अथवा व्यवसाय में नेतृत्व प्राप्त करने में सफल हुये। इनमें लिंकन का नाम उल्लेखनीय है, जिसने महत्ता प्राप्त की। उसने अनुसन्धान द्वारा प्राप्त रचनात्मक कल्पना की क्रिया-शक्ति की क्षमता का उपयोग ऐनी रूटलेज से मिलने के पश्चात्, प्रेम की उत्तेजना के परिमाण में प्रारम्भ किया। मेधावी बनने के स्रोत अध्ययन करने के सम्बन्ध में यह तथ्य बड़े महत्व का है।

इतिहास के पन्ने महान् नेताओं के चरित्र से भरे पड़े हैं। इन सब के जीवन में निष्पत्ति या पराक्रम स्त्रियों के प्रभाव से प्रस्फुटित हुआ है। स्त्रियों ने ही कामोत्तेजना द्वारा उनके मन की रचनात्मक शक्ति को जागृत कर दिया था। नेपोलियन बोनापार्ट, इसी प्रकार के व्यक्तियों में से एक था। जब तक वह अपनी पहली स्त्री जोसेफाइन के प्रणय में अनुरक्त था, तब तक वह दुर्निवार और अजेय रहा। ज्यों ही उसकी बुद्धि ने जोसेफाइन को त्यागने के लिये प्रेरित किया, त्यों ही उसका पतन प्रारम्भ हुआ। वह पराजित हुआ और बन्दी बना कर सेन्ट हेलेना टापू में भेज दिया गया।

यदि शिष्टाचार अनुज्ञा दे तो हम सरलता से बहुत से सुपरिचित अमरीकन पुरुषों के नाम गिना सकते हैं, जो अपनी-अपनी स्त्रियों के उत्तेजक प्रभाव से अपने पराक्रम में बहुत ऊँचे उठ गये थे। जब उनके पास अपरिमित धन हो गया, "प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं" सिद्धान्त के आधार पर ये मदोन्मत्त हो गये। उन्होने पहिली पत्नियों को जो उनकी शक्ति का स्रोत थीं, त्याग कर नयी पत्नियाँ कर लीं। इन पत्नियों में शक्ति उत्तेजित करने की क्षमता थी ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि उनका पतन हो गया, वे धराशायी हो गये। नेपोलियन ही ऐसा अकेला व्यक्ति न था जो यह जानता था कि सुपात्र से प्राप्त कामोत्तेजना में जो रचनात्मक शक्ति होती है उसका स्थान कोई भी तार्किक बुद्धि नहीं ले सकती है।

खेद है कि केवल मेधावियों अर्थात् तत्ववेत्ताओं ने ही इसका ज्ञान प्राप्त किया है। दूसरों ने तो केवल कामेषणा का ही अनुभव किया है। ऐसे लोगों की संख्या बहुत है। इन्हीं लोगों के लिये गीता में यह उपदेश है :—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।। ३-३७

यह काम है, यह ही क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ कभी न तृप्त होने वाला महापापी है ।इसको बैरी जान ।

फिर अगले श्लोक में इसके वासस्थानों को इस प्रकार कहा है :—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। ३-४०

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं, यह इनके द्वारा ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहता है ।

फिर अगले श्लोक में :—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। ३-४२

इन्द्रियों को परे कहते हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है, और जो बुद्धि से अत्यन्त परे है, वह है ।

जब शास्त्रों में कहा गया है कि काम का शुद्ध रूप ही प्रेम है, तब उपर्युक्त विवरण से आभास मिलता है कि काम के दो रूप हैं—एक मलिन रजोगुण विशिष्ठ, दूसरा शुद्ध सत्त्वगुण विशिष्ट ।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि में जब काम का प्रभाव होता है, तब वह मलिन रूप धारण कर लेता है (श्लोक ३-४०) अर्थात् शरीर सम्बन्धी व्यवहार करता है ।

जब वह बुद्धि से परे का अर्थात् छठी इन्द्रिय से सम्बन्धित हो जाता है, तब शुद्ध प्रेम का रूप धारण कर लेता है और ऐसी प्रेरक शक्ति बन जाता है, जो मनुष्य को उठाकर मेधावी पद की ओर ले जाता है । यही देवताओं की शक्ति अथवा अंश रूप में मनुष्यों की शक्ति का रहस्य है—"काम भावना में रचनात्मक विधान का रहस्य है"। "वे लोग, जिन्होंने महान् विभूति संचित की है, एक स्त्री के अर्थात् शक्ति के प्रभाव द्वारा प्रेरित हुये थे ।" यही काम का सत्त्वगुण-विशिष्ट रूप है, जो व्यक्ति को भारतीय प्रथा में ब्रह्मचर्य द्वारा रूपान्तर प्रणाली से ऐश्वर्य की ओर ले जाता है ।

उपर्युक्त श्लोकों में "बुद्धि से परे जानकर" शब्द सारभूत हैं । जैसा ऊपर कहा गया है, छठी इन्द्रिय को ही जिसने जान लिया है, वही प्रति-भावना अथवा मेधावी इसलिये है कि वह काम शक्ति को शारीरिक सम्पर्क प्रवृत्ति से हटाकर, अन्य लाभदायी उपयोगों में लाता है । काम वासना स्वतः

बुरी चीज हो सकती है; परन्तु उन्नमित काम कवि की लेखनी में चमत्कार ला देता है और मीरा जैसे भक्त और गिरधरनागर के बीच सम्बन्धसूत्र बनता है। इसलिये श्रृंगार को "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा जाता है।

मेधावी और प्रतिभाशाली पुरुषों की निम्नलिखित सूची है, जिन्होंने कामशक्ति को रूपांतरित किया था :—

महात्मा गाँधी	श्री शंकराचार्यजी
डा० राधाकृष्णन	स्वामी रामकृष्ण परमहंस देव
पं० जवाहर लाल	स्वामी विवेकानन्द
सर जे० सी० बोस	महर्षि दयानन्द सरस्वती
सर सी० बी० रमन	महात्मा कबीरदासजी
जार्ज वाशिंगटन	महात्मा सूरदासजी
नेपोलियन बोनापार्ट	गोस्वामी तुलसीदासजी
विलियम शेक्सपियर	गुरु नानकदेवजी
लिंकन—टामस जेफरसन	गुरु गोविंद सिंहजी
राल्फवाल्डो इमर्सन	महाराणा प्रतापसिंह
उडरो विल्सन—इल्बर्ट हब्बर्ड	महाराज छत्रसाल
राबर्ट बर्न्स—इब्बर्ट गेरी	महाराज शिवाजी
आस्करवाइल्ड—जानपेटर्सन	तथा भारत के प्रसिद्ध संतजन

ये सब उच्च काम वासना के लोग थे जो छठी इन्द्रिय से सम्बन्धित थे। कामशक्ति ही सभी प्रतिभाशालियों की रचनात्मक शक्ति है। कोई भी महान् नेता, निर्माता, आविष्कारक अथवा कलाकार न होगा, जो इस प्रेरक शक्ति से रहित हो।

निसन्देह कोई भी इस प्रसंग को इस अर्थ मे नहीं स्वीकार करेगा कि सभी, जो अतीव कामातुर होते हैं, मेधावी या प्रतिभाशील हैं। मनुष्य मेधावी या प्रतिभावान का पद तभी प्राप्त करता है, जब वह अपने मन को कल्पना की रचनात्मक क्षमता द्वारा प्रातव्य शक्ति के आकर्षण के लिये उत्तेजित करता है। इन्हीं के माध्यम से स्फुरणों का उत्थान होता है, अर्थात् गति तीव्र हो जाती है। इन माध्यमों का जन्म-स्थान शक्ति ही है। केवल मात्र कामशक्ति का होना ही प्रतिभाशील बनने के लिये। पर्याप्त नहीं है। शारीरिक सम्पर्क के इच्छा की शक्ति को किसी दूसरे रूप की इच्छा या कर्म में अवश्य रूपान्तरित होना चाहिये, तब कहीं वह मेधा शक्ति उपलब्ध कर सकता है।

मेधावी या प्रतिभावान बनना तो दूर रहा। इसका उलटा कामेच्छा के

कारण अधिकांश लोग, इस महान् शक्ति को तमोगुण विशिष्ट समझ कर दुरुपयोग द्वारा स्वयं अपना पतन नीच पशु जैसी अवस्था में कर लेते हैं। इसीलिये भगवान् ने इसे **'महाबैरी महापाप्मा'** कहा है। उच्च कोटि की कामेच्छा का चरम सीमा पर पहुँचने पर जो शुद्ध प्रेम बन जाता है उसे अपना ही रूप माना है—'धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि'। उससे मनुष्य प्रतिभा या ऐश्वर्य प्राप्त करता है और रचनात्मक कल्पना शक्ति को षष्ठ इन्द्रिय के रूप में जानता है।

डाक्टर फ्राइड ने प्रतिपादन किया है कि जगत् काममय है। ठीक ही है। काम ही जगत् है अर्थात् कर्म बिना किसी उत्तेजना के हो नहीं सकता। उत्तेजना में कामेच्छा प्रधान है। इसी से उन्होंने अपना मत सिद्ध किया है, क्योंकि जगत् के लगभग सभी मनुष्य इसके वशीभूत हैं।

भारत में इस तत्त्व को पहचानने वाले हजारों वर्ष पहले ही से जन्म लेते आ रहे हैं और ब्रह्मचर्य की महिमा गा रहे हैं। कम से कम पच्चीस वर्ष तक तो ब्रह्मचर्य में अवश्य रहना पहला गुरु मंत्र है, क्योंकि इस काम प्रवृत्ति के होते हुये मन कभी भी एकाग्र नहीं होता। इसलिये ब्रह्मचारियों को ईश्वर तत्व की ओर लगाकर ही गुरु अपने शिष्यों को साम्यावस्था में रख पाता था अथवा और किसी कर्म में नियोजित करता था। अन्यथा साधारण व्यक्ति को चालीस वर्ष से पहले इस तत्त्व के दुर्गुण समझ में ही नहीं आते।

क्यों बिरला ही चालीस वर्ष के पूर्व सफलता पाता है

पच्चीस हजार से ऊपर लोगों के निरूपण और व्यवच्छेद से यह पता लगा है कि जो मनुष्य विशिष्ट रीति से सफल होते हैं, कदाचित् ही चालीस वर्ष की अवस्था से पहले ऐसा कर पाते हैं। **बहुत बार तो** वे अपनी वास्तविक चाल को तब तक पकड़ ही नहीं पाते, **जब तक पचास वर्ष को पार नहीं कर जाते।**

इस अध्ययन ने इस तथ्य को प्रकाशित किया कि क्यों अधिकांश लोग चालीस या पचास वर्ष से पहले सफलता नहीं पाते। इसका मुख्य कारण यह है कि वे अपने शक्तियों को क्षीण करने वाले शारीरिक भोगों में अतीव आसक्ति रखते हैं। अधिकांश लोग कभी सीखते ही नहीं कि कामेषणा का दूसरा पक्ष भी है, जो संभोग की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

बहुत से मनुष्य ऐसे हैं, जो अपनी प्रबल पराकाष्ठा पर पहुँची हुई काम-शक्ति का शारीरिक सम्बन्ध से अपव्यय करते हैं। जब वे ४०-५० वर्ष के होते

हैं, तब उनकी आखें खुलती हैं। अब पश्चात्ताप के अतिरिक्त भरा ही क्या रहता है?

"मरणं बिन्दु पातेन, जीवनं बिन्दु धारणं",

सिद्धान्त की उपेक्षा का फल विनाश ही है।

अनेक मनुष्यों का जीवन, चालीस वर्ष की वय तक या उसके और आगे तक, एक अनवरत शक्ति के क्षय में नष्ट होता है। यदि यह दूसरी ओर मोड़ दिया जाता तो बहुत लाभकारी होता? उनकी उत्तम और अधिक बलवती भावनायें कीचड़ में फेंक दी गई थीं, काँटे बोने में व्यय हुई थी :—

इक भीजें चहलें परें, बूड़ें बहें हजार।
किते न औगुन जग करे, वय नय चढ़ती बार ॥—(बिहारी)

जो लोग काम के दूसरे पक्ष को प्रकाश में ले आये हैं उन्होंने अपनी युवावस्था के अनेक वर्षों को तमोगुण विशिष्ट बनाकर व्यर्थ गँवाये थे। 'गज खोकर बनिया सयाना' सूक्ति के अनुसार जब वे ४५-५० वर्ष की अवस्था में पहुँचे, तब उनकी आँखें खुली, उन्होंने देखा कि शक्ति का बड़ा दुरुपयोग हुआ, "कांच किरच बदले ते लेहीं, करते डारि परसमनि देहीं" चरितार्थ हुआ। इसके अनन्तर उनमें यह परिवर्तन हुआ कि उन्होंने कामशक्ति का सद् उपयोग किया, उसे सत्वगुण विशिष्ट बनाया और सफलता प्राप्त की।

कामेच्छा सभी मानवीय भावनाओं में या प्रवृत्तियों में सबसे अधिक बलवान और अतिप्रेरक है, इसी कारण यह इच्छा जब शारीरिक व्यंजना की अपेक्षा दूसरी ओर कर्म में लगाई जाती है अथवा रूपान्तरित की जाती है, तब व्यक्ति को उत्थान की ओर अग्रसर कर देती है।

इतिहास में मनुष्यों के उदाहरणों में, इस तथ्य की भी कमी नहीं है। कुछ लोगों ने कृत्रिम उत्तेजकों, मद्य या मादक वस्तुओं, का उपयोग कर भी प्रतिभाशाली की पदवी पाई थी। किन्तु यह स्मरण रहे कि उनमें से अनेक ने अन्त में स्वयं अपना ही नाश कर लिया। प्रकृति ने स्वयं अपने अगद या पानौषधि स्वयं बनाई है जिससे मनुष्य निर्बाध अपने को उत्तेजित कर सकता है। इसी उत्तेजना से ऐसे ऊँचे स्तर पर स्फुरण होता है, ऐसे-ऐसे दुर्लभ एवम् उच्चतम विचारों का प्रादुर्भाव होता है, कि साधारणतया यह जानना असंभव है कि वे विचार कहाँ से आते हैं। प्रकृति की उत्तेजना की तुलना में अभी तक कोई ऐसा काम का स्थानापन्न तत्त्व नहीं पाया गया है।

कामेच्छा के अति प्रेरक प्रवृत्ति का रूप, गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण के धनुषयज्ञ प्रसंग में सुन्दर रूप से दिखाया है। जानकी जी की सुन्दरता की ख्याति को सुनकर सैकड़ों राजा सीता जी के स्वयंवर में आये। सबने उनको वरने के लिये अपनी-अपनी बल-पराकाष्ठा प्रदर्शित की, किन्तु किसी से धनुष उठ न सका। तब जानकी जी की प्रेरक शक्ति ने श्री रामचन्द्र को उत्तेजित कर बल दिखाने को विवश किया, और उनसे धनुष तुड़वाया।

श्री जानकी जी की सुन्दर शक्ति को ही धनुष तोड़ने का श्रेय प्राप्त है, अर्थात् धनुष तोड़ने में उनकी ही शक्ति का सफल योग था।

मनोवैज्ञानिकों को यह तथ्य सुपरिचित है कि कामेच्छा और भक्ति के मार्ग में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। वस्तुतः कामेच्छा का यथार्थ उन लोगों के लिए असामान्य आचरण का निमित्त है, जो उत्सवों में धार्मिक भावना से सम्मिलित होते हैं। यह प्रथा आदिवासियों और पुरानी चाल के लोगों में साधारण है। [यह सभी देशों में है—भारत के वैष्णव सम्प्रदाय और शाक्तों में, इटली के कैथोलिकों में, इंगलैण्ड और अमेरिका के धार्मिक मेलों में, जर्मनी, फ्रांस और रूस आदि में]

यहाँ पर यह वर्णन कर देना अयुक्त न होगा कि ईश्वर-भक्ति कामेच्छा की चरम अवस्था है, जो शुद्ध प्रेम का रूप धारण कर लेती है। कामेच्छा में भी प्रेम का व्यवहार होता है और भक्ति भी 'प्रेम लक्षणा' है। इन दोनों का मार्ग एक ही है। जैसे प्रेमी अपने पात्र को सभी प्रकार अनुनय, विनय आदि द्वारा रिझाता है, वैसे ही भक्त भी अपने इष्ट के प्रति सभी प्रकार की भक्ति दिखाता है, परन्तु इस मार्ग का अनुसरण करने पर एक सीमा के बाद ऐसा विन्दु आता है, जहाँ यह भावना शुद्ध प्रेम की ओर हो जाती है। (यह मेरे अपने विचार हैं, जिनका प्रमाण मुझे मीराबाई के इन शब्दों से ध्वनित अर्थ संदर्भ में प्राप्त हुये हैं—पिया के पलंगवा जा पहुँचूँगी, मीरा हरि रँग रांचूँगी)

एक मानसिक उत्तेजना किसी भी प्रभाव में, चाहे वह क्षणिक हो या स्थायी, विचार के स्फुरण को बढ़ा देता है। जिन दस प्रधान उत्तेजकों का वर्णन किया गया है, वे ही अधिकांश रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं। हो सकता है कि व्यक्ति इन स्रोतों द्वारा अनन्त ज्ञान से संसर्ग स्थापित कर ले या स्वेच्छा से अपने अवचेतन मन या दूसरे के मन में प्रविष्ट हो जाय। यही मेधावी की प्रणाली है।

काम-भावना का रूपान्तर सामान्य व्यक्ति उपयोग करने में करता है। उसकी अपेक्षा इच्छा शक्ति के उपयोग की अधिक आवश्यकता है। वे लोग जो रूपान्तर के लिये पर्याप्त इच्छा शक्ति के आवाहन करने में कठिनाई पाते हैं, क्रम-क्रम से इसकी क्षमता प्राप्त कर सकते हैं।

करोड़ों मनुष्य इस प्रबुद्ध युग में भी हीन भावना से ग्रस्त हैं। वे समझते हैं कि काम भावना एक अभिशाप है। यह धारणा भ्रम के कारण बन गई है। काम भावना के गुणों का उल्लेख करने का उद्देश्य यह नहीं है कि कामातुर तथा लम्पटों को प्रश्रय मिले। **काम भावना केवल तभी धर्माचरण या गुण है, जब वह बुद्धिमत्ता और विवेक के साथ उपयोग में लाई जाती है।** काम भावना का दुरुपयोग किया जा सकता है और बहुधा होता भी है, इतने अधिक परिमाण में होता है कि यह मनुष्य के उत्थान की ओर न ले जाकर पतन की ओर ले जाती है और शरीर और मन को अधोगति में पहुँचा देती है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥ १६-२२

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, आत्मा का नाश करने वाले हैं, इससे इन तीनों को त्याग दें।

इसका सदुपयोग ही इस अध्याय का मुख्य ध्येय है।

काम-भावना के वशीभूत होकर स्वभाव में अजितेन्द्रिय होना उतना ही हानिकारक है जितना मद्य पीना और भोजन में असयमी होना। इस युग में, जिसमें हम रह रहे हैं, विश्वव्यापी युद्ध के कारण, काम भावना में असंयम का स्वभाव सार्वलौकिक हो गया है। इसको मनोरंजन का साधन बनाने से ही महान् नेताओं की कमी हो गयी है।

कोई मनुष्य अपनी रचनात्मक कल्पना शक्तियों का लाभ कृत्रिम काम-इच्छा के कारण स्वयं नहीं उठा सकता। मनुष्य ही केवल ऐसा जीव पृथ्वी पर है, जो इस सम्बन्ध में प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर रहा है। दूसरे पशु-पक्षी तो काम-भावना का उपयोग प्रकृति के अनुसार करते हैं, किन्तु मनुष्य ने अपने को खुली छूट दे रखी है।

प्रत्येक बुद्धिमान जानता है कि मद्य और मादक द्रव्यों द्वारा उत्तेजन एक अतिशय अजितेन्द्रियता का रूप है। ये समस्त उत्तेजक तत्व मस्तिष्क और शरीर की कर्मेन्द्रियों को नष्ट कर देते हैं। फिर भी प्रायः प्रत्येक व्यक्ति यह नहीं जानता कि कामभावना में अतिनिरत होना और उसका स्वभावगत

हो जाना, रचनात्मक चेष्टा के लिये उतना ही हानिकारक है, जितना मादक द्रव्य।

एक कामोन्मादी तत्वतः मादकोन्मादी से भिन्न नहीं है। दोनों अपनी बुद्धि और इच्छा की शक्तियों को तथा उन पर नियन्त्रण को खो बैठते हैं। अति कामाशक्ति केवल बुद्धि और इच्छा-शक्ति ही का नाश नहीं करती, अपितु यह अस्थायी या स्थायी पागलपन की ओर भी ले जा सकती है। पित्तोन्माद के अनेक रोगी काम-भावना के उपयुक्त व्यवहार न करने के स्वभाव के कारण ही पीड़ित हैं।

इस विषय के विश्लेषण से यह स्पष्ट देखा गया है कि कामभावना के रूपान्तर में अज्ञान, मनुष्य को दुहरा दंड देता है—एक तो उसे घृणित बना देता है, दूसरा रूपान्तरित लाभों से वंचित रखता है।

काम भावना के विषय की अज्ञानता इस तथ्य के कारण है कि यह विषय रहस्यपूर्ण और गूढ़ बना दिया गया है। इस विषय पर कोई किसी से खुली चर्चा नहीं करता। इस रहस्य और मौन की कुमंत्रणा ने युवकजनों के मनों पर वैसा ही प्रभाव डाला है, जैसा निषेधात्मक मनोविज्ञान ने। उसका परिणाम असाधारण उत्सुकता में प्रस्फुटित होता है। उस विषय पर ज्ञान उपार्जना की प्रवृत्ति तीव्र गति से जाग्रत होती है। विधायकों तथा अधिकांश भिषग्जनों की लज्जाशीलता के कारण यह ज्ञान सरलता से प्राप्त नहीं हो पाता।

व्यक्ति कदाचित् ही किसी रचनात्मक उद्यम के क्षेत्र में चालीस वर्ष के पहले प्रवेश करता है। साधारण मनुष्य निर्माण करने के लिये चालीस और साठ वर्ष के बीच परम उत्कृष्ट योग्यता के काल पर पहुँचता है। यह निष्कर्ष हजारों स्त्री और पुरुषों के अनुसन्धान पर आधारित है। उन्होंने इस पर सावधानी के साथ निरूपण किया है। यह उन लोगों के लिए उत्साहप्रद होना चाहिये, जो चालीस वर्ष पहुँचने के पहले ही असफल हो जाते हैं, अथवा जो चालीस वर्ष पहुँचने के लगभग बुढ़ापा आने का भय खाते हैं। चालीस और पचास के बीच के वर्ष प्रायः सबसे अधिक फलदायी होने चाहिये। मनुष्य को इस वय में भय खाते और काँपते हुये न पहुँचना चाहिये, अपितु आशा और उत्सुकता की प्रतीक्षा में रहना चाहिए।

यदि आपको प्रमाण चाहिए कि मनुष्य चालीस साल की वयस के पहले अपना सबसे अच्छा काम प्रारम्भ नहीं करते, तो सबसे सफल व्यक्तियों की कृतियों के लेख-प्रमाण रूप में अध्ययन कीजिए। हेनरी फोर्ड अपनी सिद्धि

पर चालीस के पार होने पर पहुँचा। एन्ड्रू कारनेगी ने चालीस के कहीं दूर अपने प्रयत्नों का फल पाया। जेम्स हिल अब तक तार खट-खटाने का यंत्र हाथ में लिये हुये था उसको विशाल सिद्धि चालीस के बाद मिली। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रामायण की रचना ६० वर्ष पार करने पर आरम्भ की। महात्मा गाँधी ने ५०-६० वर्ष पार कर ही स्वराज्य आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाया।

लोकमान्य तिलक ने ५०-६० पार कर ही प्रसिद्ध गीता रहस्य की रचना की, स्वामी दयानन्द ने ५० वर्ष पार कर ही आर्यसमाज की स्थापना की। महामना मालवीय जी ने ५०-६० वर्ष पार कर ही काशी विश्वविद्यालय की स्थापना की। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ५० वर्ष के पश्चात् उत्तरोत्तर तेजस्वी होते जा रहे हैं।

तीस और चालीस वर्ष की वयसों के बीच, मनुष्य काम-भावना रूपान्तर कला को (यदि वह कभी सीखता है) सीखना प्रारम्भ करता है। यह उपलब्धि प्रायः आकस्मिक है। जो पुरुष इसको उपलब्ध करता है, वह पूर्ण रूप से अपनी उपलब्धि के प्रति अचेत रहता है। वह देखता है कि उसकी उपलब्धि शक्ति पैंतीस से चालीस वर्ष के भीतर बढ़ गई है। परन्तु बहुत सी स्थितियों में वह इसके कारण से परिचित नहीं होता। तीस चालीस के बीच की यह अवस्था प्रकृति, प्रेम और यौन भावनाओं की अभिव्यक्ति में एकरसता लाना प्रारम्भ करती है, जिससे व्यक्ति इन महान् शक्तियों से शक्ति उपलब्ध कर सकता है और उसको संयुक्त कर्म के निर्माण में लगा सकता है।

अकेली कामभावना स्वयं कर्म करने के लिए प्रबल प्रवृत्ति है, किन्तु उसकी शक्तियाँ एक बवंडर के समान हैं—वे बहुधा अदम्य होती हैं। जब प्रेम-भावना काम-भावना के साथ मिलना-जुलना प्रारम्भ करती है, तब उसका परिणाम यह होता कि हृदय की भावना में शान्ति, गम्भीरता, विवेक और समता आ जाती है। कौन ऐसा अभागा होगा जिसने चालीस वर्ष की अवस्था प्राप्त तो कर ली है, किन्तु उन व्यक्तियों का विश्लेषण नहीं कर सकता अथवा अपने मित्र के अनुभवों द्वारा उसको अनुमोदित नहीं कर सकता।

जब पुरुष केवल कामवासना पर ही आधारित एक कामिनी को प्रसन्न करने के लिये इच्छा में उत्तेजना प्रगट करता है, तब हो सकता है और बहुधा होता है कि उसमें बहुत बड़ा कार्य करने की योग्यता आ जाती है, परन्तु उसके कर्म अव्यवस्थित, विकृत और विनाशकारी होते हैं। वासना को तृप्त

करने के लिए, कामिनी को आकर्षित करने के उद्देश्य से, मनुष्य चोरी कर सकता है, ठगी कर सकता है, यहाँ तक कि हत्या भी कर सकता है, परन्तु जब प्रेम की भावना काम भावना के साथ मिश्रित हो जाती है, तब व्यक्ति की क्रियायें मृदुता, गम्भीरता और समता से नियन्त्रित हो जाती हैं।

अपराध विशेषज्ञों ने खोज निकाला है कि क्रूर से क्रूर अपराधी एक स्त्री के प्रेम द्वारा सुधर सकता है, किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि कोई अपराधी केवल कोरी काम भावना के द्वारा सुधर गया हो। यह तथ्य सुविज्ञात है, परन्तु उसका कारण विज्ञात नहीं है। **सुधार** यदि आता है तो मनुष्य की भावना पक्ष से ही आता है, न कि मस्तिष्क या विचार पक्ष से। सुधार या **दोष निवृत्त** का अर्थ हृदय परिवर्तन है। मस्तिष्क के परिवर्तन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हो सकता है कि एक पुरुष विचार के कारण अश्रेयस प्रभावों के परिणामों का परिहार करने के लिये अपने चरित्र में कुछ परिवर्तन कर ले, परन्तु **सच्चा सुधार** तो केवल हृदय परिवर्तन द्वारा ही आता है, अर्थात् परिवर्तन करने की इच्छा द्वारा।

प्रेम, रसोल्लास (Romance) और काम भावना आदि सभी भावनायें या प्रवृत्तियाँ मनुष्य को परम लक्ष्य उपलब्धि के शिखर पर पहुँचाने में समर्थ हैं। प्रेम एक भावना है, जो रक्षायंत्र (Safety valve) का काम करता है, और समता, गम्भीरता, तथा रचनात्मक चेष्टाओं की रक्षा करता है। जब ये तीनों भावनायें संयुक्त हो जाती हैं, तब साधक की प्रतिभा को चरम सीमा पर पहुँचा देती है। ऐसे भी प्रतिभावान हैं जो प्रेम भावना के विषय में बहुत थोड़ा जानते हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे कर्म के किसी रूप में व्यस्त पाये जा सकते हैं जो विध्वंसकारी, अनैतिक तथा हानिकारक हों। आवश्यकता पड़े तो ऐसे बहुत से प्रतिभावानों के नाम गिनाये जा सकते हैं, जो व्यवसाय क्षेत्र में हैं, अपने साथियों के स्वत्वों को निर्दयतापूर्वक, कुचल कर चलते हैं। मालूम देता है, वे पूर्णतः अन्तःकरण या सद्विचार शक्ति से रहित हैं। पाठक स्वयं ऐसे व्यक्तियों की सूची बना लें।

भावनायें मन की अवस्थायें हैं। प्रकृति ने मनुष्य को रासायनिक क्रियायुक्त मन दिया है जो उसी प्रकार समान रूप से कार्य करता है, जिस प्रकार रासायनिक रसायन-शास्त्र की सहायता द्वारा भौतिक पदार्थों पर प्रयोग करता है। एक रसज्ञ कुछ द्रव्यों को मिलाकर एक प्राणनाशक विष बना सकता है। वैसे अलग-अलग देखने से उनमें से किसी भी द्रव्य में स्वयं कोई भी हानिकारक वस्तु नहीं हो सकती, किन्तु उनका संयोग वह प्रभाव पैदा कर

सकता है, उसी प्रकार भावनायें भी प्राण घातक विष बनाने के लिये संयुक्त की जा सकती हैं। काम और द्वेष की भावनायें जब मिश्रित होती हैं, तब व्यक्ति को एक उन्मत्त पशु बना देती हैं।

मानव मन में किसी भी एक या अधिक ध्वंसकारी भावना की उपस्थिति मन की रासायनिक क्रिया द्वारा एक विष उत्पन्न करती है, जो संभव है कि व्यक्ति की न्याय और शुचिता की बुद्धि का नाश कर दे। मन में दुर्भावनाओं का कोई भी मिश्रण बुद्धि का नाश कर देता है। यही गीता का उपदेश दूसरे अध्याय के ६२-६३वें श्लोकों के मूल में इस पुस्तक में आ चुका है। विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना से क्रोध, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मृति भ्रंश और उससे बुद्धि नाश और बुद्धि नाश से पतन अर्थात् पशु आदि योनि होती है। गीता के अ० १६ श्लोक १६ का भाव यह है कि अनेकचित विकार से भ्रमित व्यक्ति मोह जाल में फँसकर विषयासक्त हो महान् नरक में गिरता है।

संवर्धन, विकास, नियन्त्रण और प्रेम, काम तथा रसोल्लास ही मेधावी होने का कारण हैं। संक्षेप में इनकी विधि इस प्रकार है—

मन में उपरोक्त भावनाओं की उपस्थिति को मुख्य विचार के रूप में प्रोत्साहन दीजिये और किसी ध्वंसात्मक भावना को न आने दीजिये। मन की प्रवृत्ति का स्वभाव रचनात्मक है। वह शासित विचारों द्वारा भोजन पाकर फूलता-फलता है। इच्छाशक्ति की क्षमता द्वारा व्यक्ति किसी भी भाव या प्रवृत्ति की उपस्थिति को निरुत्साहित कर सकता है, अथवा किसी दूसरी वृत्ति या भाव की उपस्थिति को प्रोत्साहन दे सकता है। इच्छाशक्ति द्वारा मन पर नियन्त्रण कठिन नहीं है। नियन्त्रण अनवरत चेष्टा और स्वभाव द्वारा आता है। नियन्त्रण का रहस्य तथा रूपान्तर करने की विधि समझ पर निर्भर है। जब कोई निषेधार्थक भाव मन में प्रवेश करे, तो वह एक रचनात्मक भाव में रूपान्तरित किया जा सकता है। व्यक्ति के विचारों को परिवर्तित करने की यह सरल विधि है।

स्वेच्छया अपनी चेष्टा करने की अपेक्षा मेधावी में पद प्राप्त करने के लिये और कोई दूसरी शक्ति नहीं है। केवल कामशक्ति प्रेरक बल द्वारा ही, एक पुरुष आर्थिक सफलता या व्यवसायिक उपलब्धि की ऊँची चोटी प्राप्त कर सकता है। इतिहास इस तथ्य की पुष्टि के लिये अनेक प्रमाणों से भरा पड़ा है। वस्तुतः मनुष्य अपने साथ चरित्र के कुछ ऐसे तत्व लिये रहता है, जिनके दुरुपयोग से उसकी योग्यता और धन के भोगों का अपहरण हो जाता है

और जिनके सदुपयोग से वह भाग्यशाली हो जाता है और अपने ऐश्वर्य क' भोगता है।

"सुमति कुमति सब के उर रहई।
नाथ पुराण बेद अस कहई।
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निधाना॥"

यह तथ्य विचार और ध्यान करने योग्य है, क्योंकि यह एक शाश्वत सत्य व्यक्त कर रहा है, जिसका ज्ञान, हो सकता है, स्त्रियों और साथ ही साथ पुरुषों के लिये भी, लाभदायक हो। इस तथ्य की अज्ञानता ने संपत्ति होने पर भी हज़ारों व्यक्तियों को सुख के लाभ से वंचित कर रखा है।

प्रेम-भावना और काम-भावना असंदिग्ध रूप से अपने चिह्न आकृतियो में छोड़ जाती है। इसके अतिरिक्त ये चिह्न इतने प्रत्यक्ष होते हैं कि प्रत्येक उनको पहिचान सकता है। वह पुरुष, जो विकार के झंझावात द्वारा प्रेरित होता है, केवल कामविकार पर ही आधारित रहता है स्पष्टता से इस तथ्य को नेत्रों के प्रदर्शन तथा मुखाकृति की रेखाओं 'द्वारा अपने जगत् में विज्ञापित करता है। प्रेम की भावना जब कामभावना से मिश्रित होती है, तब मृदुलता आकृष्टता की झलक मुख-मण्डल पर झलकती है। इसको और किसी से समझने की आवश्यकता नहीं, आप स्वयं देख सकते हैं।

प्रेम भावना मनुष्य की कलात्मक और सौन्दर्य-प्रकृति को प्रगटित और विकसित करती है। समय और परिस्थिति द्वारा उसकी झलक मन्द पड़ जाने पर भी वह अपनी छाप मनुष्य की आत्मा पर छोड़ जाती है।

यह अमिट तथ्य है कि प्रेम की मधुर स्मृतियाँ कभी मिटती नहीं। वे उत्तेजन स्रोत के सूख जाने के पश्चात् भी बहुत समय तक बनी रहती हैं और उनका प्रभाव जीवन पर पड़ता रहता है। इसमें कोई नयी बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति, जो सच्चे प्रेम द्वारा चालित अथवा द्रवीभूत होता है, जानता है कि मानव हृदय पर इसका चिरस्थायी चिह्न रहता है। प्रेम का प्रभाव स्थायी है, क्योंकि प्रेम स्वभाव में आध्यात्मिक है। वे पुरुष, जो प्रेम द्वारा पराक्रम के उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए उत्तेजित नहीं किये जा सकते, आशाहीन हैं—वे देखने भर को जीवित हैं, पर वास्तव में मृत हैं।

प्रेम की स्मृतयाँ ही मनुष्य को रचनात्मक चेष्टा के ऊँचे स्तर पर उठाने के लिये पर्याप्त हैं। प्रेम की प्रधान शक्ति, हो सकता है, स्वयं ही क्षीण होकर लुप्त हो जाय, पर वह उस अग्नि के समान है, जिसने अपने को जला डाला

और बुझ भी गई, परन्तु अपने पीछे अक्षय चिह्न प्रयाण रूप में छोड़ गयी कि यहाँ अग्नि प्रज्वलित हुई थी। प्रेम का प्रयाण ही, बहुधा मानव हृदय को और अधिक प्रेम करने के लिये उद्यत करता है।

कभी अपने भूतकाल की ओर लौटिये, अपने मन को बीते हुए प्रेम की सुन्दर स्मृति की धाराओं में स्नान कराइये, वे वर्तमान चिन्ताओं और कष्टों के प्रभाव को कोमल बना देंगी। वे आपको जीवन की अरुचिकर वास्तविकताओं से बचने का साधन देंगी और संभव है कि आपका मन आपके अनुरूप हो जायेगा। इस अस्थायी आश्रय-स्थान के बीच कामना, सूझ या विचार तथा योजना के जगत् में, ये मधुर स्मृतियाँ आपके संपूर्ण आर्थिक या आध्यात्मिक।जीवन में परिवर्तन कर देंगी।

आपने प्रेम किया था और खो दिया, इससे यदि आप **अपने को अभागा समझते हैं तो इस विचार को नष्ट कर दीजिये।** जिसने सत्यता से वास्तविक प्रेम किया है, वह उसको कभी पूर्णतः खो ही नहीं सकता। प्रेम चपल, अनवस्थित और भावनामय है।

प्रेम का स्वभाव ही एकाहिक और अचिरस्थायी है। जब उसकी खुशी होती है आता है, और बिना चिताये-बताये चला जाता है। जब तक वह रहे, उसे स्वीकार करो और उसका उपभोग करो, किन्तु कोई क्षण उसके प्रयाण के विषय की चिन्ता में व्यय मत करो। **चिन्ता उसे लौटाकर कभी न लायेगी।**

इस विचार को भी त्याग दो कि प्रेम केवल एक बार आता है, फिर कभी नहीं आता। प्रेम आ सकता है और जा सकता है, किन्तु प्रेम की अनुभूति दो नहीं है, जो व्यक्ति पर समान रीति से प्रभाव डाले। ऐसा हो सकता है और प्रायः होता है। सभी प्रेम अनुभूतियाँ मधुर तथा सुखप्रद हैं पर वह अनुभूति जो हृदय पर गहरी छाप छोड़ जाती है, सबसे मधुर है। इस मधुर अनुभूति ·से वे वंचित रहते हैं जो प्रेम के अभाव में क्रोधी, द्रोही या विद्वेषी बन जाते हैं।

प्रेम से कभी निराश न होना चाहिये। यदि लोग प्रेम और कामभावना के बीच भेद को समझ जायें, तो कोई निराश हो ही नहीं सकता। तथ्य यह है कि प्रेम आध्यात्मिक तत्व है और कामभावना शारीरिक। कोई अनुभूति, जो हृदय पर आध्यात्मिक बल से संसर्ग स्थापित करती है, सम्भव नहीं है कि हानिकर हो। किन्तु यदि अज्ञान और द्वेष ने हृदय पटल पर आवरण डाल रखा हो, तो दूसरी बात है।

प्रेम, बिना किसी प्रश्न के, जीवन की महान अनुभूति है। वह व्यक्ति को अनन्त ज्ञान के संसर्ग में लाता है। जब कामभावना रसोल्लास (Romance) की भावनाओं के साथ मिश्रित की जाती है, तब हो सकता है, कि वह व्यक्ति को रचनात्मक प्रयास की सीढ़ी पर बहुत ऊपर ले जाय। प्रेम, काम और रसोल्लास की भावना सिद्धि का शाश्वत त्रिकोण है, प्रकृति किसी दूसरी शक्ति द्वारा प्रतिभा का निर्माण नहीं करती। उपर्युक्त त्रिकोण ही प्रतिभा के निर्माण का साधन है।

प्रेम एक ऐसी भावना (वृत्तियाँ या संवेग) है, जिसके अनेक पक्ष, आभास, और रंग हैं। जो प्रेमभावना माता-पिता के प्रति या पुत्र-कलत्र के प्रति होती है, उससे नितान्त भिन्न भावना कामी की कामिनी के प्रति होती है।

जिस प्रेम की अनुभूति सच्ची मित्रता में होती है, वह वह प्रेम नहीं है जो माता-पिता, भाई-बन्धु, पति-पत्नी के बीच होता है, पर वह भी प्रेम का एकरूप है।

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणात् वेति निश्चयः।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ॥१८॥ भीष्म पर्व, अ० ६०

नरेन्द्र ! धन से धर्म की उत्पत्ति होती है। सबको धारण करने के कारण वह निश्चित रूप से धर्म कहा गया है। वह धर्म अकर्त्तव्य (पाप) की सीमा का अन्त करने वाला माना गया है।

जड़ वस्तुओं के प्रति भी प्रेम की भावना होती है। जैसे प्रकृति-कृत कर्मों के लिये प्रेम, परन्तु सबसे अधिक प्रचण्ड और दाहक प्रेम अनेक प्रकारों में से वह प्रेम है, जो काम भावनाओं से सम्मिश्रित अनुभव किया जाता है। वह विवाह जो शाश्वत प्रेम से संयुक्त नहीं है और कामभावना से मिश्रित नहीं है, कभी सुखदायी नहीं हो सकता। वह सहिष्णु या चिरस्थायी तो हो ही नहीं सकता। केवल प्रेम विवाह सम्बन्ध में सुख नहीं ला सकता और न केवल कामभावना ही सुख ला सकती है। जब ये दोनों वृत्तियाँ संयुक्त होती हैं, तब विवाह सम्बन्ध मन की एक ऐसी अवस्था ला सकता है, जो आत्मा के अति निकट पहुँच जाती है, जिसे इस संसार ने कभी नहीं जाना।

जब रसोल्लास (Romance) की भावना प्रेम और काम भावना के साथ संयुक्त हो जाती है, तब पुरुष के सीमित मन और असीम ज्ञान के बीच का प्रतिबन्ध हट जाता है और प्रतिभा का जन्म होता है।

केवल कामभावना से यह मिश्रित भावना कितनी विलक्षण है! यहाँ एक भावना की व्याख्या है, जो सामान्य श्रेणी से ऊपर उठा लेती है और ईश्वर के हाथ कुम्हार की मिट्टी सौंप देती है, जिससे वह सुन्दर और भावुक रचना रचता है। यह तथ्य तभी हृदयंगम हो सकता है जब समझ में आ जाय। स्वभाव की वक्रता, क्रूरता या वैषम्य, जो बहुधा क्लेश के रूप में परिणत होता है, प्रायः कामभावना के विषय में अज्ञानता से ही होता है। जहाँ प्रेम, रसोल्लास और कामभावना का उपयुक्त ज्ञान और व्यवहार है, वहीं विवाहित जोड़े में सरसता, समता और एकता आती है।

वह पति भाग्यशाली हैं, जिसकी पत्नी प्रेम, कामभावना और रसोल्लास के बीच सत्य सम्बन्ध को समझती है। जब इस पवित्र त्रिपुटी से श्रम प्रेरित होता है, तब उसका कोई भी रूप भारभूत नहीं भान होता, क्योंकि चेष्टा का सबसे अनुद्धत रूप प्रेम के एक श्रम के स्वभाव को ग्रहण करता है।

यह पुरानी कहावत है, "पुरुष को स्त्री चाहे तो बना दे चाहे मिटा दे"। इसका कारण सदा समझा नहीं जाता। "बनाना और मिटाना" पत्नी के बोध का ही परिणाम है या प्रेम, कामभावना और रसोल्लास की वृत्तियों का ज्ञान 'बनाना' है और इनका अज्ञान 'मिटाना' है।

यह यथार्थ है कि मनुष्य बहुपत्नी-भोगभावना से ग्रस्त रहता है। यह भी सत्य है कि दूसरा इतना प्रभाव पुरुष पर नहीं डाल सकता, जितना उस की स्त्री। यदि वह एक ऐसी स्त्री से न ब्याहा हो, जो पूर्णतः उसके स्वभाव के उपयुक्त हो, तो मेल नहीं मिलता। यदि कोई पत्नी अपने पति का प्रणय खो बैठती है, तो वह दूसरी स्त्रियो में अधिक रुचि रखने लगता है। यह बहुधा पत्नी के प्रेम, कामभावना, रसोल्लास या रसिकता के प्रति अज्ञानता के कारण होता है। यह तथ्य समान रूप से में पुरुषों पर भी लागू है।

विवाहित जन आपस में बहुत सी तुच्छ बातों पर कलह कर बैठते हैं। यदि इनका ठीक-ठीक निरूपण किया जाय, तो क्लेश का वास्तविक कारण उनकी अज्ञानता या इन विषयों पर उदासीनता में पाया जा सकता है।

पुरुष में सबसे बड़ी प्रेरक-शक्ति स्त्री को प्रसन्न करने की है। आखेटक, जो इतिहास के पूर्वकाल में लब्ध प्रतिष्ठित थे, सभ्यता के उदय के पूर्व, ऐसा करते थे। उनकी इच्छा, स्त्रियों की आँखों में, महानता पाने की रहती थी। इस विषय में पुरुष के स्वभाव में परिवर्तन नहीं हुआ है। आजकल का "आखेटक" जंगली पशुओं की खालें नहीं लाता, परन्तु वह नारी का प्रणय पाने के लिये सुन्दर वस्त्र, मोटरगाड़ी और धन जुटा कर अपनी महत्ता

प्रदर्शित करता है। पुरुष की आज भी वही इच्छा है जो सभ्यता के उदय-काल के पूर्व थी। केवल कला में परिवर्तन हुआ है।

पुरुष जो महान-सम्पत्ति संचित करते हैं और बल तथा यश के उच्च-शिखर को प्राप्त करते हैं, मुख्यतः नारी के हृदय में स्थान प्राप्त करने के लिये ही करते हैं। उनके जीवन से स्त्रियों को अलग कर दीजिये, अधिकांश लोगों का अटूट धन निरर्थक हो जायगा। **पुरुष की यही जन्मजात इच्छा स्त्री को प्रसन्न करने की है, जो उसमें पुरुष को बनाने और मिटाने का बल भर देती है।**

उस नारी को जो पुरुष के स्वभाव को समझती है और चातुरी से उसे आकर्षित करती है, यह आशंका अथवा भय नहीं रहता कि उसका पुरुष किसी दूसरी स्त्री के जाल में फँस जायगा। पुरुष जब दूसरे पुरुषों के साथ व्यवहार करता है, दुर्दम इच्छाशक्ति से 'दानव' हो सकता है, किन्तु जब वह अपनी चहेती के संसर्ग में आता है, तब बड़ी सुगमता से वश में हो जाता है—भेड़िया से भेड़ बन जाता है।

अधिकांश पुरुष इसे अंगीकार नहीं करेंगे कि वह सरलता से उन स्त्रियों द्वारा प्रभावित हो जाते हैं, जिनको वे मानते हैं, क्योंकि यह तो नर के स्वभाव में है कि वह जाति में बली माना जाय। बुद्धिमती स्त्री इस "पौरुष लक्षण" को जानती है और बुद्धिमत्ता से इस विषय को बरा जाती है।

कुछ पुरुष जानते हैं कि वे अपनी रुचि की कुछ स्त्रियों द्वारा प्रभावित हुये हैं—ये स्त्रियाँ चाहे प्रेमिकाएँ हों या माता या बहनें, किन्तु वे चतुराई से इस प्रभाव को बरा जाते हैं, क्योंकि उनमें यह जानने की पर्याप्त चतुरता है कि बिना मनचाही स्त्री के प्रभाव के वे सुखी या पूर्ण नहीं रह सकते। वे पुरुष, जो इस तथ्य को अंगीकार नहीं करते, अपने को उस शक्ति से वंचित रखते हैं, जिसने उन सब सम्मिलित शक्तियों की अपेक्षा मनुष्य की सफलता उपलब्धि में सबसे अधिक महत्वपूर्ण योग दिया है।

अध्याय बारहवाँ

अवचेतन मन

(अर्थात् संयुक्त करने वाली शृंखला अथवा अज्ञात चेतना)

विभूति की ओर ग्यारहवाँ सोपान

अवचेतन मन (Sub-conscious mind) एक चेतनात्मक क्षेत्र है, जिसमें प्रत्येक विचार के संवेग, जो किसी भी पंचेन्द्रिय द्वारा विषयाश्रित मन तक पहुँचते हैं, वर्गीकृत और लिखित होते हैं। इस प्रवृत्ति द्वारा विचारों का आवाहन या संहरण फिर से बुलाया या निकाल दिया जा सकता है। जैसे चिट्ठियाँ किसी मिसिल में लगाई या निकाली जा सकती हैं वैसे ही अवचेतन मन में मानव व्यवहार का भी स्थान है।

वह इन्द्रियों के स्वभाव की उपेक्षा कर इन्द्रियजन्य संस्कारों या विचारों को ग्रहण कर संचित करता है। आप **स्वेक्षापूर्वक** अपने अवचेतन मन में कोई भी योजना, विचार या अभिप्राय जिसको आप भौतिक या द्रव्य अनुपात में 'परिवर्तन' करने की इच्छा करते हैं रोप सकते हैं, अवचेतना मुख्यतः श्रद्धा जैसी भाव विशिष्ट संवेदना से उन प्रकृष्ट इच्छाओं पर कार्य करती है, जो भाव विशिष्ट संवेदनों से मिश्रित होती है।

इसपर उन निर्देशों के सम्बन्ध के साथ विचार कीजिये, जो इच्छा के अध्याय (पृष्ठ २२) में छः नियमों या क्रम पालन के लिये दिये गये हैं और जो निर्देश व्यवस्थित योजना (पृष्ठ ४२) के अध्याय में कहे गये हैं। तब आप योजनाओं के निर्माण और व्यवहार में लाने के लिए, उस अध्याय के निर्दिष्ट विचारों के महत्व को समझ पायेंगे।।

अवचेतन मन एक कार्य-प्रणाली द्वारा **रात-दिन कर्म करता रहता है।** अवचेतन मन बल प्राप्त करने लिये अनन्त ज्ञान की शक्तियों का, जिसका ज्ञान मनुष्य को नहीं होता, आकर्षित करता है। इस प्रक्रिया से वह स्वेच्छा-पूर्वक व्यक्ति की इच्छा को स्थूल द्रव्य संतुलन में, अति व्यावहारिक साधन के उप-

भोग द्वारा, रूपान्तरित कर सकने में समर्थ हो पाता है। अवचेतन मन ऐसा इसलिए करता है ताकि वह परिणाम में सिद्धि प्राप्त कर सके।

आप पूर्ण रूप से अपने अवचेतन मन पर नियंत्रण नहीं कर सकते, परन्तु आप अपनी इच्छा से कोई योजना, अभिलाषा या उद्देश्य जिसको आप स्थूल रूप में परिवर्तन करना चाहते हों, उसको सौंप सकते हैं। आत्म-प्रस्तावना के अध्याय में जो निर्देश अवचेतन मन को उपयोग में लाने के लिए दिये गये हैं, उन्हें फिर पढ़िये।

इस विश्वास के अवलंबन के लिये प्रमाण की बहुलता है कि अवचेतन मन ही, मनुष्य के सीमित मन और अनन्त ज्ञान के बीच, संयोग शृंखला है। यह मध्यवर्ती है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अनन्त ज्ञान से शक्तियाँ आकर्षित कर सकता है। केवल इसी में वह गूढ़ विधि है, जिसके द्वारा मानसिक संवेग अपने आध्यात्मिक संतुलन में शोधित और परिवर्तित होते हैं। यही केवल एक माध्यम है, जिसके द्वारा प्रार्थना उस प्रभाव में संचरित की जा सकती है, जहाँ से उत्तर मिल सके।

अवचेतन मन में संसर्गिक रचनात्मक चेष्टाओं की संभाव्यता अति विशाल भी हैं और लघु भी, "अणोः अणीयान् महतो महीयान्"। वे व्यक्ति को चकित कर देती हैं।

कदाचित् इस तथ्य के कारण कि मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान अवचेतन मन के विषय में नगण्य है, वह इस सम्बन्ध की चर्चा या वाद-विवाद में कभी भी अपने में क्षुद्र और हीनता की भावना प्रकट किये बिना नहीं रह सकता। यह यथार्थ है कि अवचेतन मन मनुष्य के विचारणीय मन और अनन्तज्ञान के बीच माध्यम है। यह माध्यम मनुष्य की विवेक बुद्धि को स्तम्भित कर देता है।

अवचेतन मन के अस्तित्व को, सत्यता के रूप में उसकी सम्भाव्यताओं को और इच्छाओं को स्थूल या द्रव्य संतुलन में, परिवर्तन का एक माध्यम स्वीकार करने के पश्चात्, आप उन निर्देशों को, जो इच्छाशक्ति के अध्याय में दिये गये हैं, स्वस्थ चित्त से हृदयंगम कीजिये। ऐसा करने के पश्चात् ही आप समझ लेंगे कि अपनी **इच्छाओं को स्पष्ट करने और उनको लेखबद्ध करने के लिये** बारम्बार क्यों निर्देश दिये गये हैं। आप **दृढ़ाग्रह** करने की तथा उन आदेशों के पालन करने की आवश्यकता को भी समझ जायेंगे।

उत्तेजन के तेरह सिद्धान्त हैं, जिनसे आप अवचेतन मन तक पहुँचने की तथा उस पर प्रभाव डालने की योग्यता प्राप्त करते हैं। यदि आप पहले प्रयास में यह नहीं कर सकते तो हतोत्साह मत होइये। यह स्मरण रखिये कि उन निर्देशों के अनुसार, जो 'श्रद्धा' के अध्याय में दिये गये हैं, केवल आवृत्ति द्वारा ही अवचेतन मन स्वेच्छया निर्देशित किया जा सकता है। अभी तक आपको श्रद्धा पर अधिकार करने का समय नहीं मिला। दृढ़ाग्रही बनिये, धीरज धरिये।

श्रद्धा और आत्म-प्रस्तावना के अध्यायों के बहुत से वर्णन, जो आपके अवचेतन मन के कल्याण के लिये हैं, यहाँ पुनः किये जायेंगे। यह ध्यान रखिये कि आपका अवचेतन मन स्वेच्छा-पूर्वक व्यवहार करता है, चाहे आप उस पर प्रभाव डालने की चेष्टा करें या न करें। यह स्वभावतः आप के आगे प्रस्ताव करता है कि भय और दरिद्रता के विचार तथा सभी नकारात्मक अथवा निषेधार्थक विचार आपके अवचेतन मन पर उत्तेजन के रूप में उस समय तक काम करते हैं जब तक आप इन संवेगों को वश में कर अधिक रुचिकर और पौष्टिक भोजन न दें।

अवचेतन मन कभी निठल्ला नहीं रहेगा। यदि आप अपने अवचेतन मन में इच्छाओं को रोपने में चूक कर गये, तो वह उन विचारों से पोषित होगा जो आपकी उपेक्षा के परिणाम स्वरूप हैं। हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि विचार संवेग, (दोनों निषेधार्थक और सार्थक) उन चार स्रोतों से, जो यौन परिवर्तन के अध्याय में वर्णित हैं, निरन्तर अवचेतन मन में पहुँचते रहते हैं।

याद रखें कि आप सभी प्रकार के विचार संवेगों के बीच नित्य रह रहे हैं। ये विचार संवेग अज्ञात रूप से आपके अवचेतन मन में पहुँच रहे हैं। इनमें से कुछ निषेधार्थक (Negative) और कुछ सार्थक या विधिवत् (Positve) हैं। अब आप इस प्रयत्न में व्यस्त हैं कि निषेधार्थक संवेगों के प्रवाह को बन्द कर दिया जाय, और इच्छा के सार्थक संवेगों द्वारा अपने अवचेतन मन को प्रभावित किया जाय।

जब आप इसकी उपलब्धि कर लेंगे तभी आप उस कुंजी के अधिकारी होंगे, जो आपके अवचेतन मन के द्वार को खोलती है। इसके अतिरिक्त आप उस द्वार पर इतना पूर्ण शासन करेंगे कि कोई अनिच्छित विचार आपके अवचेतन मन पर प्रभाव नहीं डाल सकेगा।

प्रत्येक वस्तु, जो मनुष्य रचता है, विचार संवेग के रूप में आरम्भ होती है। मनुष्य ऐसा कुछ भी निर्माण नहीं करता, जिसे वह पहले विचार में आकार नहीं दे देता। कल्पना की सहायता से विचार संवेग योजनाओं में एकत्रित किये जा सकते हैं। कल्पना जब नियंत्रण में होती है, तब वह योजनाओं के निर्माण या अभिप्रायों की सिद्धि के उपयोग में लाई जा सकती है। ऐसी स्थिति में आपको अपनी रुचि के व्यवसाय या उद्यम में सफलता भी मिल सकती है।

सभी विचार संवेग, जो स्थूल द्रव्य, संतुलन में रूपान्तर करने के लिये निर्दिष्ट हैं या स्वेच्छया अवचेतन मन में रोपे गये हैं, कल्पना द्वारा संचारित और श्रद्धा से मिश्रित होने चाहिये। अवचेतन मन में एक योजना के या अभिप्राय के साथ श्रद्धा का मिश्रण, केवल कल्पना द्वारा ही किया जा सकता है।

इस वृत्तान्त से आप शीघ्र ही निरूपण कर लेंगे कि अवचेतन मन को स्वेच्छया उपयोग में लाने के लिए सभी सिद्धान्तों के विधि-विधान प्रयोग में लाने पड़ते हैं।

उपर्युक्त विवेचन भारतीय उपासना पद्धति के मूल तत्त्व का स्पष्टीकरण प्रतीत होता है।

भारतीय पद्धति में व्यक्ति पहले कामना की कल्पना करता है, जो इच्छा के रूप में व्यक्त होकर अपने गुरु से मंत्रणा के लिए प्रार्थना कराती है। गुरु उसको मंत्र-दीक्षा देते हैं, जिससे वह जप (Antosuggestion) के द्वारा अपनी श्रद्धा में पुष्टि प्राप्त करता है। पुष्टि प्राप्त होने पर शारीरिक पवित्रता के लिये शौच स्नानादि से निवृत्त होकर तथा श्रद्धा से संयुक्त होकर मनीषी मनोबल की उपलब्धि के लिये वह ब्राह्मणों (तत्त्ववित् पुरुषों) के सहयोग की याचना करता है। वे ब्राह्मण उसकी योजना पूर्ति के लिये स्वस्ति-वाचन, पुण्याह वाचन के द्वारा विशिष्ट ज्ञान का उपदेश देते हैं। इन उपदेशों से शक्ति प्राप्त कर यजमान दृढ़ाग्रह के साथ संकल्प करता है; करन्यास, अंग-न्यास और विनियोग करता है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि वह अपने मस्तक से चरण तक के सब अवयवों को चैतन्य कर, मनसा-वाचा-कर्मणा एकाग्र होकर, अपनी इच्छा के विषय के अभिमानी देवता का ध्यान तथा आवाहन करता है। [भागवत में पृथक-पृथक इच्छा के अभिमानी देवता चौदह गिनाये गये हैं, जो कदाचित् वृत्तियों के अनुसार हों।]

जब इच्छा जप के द्वारा पुष्ट होकर श्रद्धा के साथ प्रेम द्वारा [जो काम भावना का शुद्ध रूप है] मिश्रित हो जाती है, तब यही भक्ति कहलाती है। भक्ति ही एक तत्त्व है जो आत्मा से संसर्गित हो सकता है, किसी अन्य तत्त्व में यह क्षमता नहीं होती। ज्ञान के विषय में लोग कहते हैं कि यह आत्मा से संसर्गित हो सकता है, परन्तु स्वामी रामकृष्ण परमहंस देव के कथनानुसार ज्ञान केवल द्वार तक ही ले जाता है, भक्ति तो अन्तरंग की स्वामिनी होने के कारण आत्मा का साक्षात्कार करा देती है। चूँकि भक्ति में कामभावना निहित है, इसलिए इसमें सभी कर्मों की प्रेरक शक्ति है, [जिसकी व्याख्या पिछले ११वें अध्याय में की गयी है]। जो प्रेम में भावावेशित हो जाते हैं, वे ही सब वृत्तियों की उपेक्षा कर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये एकाग्रचित्त भी होते हैं। इस प्रकार संयमित होने पर जब किसी भी सार्थक भावना के साथ मिला कर मन प्रयोग मे लाया जाता है, तब सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। अवचेतन मन को उत्साहित करने के लिये काम भावना की इसीलिये आवश्यकता पड़ती है।

जो विचार केवल मन के तर्क-वितर्क अंश से उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा अवचेतन मन-भावना से मिश्रित विचार संवेगो द्वारा प्रभावित होने के लिये अधिक उत्सुक रहता है। वस्तुतः इस सिद्धान्त के अवलम्बन में विशेष आधार यह है कि केवल भावनामय विचार ही अवचेतन मन पर क्रियात्मक प्रभाव डालते हैं। यह सुपरिचित तथा परीक्षित तथ्य है। भावना अधिकांश लोगों को शासित करती है। यह सत्य है कि अवचेतन मन तुरन्त उत्तर देता है, और उन विचार संवेगों द्वारा अधिक शीघ्रता से प्रभावित होता है जो भावना के साथ सुमिश्रित होते हैं। यह आवश्यक है कि विचार अधिक महत्व की भावनाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करें। इस विषय में सात प्रधान सार्थक (Position) भावनायें हैं और सात ही प्रधान निषेधार्थक भावनायें भी हैं। निषेधार्थक भावना स्वेच्छा से उन विचार-संवेगों में अन्तः प्रवेश करती हैं, जो अवचेतन मन में सुरक्षित मार्ग प्रदान करती हैं। आत्म प्रस्तावना सिद्धान्त के द्वारा उन विचार संवेगों का अन्तः प्रवेश कराना चाहिये, जिनको साधक अवचेतन मन तक पहुँचाना चाहता है (आत्म प्रस्तावना के अध्याय में निर्देश दिये गये हैं।)

इन भावनाओ या वृत्तियों के संवेगो की तुलना रोटी के खमीर के साथ की जा सकती है, क्योंकि इनमें क्रियात्मक तत्त्व है, जो विचार-सवेगों की निष्क्रियता को सक्रिय अवस्था में रूपान्तरित करता है। इस प्रकार साधक

समझ सकता है कि क्यों ऐसे विचार-संवेग, जो भावना में भली-भाँति मिश्रित हैं, उन विचार-संवेगों की अपेक्षा जो "कोरा वितर्क" (Cold reason) में हैं, अधिक शीघ्रता से कर्म करते हैं।

जब आप अवचेतन मन के अन्तरंग (Inner Audience) पर प्रभाव डालने और उस पर नियंत्रण करने की तैयारी कर रहे हैं, तब सबसे पहला काम जो आपको करना चाहिये, वह यह है कि आप अपनी इच्छा को, जो विभूति संग्रह से सम्बन्धित है, भौतिक रूप देने के लिये अवचेतन मन के अन्तः क्षेत्र में पहुँचा दें। यह आवश्यक है कि आप इस "अन्तरंग" में पहुँचाने की विधि को समझें। आपको उसी की भाषा बोलनी चाहिये नहीं तो वह आपकी याचना पर मनोयोग न देगा। वह भावना और वृत्तियों की भाषा को भली-भाँति समझता है। इसलिये हमें सात प्रधान सार्थक भावनाओं और सात निषेधार्थक भावनाओं का वर्णन करने दीजिये, जिससे आप तथ्य को ग्रहण कर सकें और निषेधार्थक भावना की उपेक्षा कर सकें।

सात प्रधान सार्थक भावनायें

इच्छा की भावना
श्रद्धा की भावना
प्रेम की भावना
काम की भावना
उत्साह की भावना
रसोल्लास की भावना
आशा की भावना

दूसरी और भी सार्थक भावनायें हैं, परन्तु ये सात भावनायें अति बलवान हैं। इनका उपयोग रचनात्मक चेष्टा के लिये सामान्य रूप से किया जाता है। इन भावनाओं को अपनाइये अर्थात् वश में कीजिये। वे केवल उपयोग द्वारा ही वश में आती हैं। दूसरे सार्थक भाव, जब आप चाहेंगे, स्वयं आपके आधीन हो जायेंगे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिये कि आप एक पुस्तक का अध्ययन कर रहे हैं, जिसका उद्देश्य आप के मन को सार्थक भावनाओं से भर कर आपकी "अर्थ चेतना" के विकास में सहायक होना है। कोई भी व्यक्ति **निषेधार्थक** भावनाओं को मन में भर कर "अर्थ चेता" नहीं हो सकता।

इसी भाँति लक्ष्य की प्राप्ति में दैवी और आसुरी दो भाव हैं। आसुरी भावना वाले कभी लक्ष्य सिद्ध नहीं कर सकते, उलटे उन्नति की अपेक्षा पतन की ओर गड्ढे में गिरते हैं। इन भावों का पूरा विवरण गीता का १६वाँ अध्याय है, जिसमें सार्थक दैवी संपदा और निषेधार्थक आसुरी संपदा का पूरा-पूरा लक्षण व ब्यौरा दिया गया है। विभूति साधन की पद्धति एक ही है।

सात प्रधान निषेधार्थक भावनायें

(जिनकी उपेक्षा करनी चाहिये)

भय की भावना
द्वेष या मत्सर की भावना
घृणा की भावना
प्रतिहिंसा की भावना
लोभ की भावना
अन्धविश्वास की भावना
क्रोध की भावना

सार्थक और निषेधार्थक भावना मन में एक ही समय में, एक साथ कभी नहीं रह सकती, "तुलसी कबहुँ न रहि सके, रवि रजनी इक ठाँव।" एक या दूसरा भाव मन में शासन कर सकता है। यह आपका कर्तव्य है कि सार्थक भाव को ही अपने मन का शासक बनायें।

प्रकृति आपकी सहायता करेगी। सार्थक भावों के प्रयोग और उपयोग में लाने की प्रकृति बनाइये। अन्त में वही आपके मन पर पूर्णतः ऐसा शासन करेंगे कि निषेधार्थक भाव प्रवेश ही न कर सकेंगे।

केवल इन निर्देशों का अक्षरशः अनुसरण निरन्तर रूप से करते रहने पर ही, आप अपने अवचेतन मन पर नियंत्रण का लाभ उठा सकते हैं। आपके अवचेतन मन में एक भी निषेधार्थक भावना की उपस्थिति, अवचेतन मन से मिलने वाली रचनात्मक सहायता को नष्ट करने के लिये पर्याप्त है।

यदि आप आलोचक हैं, तो आपने हृदयंगम किया होगा कि अधिकांश लोग **प्रार्थना की केवल** तभी शरण लेते हैं, **जब सब प्रयास निष्फल हो जाते हैं।** वे अर्थहीन शब्दों में कर्मकाण्ड द्वारा प्रार्थना करते हैं, क्योंकि यह तथ्य है

कि जब सभी साधन असफल हो जाते हैं, तब "हारे के हरि नाम" सार्थक होता है। ऐसे लोग भय और शंका से भरे मन से प्रार्थना करने जाते हैं। इन्हीं भयपूर्ण भावनाओं पर अवचेतन मन कार्य करता है, भयपूर्ण भावनाओं को अनन्त ज्ञान तक पहुँचाता है, जिसको अनन्त ज्ञान ग्रहण करता है, उसे ही फल देता है।

आप किसी उद्देश्य के लिये प्रार्थना करते हैं, और प्रार्थना करने पर **मन में भय और शंका है** कि ऐसी प्रार्थना में अनन्तज्ञान का सहयोग न होगा, तब निसन्देह आपकी प्रार्थना व्यर्थ जायगी।

प्रार्थना कभी-कभी फलवती होती है। यदि आपकी प्रार्थना कभी सफल हुई है, तो अपनी उस **अवस्था** का स्मरण कीजिये। तब प्रार्थना का तथ्य आपके सामने साकार हो जायगा और आप प्रार्थना का वास्तविक रहस्य जान लेंगे।

एक समय ऐसा आयेगा, जब देश की पाठशालायें और शिक्षा संस्थाएँ प्रार्थना-विज्ञान की शिक्षा देंगी। तब हो सकता है कि प्रार्थना विज्ञान का रूप धारण कर ले। जब वह समय आयेगा, तब कोई भी व्यक्ति विश्वव्यापी आत्मा के सामने भयभीत न रहेगा। अज्ञानता, अन्धविश्वास और मिथ्या उपदेश विलीन हो जायेंगे, और मनुष्य अनन्तज्ञान के एक बालक के रूप में अपनी वास्तविक अवस्था प्राप्त कर लेगा। यह सौभाग्य केवल भाग्यवानों को ही मिलता है।

यदि आप इस भविष्यवाणी को अत्युक्ति समझते हैं, तो एक दृष्टि भूतकाल की मानव जाति पर डालिये। सौ वर्ष से कम हुये, जब लोग बिजली को ईश्वर के एक कोप के रूप में मानते थे और भय खाते थे। अब **श्रद्धा-शक्ति** को धन्यवाद है कि मनुष्य ने बिजली को वश में कर लिया है और उसको उद्योग के पहियों में चला रहा है। सौ वर्ष से कम हुये मनुष्य विश्वास करता था कि पृथ्वी और नक्षत्रों के बीच आकाश शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अब उसी **श्रद्धा शक्ति** को धन्यवाद है, जिससे मनुष्य जानने लगा है कि शून्य से कहीं दूर, उतना ही चैतन्य है, जितना परिचित उच्च कोटि का स्फुरण। इसके अतिरिक्त मनुष्य जान गया है कि स्फुरण-शक्ति जो कण-कण में व्याप्त है और देश के कोने-कोने में फैली है आकाश में है, जीवित है, स्पन्दन करती है। वह प्रत्येक मानव मस्तिष्क से दूसरे मानव मस्तिष्क को जोड़ रही है।

मनुष्य कैसे विश्वास करे कि यही शक्ति प्रत्येक मानव मस्तिष्क को अनन्तज्ञान के साथ नहीं जोड़ रही है ?

मनुष्य के सीमित मन और अनन्त ज्ञान के बीच कोई चुंगी-चौकी कर उगाहने की नहीं है। अनन्तज्ञान से संसर्ग करने मे **श्रद्धा, धैर्य, दृढ़ाग्रह, बोध या ज्ञान और एक निष्कपट इच्छा** के अतिरिक्त और कुछ भी गाँठ का नहीं लगता।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति साधन द्वारा स्वयं ही सामीप्य प्राप्त कर सकता है। शुल्क देकर दिखावटी प्रार्थना कराना निरर्थक है [पाश्चात्य देशों में पादड़ी शुल्क लेकर प्रार्थना करते हैं, भारत में पण्डितजी व्रत, पाठ, पूजा, और जप करने की मोटी रकम दक्षिणा के रूप में लेते हैं]। अनन्त ज्ञान प्रतिनिधि द्वारा कोई व्यापार नहीं करता। या तो आप उससे सीधी बात-चीत कीजिये या बात ही न कीजिये।

आप स्तोत्रों की पुस्तकें मोल लेकर निरन्तर पाठ अन्तकाल तक करते रहिये, बिना भावना के सब निरर्थक है। विचार, जो आप अनन्तज्ञान के पास संसर्गित करने की इच्छा से भेजना चाहते हैं, उनका रूपान्तर होना ही चाहिये, क्योंकि वे आपके अवचेतन मन द्वारा स्वयं भेजे गये हैं।

अनन्तज्ञान से संसर्ग स्थापित करने के लिये जिस प्रणाली का आप उपयोग करते हैं, ठीक वही प्रणाली स्फुरणों द्वारा रेडियो से संसर्ग स्थापित करती है। यदि आप रेडियो सिद्धान्त समझते हैं, तो निसंदेह आप समझ जायेंगे कि शब्द आकाश से सीधे संसर्गित नहीं होते, जब तक कि वे "ऊँचे न उठाये जायें" (Stepped up) शब्द स्फुरण ऐसे उच्च स्वर में उठाये जाते हैं कि कान ग्रहण नहीं कर सकते। रेडियो यंत्र मनुष्य के शब्द स्फुरणों को ग्रहण कर उनको करोड़ों गुना बढ़ा कर आकाश में फेंकता है। रूपान्तर हो जाने के बाद आकाश उस शक्ति को ग्रहण कर लेता है, (जो मूलरूप में शब्दों के स्पन्दन रूप में थी) और शक्ति को ग्रहण करने वाले यंत्र तक ले जाता है, तब वह 'ग्राहक' यंत्र उन स्पन्दनों को फिर साधारण शब्दों में प्रसारित करता है।

अवचेतन मन ही मध्यवर्ती है, जो व्यक्ति की प्रार्थनाओं का अनुवाद ऐसे शब्दों में प्रस्तुत करता है, जिसे अनन्त ज्ञान स्वीकृत कर सके। इसके अनन्तर वह अनन्त ज्ञान के सामने प्रस्ताव रखता है, वह उस पर विचार कर अपना निर्णय देता है। उस निर्णय को अवचेतन मन एक निर्दिष्ट योजना, किसी कल्पना अथवा सूझ के रूप में, जो प्रार्थना का उत्तर है,

लाता है। इस रहस्य को हृदयंगम कीजिये, तब आप जानेंगे कि पुस्तक में लिखी प्रार्थना के कोरे शब्द कुछ नहीं कर सकते। वे कभी भी मनुष्य के मन और अनन्तज्ञान के बीच सन्देशवाहक रूप में उपयोग में नहीं लाये जा सकते।

आपकी प्रार्थना मूल के विचार स्फुरण अनन्तज्ञान तक पहुँचने के पहले, कदाचित् आध्यात्मिक स्फुरण भाव में रूपान्तरित हुयी हों। श्रद्धा ही एक सुपरिचित साधन है जो आपके विचारों को आध्यात्मिक रूप दे सकती है।

श्रद्धा और भय, ये दोनों कभी मेल नहीं खाते। जहाँ एक पाया जायगा, वहाँ दूसरे का अस्तित्व नहीं रह सकता।

तेरहवाँ अध्याय

मस्तिष्क

(विचार आदान-प्रदान केन्द्र)

विभूति की ओर बारहवाँ सोपान

जिस प्रकार आकाशवाणी, एक स्थान से दूसरे स्थान पर सन्देश भेजती है, ठीक उसी प्रकार आकाश के माध्यम से विचार स्फुरणों को एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क में प्रसारित करता है।

उपर्युक्त अनुच्छेद के वक्तव्य से रचनात्मक कल्पना की तुलना कीजिये और उसकी व्याख्या पर चिन्तन कीजिये, जिसका कल्पना के अध्याय में में विस्तृत वर्णन है। रचनात्मक कल्पना मस्तिष्क का एक आकर्षक उपकरण है, जो दूसरे मस्तिष्कों से प्रसारित विचारों को ग्रहण करता है, मस्तिष्क, व्यक्ति के ज्ञान या वितर्कमय मन और चार स्रोतों (पृष्ठ १६२) के बीच सन्देश वाहक है, जिनसे व्यक्ति विचार उत्तेजन ग्रहण कर सकता है।

उत्तेजित या प्रोत्साहित हुआ मस्तिष्क, विचार के उन स्फुरणों को, जो उच्चस्फुरण गति से उठाये गये हैं तथा आकाश मार्ग से वाह्य स्रोतों से उसके पास पहुँचते हैं, ग्रहण कर लेता है। यह उत्थान प्रणाली सार्थक (Positive) भावनाओं या निषेधार्थक (Negative) भावनाओं द्वारा घटित होती हैं। भावनाओं द्वारा विचार स्फुरण बढ़ाये जा सकते हैं।

अत्यन्त उच्चगति के स्फुरण ही आकाश मार्ग से एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में जाते हैं। विचार एक शक्ति है, जो स्फुरणो की अतितीव्र गति से संचारित होती है। किसी भी प्रधान भावना द्वारा उत्थापित या रूपान्तरित विचार साधारण विचारों की अपेक्षा अतितीव्र गति से स्फुरित होते हैं। वे इसी प्रकार के विचार हैं, जो मस्तिष्क के विस्तारक यंत्र के द्वारा एक मस्तिष्क से दूसरे मानव मस्तिष्क में संचारित होते हैं।

कामभावना, जहाँ तक प्रचण्डता और प्रेरक शक्ति का सम्बन्ध है, मानव भावनाओं की सूची में सब से उच्च स्थान पर है। मस्तिष्क, जो काम भावना से उत्तेजित किया गया है, अतितीव्र गति से स्फुरण करता है।

काम भावना का रूपान्तर या परिणाम यह होता है कि विचारों का स्फुरण इतनी उच्चगति में वृद्धि पाता है कि रचनात्मक कल्पना में विस्तृत ब्रह्माण्ड में फैली हुई सूझों को ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। दूसरी ओर जब मस्तिष्क तीव्र गति से स्फुरण करता है, तब वह केवल दूसरे मस्तिष्क के विचारों को ही ग्रहण नहीं करता, अपितु उन विचारों और सूझों को भी ग्रहण कर लेता है, जो ब्रह्माण्ड में भरे हुए हैं। वह दूसरे मस्तिष्क को अपने विचारों की वह भावना देता है, जो दूसरों के अवचेतन मन द्वारा ग्रहण करने और उस पर काम करने के लिये आवश्यक हैं।

इस प्रकार आप देखेंगे कि प्रसारक सिद्धान्त एक उपकरण है, जिसके द्वारा आप प्रवृत्तियों या भावनाओं को अपने विचारों के साथ मिश्रित कर अवचेतन मन की ओर बढ़ाते हैं।

अवचेतन मन ही मस्तिष्क का "भेजने वाला स्थान" है, जिसके द्वारा विचार के स्फुरण प्रसारित किये जाते हैं। रचनात्मक कल्पना "आकर्षक यंत्र है" जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड से विचार स्फुरण ग्रहण किये जाते हैं।

अवचेतन मन के महत्वपूर्ण उपकरणों और रचनात्मक कल्पना शक्ति के साथ (जो आपके प्रसारण यंत्र की विस्तारक और आकर्षक विधि है) आप अब आत्म-प्रस्तावना सिद्धान्त पर भी विचार कीजिये। आत्म-प्रस्तावना वह माध्यम है जिसके द्वारा आप अपने प्रसारक केन्द्र को व्यवहार में ला सकते हैं।

उन निर्देशों द्वारा जो आत्म-प्रस्तावना के अध्याय में वर्णित है, आप निश्चत रूप से उस प्रणाली से परिचित करा दिये गये हैं, जिसके द्वारा इच्छा विभूति संतुलन में रूपान्तरित की जा सकती है।

आपके मानसिक "प्रसारक यंत्र" का चलाना अपेक्षया एक सरल प्रणाली है। जब आप अपने प्रसारक यंत्र का अर्थात् मस्तिष्क का उपयोग करें, तब तीन सिद्धान्तों के प्रयोग का ध्यान रखिये—**अवचेतन मन, रचनात्मक कल्पना और आत्म-प्रस्तावना**। जिस उत्तेजना द्वारा आप इन तीन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाते हैं, उसका वर्णन कर दिया गया है (पृष्ठ १६०)। उनका क्रम कामेच्छा से आरम्भ होता है।

सबसे महान् शक्तियाँ अगोचर हैं जिनको जानने की उत्कंठा मनुष्य को अब हुई है। मनुष्य,विगत अनेक युगों से, अपनी शारीरिक इन्द्रियों पर ही अत्यधिक निर्भर रहता आ रहा है और अपना ज्ञान स्थूल वस्तुओं तक सीमित

रखता है। जिसको वह देखता स्पर्श करता सूँघता, तौलता और नाप सकता है उसको ही वह ज्ञान का विषय मानता है।

अब हम सब से आश्चर्यजनक युग में प्रवेश कर रहे हैं—एक ऐसा युग, जो हमें चतुर्दिग व्याप्त जगत् की अगोचर शक्तियों के विषय में कुछ शिक्षा देगा। कदाचित् हम सीख लेंगे। ज्यों-ज्यों हम इस युग में आगे बढ़ते हैं, हमें ज्ञान होता जाता है कि शरीर की अपेक्षा, जिसको हम दर्पण में देखते हैं, कोई एक दूसरा भी तत्त्व है, जो कहीं अधिक शक्तिशाली है। कभी-कभी हम लोग उपेक्षा भाव से अगोचर की वार्ता करते हैं—अगोचर वह तत्त्व है, जिसको अपनी किसी इन्द्रिय द्वारा अनुभव नहीं कर सकते। अब हमें उद्बोध होना चाहिये कि हम सब उन शक्तियों द्वारा नियंत्रित हैं जो अदृश्य और अगोचर हैं।

समस्त मनुष्य जाति एकत्र होकर भी न तो उस अगोचर शक्ति से संघर्ष कर सकती है और न समुद्र की उन उत्ताल-तरंगों पर, जिनमें वह शक्ति लिपटी हुई है उसका नियन्त्रण कर सकती है। मनुष्य में 'गुरुत्व' की अगोचर शक्ति को समझने की योग्यता नहीं है। जो शक्ति इस छोटी सी पृथ्वी को अधर में साधे हुए है, प्राणियों को उसमें गिरने से रोके हुए है, उसे नियन्त्रित करने के लिये मनुष्य के पास कुछ भी बल नहीं है। मनुष्य पूर्ण रूप से अगोचर शक्ति के आधीन है। जो शक्ति आँधी में बिजलियों के साथ आती है, उस बिजली रूपी अगोचर शक्ति का सामना करने के लिये मनुष्य सर्वथा असहाय है। वह यह भी नहीं जानता कि बिजली, क्या तत्त्व है, कहाँ से आती है और उसका हेतु क्या है?

अगोचर और अव्यक्त तत्त्वों के सम्बन्ध में मनुष्य की अज्ञानता का अन्त यही नहीं है। वह उन अगोचर और अव्यक्त शक्ति और बुद्धि को भी नहीं समझता, जो पृथ्वी की मिट्टी में व्याप्त है—जो उसे भोजन का कौर प्रदान कर रही है, जो वस्त्र पहनने को दे रही है, जो रुपयों में है, जिसे वह अपनी जेब में लिये फिरता है।

मस्तिष्क का नाटकीय विषय

मनुष्य को अपनी संस्कृति और शिक्षा का बड़ा अहंकार है। पर सत्य यह है कि वह अगोचर महाशक्ति के विषय में कुछ भी नहीं समझता। वह स्थूल मस्तिष्क के सम्बन्ध को जानता है, किन्तु थोड़ा। उसके मस्तिष्क के विशाल गहन यंत्र समुदाय के सूत्र-जाल के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने

के लिये कि विचार शक्ति भौतिक तत्त्व में परिवर्तित होती है, वह ऐसे युग में प्रवेश कर रहा है जहाँ उसे प्रकाश मिलेगा। वैज्ञानिकों ने पहले से ही इस मस्तिष्क नाम की विशाल वस्तु का अध्ययन करने के लिये अपना ध्यान फेरा है। यद्यपि वे अपने अध्ययन की शैशवावस्था ही में हैं, तथापि उन्होंने इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत श्रम किया है। मनुष्य के मस्तिष्क के केन्द्र में स्विच की एक पट्टिका है, जिसके तन्तुओं की संख्या, जो एक रन्ध्र को दूसरे से जोड़ते हैं, अंक एक के आगे डेढ़ करोड़ शून्य लगाने से बनती है?

इस बात को हृदयंगम करना बहुत ही कठिन है कि ऐसा अद्भुत मस्तिष्क यन्त्र केवल शरीर के ही भरण-पोषण के लिये है। क्या यह संभव नहीं है कि वही मस्तिष्क का तन्तु जाल, जो अरबों मस्तिष्क रन्ध्र रखता है और जो एक दूसरे से बातचीत करने का माध्यम है, दूसरी अगोचर शक्तियों से संसर्ग स्थापित करने का साधन भी हो सकता है।

न्यूयार्क टाइम्स में एक लेख निकला था कि विश्वविद्यालय का एक वैज्ञानिक मानसिक विचित्रता पर अनुसंधान कर रहा है, जिसका उपक्रम उपर्युक्त लेख तथा अगले अध्याय के वर्णन के समान ही निकला है। उसका विश्लेषण डाक्टर-राइन ने किया है, जिसका संक्षिप्त वर्णन, इस प्रकार है:—

टेलीपेथी अर्थात् देशान्तर-वार्ता—विद्या क्या है?

एक महीना हुआ, जब हमने इन पृष्ठों पर कुछ अद्भुत परिणाम लिखे थे। ये परिणाम ड्यूक विश्वविद्यालय के प्रोफेसर और उनके साथियों ने निकाले थे। लाखों परीक्षणों के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचे कि 'टेलीपेथी" (देशान्तर-वार्ता-विद्या) और संमोहन (Clairvoyance) का अस्तित्व है।

राइन के परीक्षण का फल यह हुआ कि 'टेलीपेथी' और संमोहन के अस्तित्व पर बहुत से वैज्ञानिकों का विश्वास जम गया। ताश की गड्डी दिखा कर विभिन्न विषय ग्राहियों से कहा गया कि अपने-अपने मन में कोई पत्ता, बिना देखे और बिना छुए हुए और किसी इन्द्रियगम्य साधन के बिना, विचार लो। बहुतों ने एक ही पत्ते को विचारा। भाग्य, घटना या कलाबाज़ी का इसमें कोई हाथ न था। यह वह महाशक्ति है, जिसने सबके मस्तिष्क में प्रवेश कर सबसे एक ही विचार करवाया। इस महाशक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोई भी इन्द्रिय समर्थ नहीं है। मस्तिष्क की जो अद्भुत शक्ति एक कमरे में दिखाई गई थी, उसने सैंकड़ों मील की दूरी पर भी ठीक उसी तरह का कार्य किया।

प्रोफेसर राइट का कहना है कि इस रहस्य को भौतिक दृष्टि से देखने का प्रयास करना, आकाश में किला बनाना है। प्रसारण शक्ति जितनी आगे बढ़ती है, उतने ही गुणा फैलती जाती है। इसके विपरीत अपने उद्गम स्थान पर वह उतने ही गुणा संकुचित होती जाती है। टेलीपेथी और संमोहन के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। भौतिक कारणों से प्रभावित होकर मानसिक भावना की भाँति 'संमोहन और टेलीपेथी' भी विपर्यय करने लगती हैं। यह विद्या पूर्ण जागृत व्यक्ति पर प्रभाव डालती है, सुप्त पर नहीं। मादक वस्तु विषयग्राही व्यक्ति की स्फुरण गति को धीमी कर देती है, जब कि उत्तेजक द्रव्य उसे सदा तीव्र कर देता है। प्रयोक्ता अर्थात् अभिनेता जब तक अपना पूर्ण मनोबल न लगा दे तब तक इस विद्या में सफल नहीं होता।

राइट इससे कुछ विश्वास के साथ, एक निष्कर्ष निकालते हैं कि "टेर्ल पेथी और संमोहन" वास्तव में एक हैं, प्रकृति की समान देन हैं, अर्थात् वह शक्ति जो उलटे ताशों को जान ले, ठीक उसी के समान है जो दूसरे के मन के विचारों को पढ़ ले। इस पर विश्वास करने के अनेक आधार हैं। उदाहरण के लिये प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति की दोनों देनें पाई गई हैं। वह उनमें से किसी एक का उपभोग करता ही रहता है। प्रत्येक व्यक्ति में समान बल की ठीक वैसी ही दोनों शक्तियाँ है। पर्दे, दीवालें, दूरी इनमें से कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। राइट इस परिणाम से आगे बढ़कर पुनः कहते हैं कि जो वह प्रस्तुत कर रहे हैं, वह 'आभास' या 'चमक' (Hunch or flash) मात्र से अधिक कुछ नहीं है। दूसरे 'अति संवेदक अनुभव, भविष्यवाणी, स्वप्न, भावी आपदा का सकेत और इसी के समान अन्य घटनायें भी उसी शक्ति का आभास प्रमाणित की जा सकती हैं। पाठक से इस परिणाम को स्वीकार करने के लिये आग्रह नहीं है, जब तक वह इसे स्वयं आवश्यक न समझे, किन्तु यह प्रमाण जो राइन ने इकट्ठा किया है, हृदयंगम किया जा सकता है।

जिस स्थिति के प्रभाव में आकर मन प्रत्युत्तर देता है, उस स्थिति का नाम राइन ने 'अति संवेदक' बताया है। इसी साक्ष्य के आधार पर मैं अपना कथन प्रस्तुत कर रहा हूँ। मैंने और मेरे साथियों ने उस स्थिति को खोज निकाला है, जिससे मन में उत्तेजना होती है। यही उत्तेजना छठी इन्द्रिय से व्यावहारिक कार्य कराती है।

वे स्थितियाँ, जिनको मैं लक्ष्य कर रहा हूँ, एक संगठित कर्म करने के लिये सम्मेलन के रूप में थी। परीक्षण और अभ्यास के द्वारा हमने ज्ञान प्राप्त

किया कि किस प्रकार हम अपने मन को उत्तेजित करें, जिससे हम उन विभिन्न समस्याओं को हल करने की प्रणाली पा सकें, जो हमारे पक्ष के व्यक्तियों द्वारा की गई है।

प्रणाली बहुत सरल है। हम एक मंत्रणा की मेज पर बैठते हैं। स्पष्ट रूप से उस समस्या को, जो हमारे विचाराधीन है, सामने रखते हैं। उस पर वाद-विवाद करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वतन्त्र विचार प्रगट करता है। इस मन के उत्तेजन की प्रणाली की विचित्र बात इस विषय में यह है कि प्रत्येक मन्त्रणा में भाग लेने वाले के ज्ञान का उन अज्ञात साधनों से सम्पर्क किया जाता है, जो उसके अनुभव के बाहर हैं।

आप उस सिद्धान्त को समझें, जो मनीषी मनोबल के अध्याय में वर्णित है, तब आप अवश्य गोलमेज मंत्रणा की प्रणाली को अंगीकर करेंगे जिसका वर्णन यहाँ है। मनीषी मन का यह एक व्यावहारिक प्रयोग है।

यह मन उत्तेजन की प्रणाली निर्दिष्ट विषयों की एकता द्वारा तीन जनों के बीच वाद-विवाद या चर्चा का तथा मनीषी मन का अति सरल और अति व्यावहारिक चित्रण करती है। कहा भी है, "पाँच पंच मिल कीजे काज।"

इस सिद्धान्त को अपना कर और समान रूप की योजना का अनुसरण कर कोई भी इस शास्त्र का जिज्ञासु 'प्रसिद्ध कारनेगी' के सिद्धान्त को, जो संक्षेप से आरम्भ में वर्णित है, हस्तगत कर सकता है। यदि यह आपके लिये इस समय कुछ महत्व नहीं रखता, तो इस पन्ने में चिह्न रख लीजिये और अन्तिम अध्याय समाप्त कर लेने के बाद पुनः इसका पाठ कीजिये।

अध्याय चौदहवाँ

छठी इन्द्रिय

ज्ञान के मन्दिर का द्वार

विभूति की ओर तेरहवां सोपान

ध्यान योग

"श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते"

तेरहवाँ सिद्धान्त या तत्त्व **छठी इन्द्रिय** के नाम से विदित है। इसके द्वारा सम्भवतः अनन्त ज्ञान स्वेच्छा से, बिना किसी प्रयास के और बिना किसी याचना के, साधक से सम्पर्क स्थापित करेगा।

यह सिद्धान्त इस शास्त्र की चरम सीमा है। यह समीकरण तभी किया जा सकता है, अथवा समझा जा सकता है और प्रयोग में लाया जा सकता है, जब साधक पहले दूसरे बारह सिद्धान्तों में पारंगत हो जाय।

छठी इन्द्रिय अवचेतन मन का वह अंश है, जो रचनात्मक कल्पना के नाम से लक्षित किया गया है। यह "आकर्षक यंत्र या ग्राहक यंत्र" के रूप में भी वर्णित हुआ है। इसके द्वारा सूझें (Ideas) योजनायें (Plans) और विचार मन पर आभासित होते हैं। ये 'आभास' (Flashes, Hunches, or inspirations) या 'चमक' कभी-कभी प्रेरणा या प्रोत्साहन भी कहे जाते हैं।

✓छठी इन्द्रिय वर्णनातीत है। यह उस व्यक्ति को बतायी अथवा समझाई नहीं जा सकती, जिसने इस शास्त्र के दूसरे सिद्धान्तों को हृदयंगम न कर लिया हो। सिद्धान्तहीन व्यक्ति में कोई बोध नहीं होता और न अनुभव ही होता है। छठी इन्द्रिय का बोध मन के आन्तरिक विकास द्वारा ध्यान करने से होता है। सम्भवतः छठी इन्द्रिय मर्यादित मन और अनन्त ज्ञान के बीच संसर्ग स्थापित करने का माध्यम है। इसी कारण यह मानसिक और आध्यात्मिक तत्वों की ग्रन्थि है। यह वही विन्दु है, जहाँ पर व्यष्टि का मन समष्टि के मन से संयुक्त होता हैं।

उन सिद्धान्तों को जो इस पुस्तक में वर्णित है, हृदयंगम कर लेने के

पश्चात् आप किसी सिद्धान्त या निर्देश को सत्य के रूप में स्वीकार करने को तैयार हो जायेंगे, अन्यथा पूर्ववत् अविश्वासी रह जायेंगे।

यही छठी इन्द्रिय आपको आने वाली आपत्ति की सूचना देगी तथा उसका प्रतिकार भी बता देगी। समय के सदुपयोग का संकेत भी यह आपको देगी।

छठी इन्द्रिय के विकास के साथ, आपकी सहायता करने के लिये और आपका आदेश मानने के लिए, एक "रक्षक देवता" आयेंगे, जो सभी समय आपके ज्ञान मन्दिर का कपाट खोल दिया करेंगे।

यह रहस्य कोरे उपदेशों से कभी हृदयंगम न होगा। इस पुस्तक में वर्णित मार्ग का अथवा इसी के समान अन्य मार्ग का अनुसरण कीजिये तब इसकी सत्यता आपके सामने स्पष्ट हो जायगी।

यह निबन्ध न तो विश्वास करने का और न "चमत्कारों" का प्रतिपादन करने के लिये लिखा गया है, वरन् इसके लिखने का एकमात्र उद्देश्य आप में प्रकृति को समझने का पर्याप्त ज्ञान उत्पन्न करना है। प्रकृति अपने निर्दिष्ट नियमों से कभी विचलित नहीं होती। उसके कुछ नियम इतने अगम्य और विचित्र हैं कि जब वे प्रगट होते हैं, तब 'चमत्कार' के रूप में आभासित होते हैं। छठी इन्द्रिय भी 'चमत्कार' के निकट की वस्तु के सदृश ही होती है। इसको केवल साधक ही कभी-कभी अनुभव करता है, क्योंकि इसके प्रयोग की प्रणाली, जिसके द्वारा यह तत्त्व व्यवहार में लाया जाय, समझ में नहीं आती।

यह निश्चित है कि ब्रह्माण्ड में एक महाशक्ति है। वही शक्ति सृष्टि का मूल कारण है। वही अनन्त ज्ञान है, जो प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ या विश्व के कण-कण में व्याप्त है। वह मनुष्य के दृष्टिगोचर होने वाली प्रत्येक शक्ति की इकाई में समाविष्ट है—वही महाशक्ति छोटे बट-बीज को महान् वृक्ष में परिवर्तित कर देती है। वही गुरुत्व न्यायानुसार पहाड़ों से जल नीचे बहने देती है, वही रात्रि और दिवस का चक्र चलाती है, वही शीत और ग्रीष्म का कारण है, उसी के नियन्त्रण पर प्रत्येक ब्रह्माण्ड अपने स्थान पर स्थित है और एक ब्रह्माण्ड का दूसरे ब्रह्माण्ड से अविचलित सम्बन्ध है। यही महाशक्ति इस शास्त्र के सिद्धान्त द्वारा इच्छा को रूपान्तरित करती है—स्थूल या भौतिक पदार्थों में समन्वय स्थापित करती है।

क्रम-क्रम से प्रत्येक अध्यायों में होते हुये, आप इस अन्तिम सिद्धान्त तक आ गये। यदि आपने पूर्व वर्णित प्रत्येक सिद्धान्तों को अधि-

कृत कर लिया है, तो अब आप इस तत्त्व को ग्रहण करने के अधिकारी हैं इसमें कोई संशय नहीं है। यदि आपने दूसरे सिद्धान्तों को अधिकृत नहीं किया है, तो अब अवश्य कर लीजिये, तब आपकी समझ में आ सकेगा कि इस अध्याय में जो तथ्य प्रतिपादित है, वह सत्य है अथवा कोरी कल्पना।

अब तक साधन के नियमों का विवरण—अर्थात् उपासना हेतु कर्मकाण्ड का विवेचन किया गया है। आगे उपासना का रहस्य और उसके द्वारा सिद्धिप्राप्ति का प्रयोग बताया जाता है। यद्यपि भारत में उपासना का मूल तत्त्व सर्वत्र समान ही था और अनुष्ठानों का तात्पर्य भी यही था, किन्तु दुःख का विषय है कि वह सब वास्तविक न होकर अब केवल आडम्बर मात्र रह गया है। उपासना का भारतीय मार्ग आगे बताया जायगा।

जब मैं "वीर उपासना" में अपना समय लगा रहा था, तब मुझे मालूम हुआ कि मैं उन लोगों की नकल कर रहा हूँ, जिनका मैं प्रशंसक था। यह भी मैंने अवगम किया कि जिन पर मेरी श्रद्धा थी, उनकी प्रतिमाओं के ध्यान से मुझे यह योग्यता प्राप्त हुई, जो मुझे सामर्थ्य देकर सफलता की ओर ले गई।

यद्यपि मैंने वह अवस्था पार कर ली है जिसमें सामान्यतः वीरता की क्रियायें होती हैं, तथापि इस "वीर उपासना" के स्वभाव से अपने को पूर्णतः विमुक्त नहीं कर पाया हूँ। मेरा अनुभव तो यह है कि मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी स्पर्धा करनी चाहिये, जिनसे मैंने शिक्षा प्राप्त की है तथा जिनका मैं उपासक हूँ।

इसी तत्त्व का उपदेश हमारे गुरुजन दिया करते हैं कि अपने इष्ट के नाम, रूप, लीला और धाम का स्मरण करो और अनुक्रम कर उप-समीप, आसन्न हो। तभी उपासना सिद्ध होती है। जिसे तुलसीदास जी संकेत रूप में कहते हैं, "हरि पद विमुख न कीन काहु सुख" अर्थात् हरि के ऐसे आचरण (पद = चरण अर्थात् आचरण) के विपरीत, किसी ने भी सुख प्राप्त नहीं किया।

अब उदाहरण रूप में उनके प्रयोग और अनुभव पर ध्यान दीजिये। मैंने कभी किसी लेख की एक पंक्ति भी नहीं लिखी, न कोई व्याख्यान देने का का ही प्रयास किया। इसके बहुत पहले मैंने अपने चरित्र को, उन नौ पुरुषों के चरित्र में रूपान्तरित करने का अभ्यास किया, जिन पर मेरी श्रद्धा थी। ये नौ सज्जन थे इमर्सन, पेन, एडीसन, डारविन, लिंकन, बरबैंक, नेपोलियन

फोर्ड और कारनेगी । प्रति रात्रि निरन्तर कई वर्षों तक, मैं एक काल्पनिक सभा सम्मेलन इस समुदाय से मिलने के लिये किया करता था, जिसको मैं "अपना अदृश्य सलाहकार" मानता था।

कार्य प्रणाली इस भाँति थी—रात्रि में शयन से थोड़ी देर पहले मैं अपनी आखें बन्द कर लेता था और अपने (कल्पना) ध्यान में इन लोगों के समुदाय को अपनी मन्त्रणा मेज़ के चारों ओर अपने साथ बैठे हुये देखता था। मैं ही काल्पनिक सभापति था और संयोजक भी। इन रात्रि सम्मेलनों में मेरा एक निर्दिष्ट उद्देश्य अपनी कल्पना में लीन होने का था और मेरा लक्ष्य अपने चरित्र का पुनः निर्माण करने का था। वह यह कि मैं अपने काल्पनिक मंत्रियों का जीवित रूप ग्रहण करूँ। ऐसा करने पर मेरी आँखें खुल गयीं। मुझे मालूम हुआ कि जीवन के प्रारम्भ में अज्ञान और अन्ध-विश्वास के वातावरण में रहकर, मैंने जानबूझ कर बड़ी-बड़ी भूलें की। उनका परिष्कार करने के लिये मैंने स्वतः अपने पुनर्जन्म का कार्य किया। वही प्रणाली यहाँ वर्णित है।

आत्म-प्रस्तावना द्वारा चरित्र निर्माण

मनोविज्ञान का एक अनन्य छात्र होने के नाते निसन्देह मैं जानता था कि अपनी **प्रकृष्ट इच्छाओं और विचारों के कारण** सभी मनुष्य जैसे वे हैं, बन गये। मैं जानता था कि गहरे पैठी हुई इच्छा प्रत्येक व्यक्ति के वर्तमान रूप का कारण है, अर्थात् वह इच्छा रूपान्तरित होकर वास्तविकता में आ गई है। मैं जानता था कि आत्म-प्रस्तावना चरित्र निर्माण में एक बलशाली उपकरण है, और वही केवल वह तत्त्व है जिसके द्वारा चरित्र निर्माण होता है।

मन की प्रवृत्ति तथा कर्म सिद्धान्त के ज्ञान के सहित मैं भली भाँति उन साधनों से सुसज्जित था, जो मेरे चरित्र के पुनर्निर्माण के लिये आवश्यक थे। इन काल्पनिक सभाओं में मैंने अपने अन्तरंग के सभासदों को ज्ञान के लिये बुलाया था, मैंने चाहा था कि प्रत्येक अपना योग दे। प्रत्येक सभासद को कर्णगोचर शब्दों में आमंत्रित करते हुये मैंने कहा :—

महाशय इमर्सन ! मैं आपसे प्रकृति का अद्भुत ज्ञान उपार्जन करने की इच्छा करता हूँ मेरा अभीष्ट वह ज्ञान है जिसने आपको प्रसिद्धि दी है। मैं आपसे याचना करता हूँ कि आप मेरे अवचेतन मन पर अपने उन गुणों का संस्कार डालें, जिन्होंने प्रकृति के नियमों के अनुकूल चलने की और सम-

झने की योग्यता आपको दी। मैं याचना करता हूँ कि आप ज्ञान के साधनों तक पहुँचने और उनसे लाभ उठाने में मेरी सहायता करें।

महाशय बरबंक! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे वह ज्ञान दीजिये, जिसने प्रकृति के नियमों में ऐसा ऐक्य स्थापित करने की योग्यता आपको दी। आपने नागफनी के पेड़ों से काँटे निकलवा कर खाद्यान्न बना दिया। उस ज्ञान में मेरा प्रवेश कराइये, जहाँ पहले घास में एक पत्ती उत्पन्न होती थी, वहाँ आपने दो पत्तियाँ उत्पन्न करा दीं। मुझे वह ज्ञान दीजिये, जिसने आपको फूलों का रंग उत्तम और सुहावनें रंगों में बदलने की क्षमता दी। आप ही अकेले ऐसे हैं, जिन्होंने कुमुदनी को श्वेत से सुनहला बना दिया।

नेपोलियन! मुझे स्पर्धा द्वारा आप से दृढ़ता उपार्जन करने की इच्छा है। मुझे वह अद्भुत योग्यता दीजिये, जिससे आप आवेश दिलाकर मनुष्यों को महानता के साथ अधिक दृढ़ कर्म करने को प्रोत्साहित करते हैं। उत्साह-युक्त श्रद्धा की भावना को भी आपसे उपार्जन करना चाहता हूँ, जिसने आप के पराजयों को विजयों में परिवर्तन करने के लिये योग्य बना दिया। आपने महान् बाधाओं का अतिक्रमण कर दिया। हे भाग्य के सम्राट्! अवसर के राजा! भावी के पुरुष! मैं आपको अभिवादन करता हूँ।

महाशय पेन! मैं आपसे विचार स्वतन्त्रता, साहस तथा विमलता की याचना करता हूँ, जिससे स्वयम् मैं भी दृढ़ मति हो सकूँ। जिस दृढ़ता ने आपको प्रसिद्धि प्रदान की है, वही उपार्जित करना चाहता हूँ।

महाशय डारविन! आपसे उस अद्भुत धैर्य और कारण तथा कार्य के अध्ययन की योग्यता प्राप्त करने की मेरी इच्छा है, जिसके द्वारा आपने विज्ञान क्षेत्र को बिना किसी अभिलाषा या दुराग्रह के इतना विस्तृत बना दिया है।

महाशय लिन्कन! न्याय की तीक्ष्ण बुद्धि, धैर्य की भावना, चित्त-वृत्ति की समता, मानव ज्ञान और सहनशीलता, जो आपके विशिष्ट चरित्र मे थे, मेरे चरित्र में आ जायें, जिससे मेरा चरित्र निर्माण हो।

महाशय कारनेगी! अपना जीवन कार्य चुनने के लिये मैं आपका पहले ही से अनुगृहीत हूँ। आपके चरित्र ने मुझे महान् सुख और मन को शान्ति दी। मैं आपसे व्यवस्थित चेष्टा के सिद्धान्तों का आद्यन्त ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जिसका प्रयोग आपने उद्योग-धन्धों में सफलता पूर्वक किया।

महाशय फोर्ड! आप उन सहायक लोगों मे हैं, जिन्होने मेरे कार्य के

लिये आवश्यक साधन प्रदान किये हैं। आपसे आपकी अनवरत चेष्टा (दृढ़ाग्रह) की भावना, निर्दिष्टता, समता और आत्मनिष्ठा प्राप्त करना चाहता हूँ। आपके उन गुणों को ग्रहण करना चाहता हूँ, जिन्होंने आपको ऐसा व्यवस्थित धनाढ्य बनाया। आपका गुण ग्रहण कर मैं दूसरों को भी आपका अनुयायी बनाना चाहता हूँ।

महाशय एडीसन! मैंने आपको अपने दक्षिण पार्श्व में निकटतम आसन दिया है, क्योंकि सफलता और विफलता के कारणों को समझाने में आपने अपना निजो सहयोग मुझे दिया है। मैं आपसे आश्चर्यमय श्रद्धा की भावना प्राप्त करना चाहता हूँ, जिसके द्वारा आपने प्रकृति के अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। वह अशिथिल (दृढ़) भावना भी मैं आपसे माँगता हूँ, जिससे आपने बहुधा पराजय से विजय को बलात् छीन लिया।

काल्पनिक अन्तरंग सभा में, सभासदों को सम्बोधन करने की मेरी प्रणाली अपने समयानुकूल और भावानुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करती एवम् परिवर्तित होती रहती थी। मैंने इन लोगों के चरित्र का भली-भाँति अध्ययन किया था। कुछ महीनों में, इन रात्रि कार्यक्रमों के पश्चात्, मैं यह देखकर चकित हो गया कि ये काल्पनिक मूर्तियाँ, वास्तविक रूप के समान मेरी आँखों के सामने आने लगीं।

इन नौ मनुष्यों में से प्रत्येक ने अपना वैयक्तिक स्वभाव विकसित किया था। उनके अनुभव ने मुझे चकित कर दिया। उदाहरण के लिये लिन्कन ने सदा देर से आने का और गम्भीर चाल से चलने का स्वभाव ग्रहण कर लिया था। जब वह आते, तो धीमी चाल में चलते हुए और अपने हाथों को पीछे बाँधे हुए रहते थे, थोड़ी दूर चलने पर रुककर सोचते, फिर पाँव बढ़ाते हुए रुक जाते और क्षण भर के लिये अपना हाथ मेरे कन्धे पर रख देते। वह सदा गम्भीर रहते, कदाचित् ही मैंने उन्हें मुस्कराते पाया। विभक्त राष्ट्र की चिन्ता ने उन्हें गम्भीर बना दिया था।

दूसरों के विषय में यह बात न थी। बरबंक और पेन बहुधा हास-परिहास तथा व्यंग्योक्ति में रत रहते थे, जो कभी कभी दूसरों को संक्षोभ पहुँचाता सा मालूम देता था। एक रात पेन ने प्रस्ताव किया कि "तुम एक व्याख्यान "बुद्धि का युग" पर तैयार करो और उसे गिरजे के आसन से, जहाँ तुम प्रार्थना करते हो, सब को सुनाओ।" उनमें से बहुत इस प्रस्ताव पर ठहाका मार कर हँसे, किन्तु नेपोलियन न हँसा। उसने अपना मुँह बनाकर आर्तनाद किया। लोग उसकी ओर घूम कर अचम्भे से देखने लगे। उसके लिये

गिरजाघर राष्ट्र का एक प्रपंच गृह था, जो सुधारने के लिये नहीं, अपितु लोगों की क्रियाशीलता को उत्तेजित करने का साधन मात्र था।

एक अवसर पर बरबंक देर से आये। वह उत्साह से फूले हुये थे। उन्होंने देर में आने का कारण बताया कि वह एक प्रयोग कर रहा था, जिसके द्वारा सेब किसी भी पेड़ पर उपजाया जा सकता है। पेन ने बाइबिल के सेब की याद दिलाकर बरबंक को झिड़की बताई कि तुम सेब पैदा कर स्त्री और पुरुष के बीच झगड़े का साधन बना रहे हो। डारबिन ने हर्ष से ऊँचे स्वर में कहा कि पेन को बाइबिल के छोटे साँप से सदा सचेत रहना चाहिये। जब वह जंगल में सेब तोड़ने जायेगा, सेब साँप बन जायगा। इमर्सन ने निरूपण किया—"साँप सेब दोनों में एक भी नहीं।" नेपोलियन ने कहा, "सेब नहीं तो राज्य नहीं।"

लिन्कन ने सदा देर से आने का स्वभाव बना लिया था। वह प्रत्येक सभा में सबसे पीछे आते थे। एक अवसर पर अपनी भुजायें पीछे कर, मेज़ का सहारा लेकर कई मिनट खड़े रहे। मैंने कोई विघ्न डालने का साहस नहीं किया। अन्त में उन्होंने धीरे-धीरे अपना सिर उठाया और द्वार की ओर चले, फिर घूमे और लौटकर, अपना हाथ मेरे कंधे पर रखकर बोले, "मेरे बच्चे, यदि तुम जीवन में अपने ध्येय को सिद्ध करने में दृढ़ रहना चाहते हो, तो तुम्हें साहस की अत्यन्त आवश्यकता होगी, परन्तु ध्यान रखो, जब कष्ट तुम्हें सताये, तुम पर आपत्ति आये, तो समझो तुम्हारा मार्ग निष्कटक हो रहा है।"

एक रात्रि एसीडन सबसे पहले आये। वह मेरे बाँये आकर उस चौकी पर बैठ गये, जहाँ इमर्सन सदा बैठते थे और कहा, "तुम्हारे भाग्य में जीवन के रहस्य का ज्ञान देखना बदा है, जब समय आयेगा, तुम देखोगे कि जीवन शक्ति के महान् समूहों तथा सत्ताओं से रचित है। प्रत्येक शक्ति तथा सत्ता उतनी ही बोधमय है, जितना मनुष्य अपने को समझता है। यह जीवन की इकाइयाँ एकत्र होकर मधुमक्खी के छत्ते के समान तब तक इकट्ठी बनी रहती हैं, जब तक कोई भेद-भाव उन्हें छिन्न भिन्न न कर दे। इन इकाइयों में मतभेद भी होता है और लड़ाई झगड़ा भी, ठीक उसी तरह जिस तरह मनुष्यों मे होता है। यह सभायें, जो तुम चला रहे हो, तुमको बहुत सहायक होंगी। वे तुम्हारी रक्षा के लिये कुछ ऐसी जीवन की इकाइयाँ लायेंगी, जिन्होंने तुम्हारे अन्तरंग के सभासदों की सेवा उनके जीवनकाल में की थी। ये **इकाइयाँ सनातन हैं—कभी मरती नहीं**। तुम्हारे स्वयं के विचार और इच्छायें चुम्बक

का काम करेंगी और जीवन के सागर से इकाइयों को आकर्षित करेंगी। ये इकाइयाँ केवल मित्रता की होंगी, जो तुम्हारी इच्छा की प्रकृति के अनुरूप तथा अनुकूल होंगी।"

अन्तरंग के दूसरे सभासदों ने आना प्रारम्भ कर दिया। एडीसन उठ खड़े हुये और धीरे-धीरे चल कर अपने आसन पर बैठ गये। एडीसन उस काल तक जीवित थे, जब यह घटना घटी थी। इसने मुझको इतना प्रभावित किया कि मैं उनसे मिलने गया। मैंने उनसे अपने अनुभव के विषय में बताया। वह बहुत मुस्कराये और बोले, "तुम अपने स्वप्न को कल्पना समझ रहे हो, पर यह कल्पना नहीं, सत्य है।" उन्होंने इन शब्दों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा।

ये काल्पनिक सभायें ऐसी स्वाभाविक बन गईं कि मैं उनके परिणामों से भयभीत हो गया, इसलिये कई महीनों तक उन्हें बन्द रखा। अनुभव इतने स्पष्ट थे कि मैं डर गया। यदि मैं सभायें चलने दूँ, तो मैं इस सत्य को खो बैठूँगा कि ये सभायें मेरी कल्पना की अनुभूति थीं।

सभायें बन्द करने के छः महीने पश्चात् मुझे एक रात जगाया गया। मैंने लिन्कन को अपने पलंग के पास खड़े देखा, उन्होंने कहा, "संसार को बहुत शीघ्र तुम्हारी सेवाओं की आवश्यकता होगी। यह लगभग अस्त का समय होगा, जब स्त्री पुरुष अपनी श्रद्धा या ईमान खो देंगे और भय—त्रास का तांडव होगा। अपने कार्य में आगे बढ़ो और अपने दर्शन शास्त्र को पूरा करो। यही तुम्हारे जीवन का ध्येय है। यदि किसी कारण इसकी उपेक्षा करोगे तो फिर उसी चक्र पर चलने के लिये बाध्य हो जाओगे, जिसमें तुमने हज़ारों वर्ष बिताये हैं।

प्रातः उठने पर मैं ठीक-ठीक न बता सका कि मैं स्वप्न देख रहा था या जाग रहा था। तब से मैं यह नहीं पहचान पाया कि इन दोनों में मेरी कौन-सी अवस्था थी। यदि वह स्वप्नावस्था थी तो इतनी सुस्पष्ट थी दूसरे दिन तक मेरे मन में ज्यों की त्यों रही। मैंने दूसरी रात फिर वही काल्पनिक सभा बुलाई।

दूसरी सभा में सभी सभासद कमरे में भर गये और अपने-अपने आसन पर मेज के पास खड़े हो गये। इसी बीच लिन्कन ने ग्लास उठाकर कहा, "सज्जनों, हमको एक मित्र के स्वास्थ्य का पान करना चाहिये, जो अब हमारे सम्प्रदाय में आ गया!"

इसके उपरान्त मैंने पचास सभासद अपनी काल्पनिक मंडली में कर लिये। उनमें ईशु, सेंट पाल, गेलेलियो, कोपरनिकस, अरस्तू, प्लाटो, सुक

रात, होमर, वालटेयर, ब्रूनो, स्पिनोज़ा, ड्रुमंड, कान्ट, शोपनहेयर, निउटन, कन्फ्यूशियस, एल्बर्ट ड्रब्बार्ड, ब्रान्न, इंगरसोल विलसन, विलियम जेम्स, बुद्ध तथा मुहम्मद आदि थे।

मैं जानता था कि यदि मैं अपने अनुभव से लिखूँ, तो लोग मेरा उपहास करेंगे, किन्तु अब मुझ में साहस हो आया है, इसलिये अपना अनुभव प्रकाशित करने को प्रोत्साहित हुआ हूँ। उठती हुई अवस्था में मैं लोक लाज से डरता था, मुझे आलोचकों से भय था, किन्तु अब मैं परिपक्व अवस्था में पहुँच चुका हूँ। इस अवस्था का यह विशेष वरदान है कि लोकोक्तियों का भय नहीं रह जाता। अबोध लोगों का सोचना तथा कहना कोई मूल्य नहीं रखता, इसीसे मैंने उपेक्षा कर दी।

बातुल भूत विवश मतवारे। ते नहिं बोलहिं वचन विचारे।
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिनकर कहा करिय नहिं काना।

मैं यहाँ दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ, कि मैं अब भी अपनी अंतरंग सभाओं को विशुद्ध कल्पना के रूप में मानता हूँ। साथ ही, मुझे यह कहने का अधिकार है कि चाहे अन्तरंग सभा के सभासद कल्पित हों और सभाओं का अस्तित्व मेरी कल्पना ही में हो, तथ्य यह है कि उन्होंने मुझ में साहस भर दिया और सच्ची महानता के गुण ग्रहण करने में पुनः मुझे उत्साहित कर दिया और सत्य विचार व्यक्त करने का साहस दिया।

मस्तिष्क की रंध्र रचना के किसी स्थान में एक ऐसी इन्द्रिय है, जो विचार के स्फुरणों को ग्रहण करती है, जो सामान्यतः "आभास" कहे जाते हैं या ब्रह्मविद्या में "नाद"। अभी तक विज्ञान ने खोज नहीं निकाला कि इस छठी इन्द्रिय का स्थान कहाँ है। इसकी कोई ऐसी आवश्यकता भी नहीं है। यह तो निर्विवाद है ही कि मानव उन स्रोतों से जो ज्ञानेन्द्रिय से परे हैं, निर्देश ग्रहण करता है। ऐसे निर्देश (बोध) साधारणतः तब मिलते हैं, जब मन असाधारण उत्तेजना के प्रभाव में होता है। कोई आकस्मिक घटना जो भावनाओं को उत्तेजित करती है, सामान्य स्थिति की अपेक्षा हृदय की गति में तीव्रता लाकर छठी इन्द्रिय को कर्म के लिये प्रेरित करती है। कोई भी व्यक्ति जो गाड़ी चलाता है, जिसने आकस्मिक घटना होने के निकटवर्ती क्षण का अनुभव किया है, जानता है कि किस प्रकार छठी इन्द्रिय स्फूर्ति देकर दुर्घटना से बचाने में सहायक होती है।

मेरा मन सूझों, कल्पनाओं और विचारों को, तथा उस ज्ञान को जो मुझे छठी इन्द्रिय द्वारा प्राप्त होता है अधिग्रहण करता था। मुझे जो

विचार, कल्पना, ज्ञान अपने 'अदृश्य मन्त्रियों' से मिला, उसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। अनेक अवसरों पर मुझे संकटों का सामना करना पड़ा, उनमें से कुछ ऐसे थे जो मेरे प्राणों को ही लेने वाले थे। ऐसे समय अपने अदृश्य मन्त्रियों की दिव्य शक्ति के निर्देश से ही मैंने उस संकट काल को पार किया।

काल्पनिक जीवों के साथ, इन मंत्रणा सभाओं को करने का मात्र उद्देश्य यह था कि मैं आत्म-प्रस्तावना सिद्धान्त द्वारा अपने अवचेतन मन को संस्कृत करूँ, जिससे मेरे चरित्र में यह विशेषता आये जिसे प्राप्त करने की मेरी प्रबल इच्छा थी।

इधर नये वर्षों में मेरे परीक्षणों ने पूर्णतः विभिन्न वृत्ति धारण कर ली। अब मैं अपने काल्पनिक मंत्रियों के पास प्रत्येक कठिन समस्या को जो मेरे सामने अथवा मेरे आश्रितों (Clients) के सामने आती हैं, लेकर जाता हूँ। उनका परिणाम बहुधा आश्चर्यजनक होता है।

आप लोग अवश्य स्वीकार करते होंगे कि यह अध्ययन ऐसे विषय को प्रकाश में ला रहा है, जिससे अधिकांश लोग परिचित नहीं हैं। छठी इन्द्रिय एक विषय है जो उन लोगों को महान् रुचिकर और लाभकारी होगा जिनका ध्येय महान् संभूति संचय करने का है। यह उन लोगों को रुचिकर न होगा, जिनकी इच्छायें सीमित और संकीर्ण हैं।

हेनरी फोर्ड निःसन्देह छठी इन्द्रिय को समझता था और उसका व्यावहारिक उपयोग करता था। उसके विशाल व्यवसाय और आर्थिक व्यवहारों ने इस सिद्धान्त को समझना और उपयोग में लाना, उसके लिये आवश्यक बना दिया। टामस एडीसन इसे समझते थे। विशेष रूप से उन आविष्कारों में जो मौलिक होते थे, जिनके सम्बन्ध में उनके पास न कोई मानवी अनुभव था और न कोई पथ-प्रदर्शक। जब वह चलचित्रों और टाकी यंत्रों पर पर काम कर रहे थे, तब उन्हें इसकी आवश्यकता पड़ी थी।

लगभग सभी महापुरुष और नेता, बुद्ध, ईशू, कनफ्यूशियस, नेपोलियन, बिस्मार्क जोन आफ आर्क, मुहम्मद आदि छठी इन्द्रिय को समझते थे और संभवतः निरन्तर उसका उपयोग किया करते थे। उनकी महानता का मुख्य आधार इस सिद्धान्त का ज्ञान ही था।

छठी इन्द्रिय कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो जब इच्छा हुई निकाल ली और जब इच्छा न हुई धर दी। इसका उपयोग करने की योग्यता धीरे-धीरे उन दूसरे सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा आती है, जो इस पुस्तक में लिखे गये हैं।

कदाचित् ही कोई व्यक्ति छठी इन्द्रिय के ज्ञान को चालीस वर्ष की अवस्था के पहले व्यवहार में लाने योग्य होता है। बहुधा यह ज्ञान तब तक उपलब्ध नहीं होता, जब तक चालीस वर्ष पार न हो जावें। इसका कारण यह है कि छठी इन्द्रिय का सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्तियों से है, जो परिपक्व अवस्था में ही जाग्रत होती हैं।

इसका विचार आवश्यक नहीं कि आप क्या हैं, या इस पुस्तक के पढ़ने का अभिप्राय क्या है। बिना सिद्धान्त समझे हुये भी आप इससे लाभ उठा सकते हैं। यदि आपका मुख्य उद्देश्य विभूति संचय करने अथवा दूसरे भौतिक पदार्थों को संग्रह करने का हो तो आपको इससे अवश्य लाभ होगा।

छठी इन्द्रिय का अध्याय इस पुस्तक में इसलिये समाविष्ट कर दिया गया है, ताकि इस ग्रन्थ का उद्देश्य पूर्ण रूप से स्थापित हो। इसके अध्ययन से व्यक्ति निःसन्देह अपने को अनुशासित रख सकता है तथा जीवन से जो कुछ याचना करता है, प्राप्त कर सकता है। **उपलब्धि का प्रारम्भिक विन्दु इच्छा है**। उपसंहार विन्दु ज्ञान की वह धारा है, जो बोध या विवेक की ओर ले जाती है। बोध कई हैं जैसे **आत्मबोध, अन्यजन बोध, प्रकृति के नियमों का बोध, आनन्द या सुख का बोध और विभूति संचय** अर्थात् प्रत्यगात्मा।

इस प्रकार का बोध पूर्णता प्राप्त होने पर केवल अनुभव द्वारा ही होता है अथवा छठी इन्द्रिय के सिद्धान्त के उपयोग द्वारा ही आता है। इसलिये वह सिद्धान्त इस शास्त्र के एक अध्याय के रूप में इसमें समाविष्ट करना पड़ा। यह उन लोगो के लाभ के लिये है, जिनकी अभिलाषा धन के साथ-साथ और अधिक महत्त्व की विभूति पाने की है।

इस अध्याय के पढ़ लेने पर, आप यह निरूपण करेंगे कि जब पढ़ रहे थे तब आप एक मानसिक उत्साहन के ऊँचे स्तर पर उठा दिये गये थे। फिर इस स्थान पर एक महीने के पश्चात् आइये तथा इसको एक बार फिर पढ़िये और अवलोकन कीजिये कि आप का मन और भी उत्साह के ऊँचे स्तर पर उड़ेगा। इसका ध्यान न करते हुये कि आपने कितना कम पढ़ा था या कितना अधिक, समय-समय पर वृतान्त लिखिये अन्त में आप अपने अधिकार में इतनी अधिक शक्ति पायेंगे जिससे आप पूर्ण निरुत्साह तथा भयों को निकाल डालने के योग्य हो जाएँगे तथा दीर्घ-सूत्रता पर विजय प्राप्त करेंगे और स्वतंत्रता से अपनी कल्पना को व्यक्त

करने योग्य होंगे। अब आप उस **अज्ञातशक्ति** के संसर्ग का भान करेंगे जिसकी प्रेरित भावना सच्चे महान् मुनि या मनीषी, नेता, कलाकार, संगीतज्ञ, लेखक तथा राजनीतिज्ञ में संचरित हो रही है। इसी शक्ति से आप अपनी **इच्छा** को भौतिक या स्थूल अथवा आर्थिक प्रतिरूप में रूपान्तरित करने के स्थान पर बड़ी ही सरलता से पहुँच जायेंगे।

बारहवें अध्याय (पृष्ठ १८६०) में भारतीय उपासना पद्धति के विषय में देवता के आवाहन तक ही लिखा गया था। अब उसके उपरान्त का क्रम इस प्रकार है—

देवता का आवाहन करने के पश्चात् उसका षोड़षोपचार पूजन किया जाता है। तब प्रदक्षिणा और प्रार्थना की जाती है। प्रार्थना का (विषय) विवरण उसी अध्याय में है। प्रार्थना के पश्चात् ध्यान किया जाता है, जो इस अध्याय का विषय है। ध्यान करने के लिये स्तोत्रादि की सहायता से उसके गुण-गान द्वारा उसे प्रसन्न किया जाता है। तब वह प्रसन्न होकर वरदान देता है।

उपर्युक्त सभा के वर्णन से आपको स्पष्ट हो जायगा कि **सिद्धि** या विभूति प्राप्त करने के लिये किस प्रकार प्रवृत्तियों की आवश्यकता है।

इस पुस्तक में मनीषी मनोबल और छठी इन्द्रिय के अध्याय ने मेरे मन को बहुत आकर्षित किया। हमारे यहाँ की बौद्धिक कर्मकाण्ड उपासना की जो पद्धति है, उसमें यही भाव झलकता है। कोई आश्चर्य नहीं कि तत्त्व भी वही हो।

निराकार उपासना ज्ञानियों को ही सरल पड़ती है, जैसा इस पुस्तक में बताया गया है। पूर्व सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के उपरान्त (ज्ञान प्राप्त होने पर) छठी इन्द्रिय के अध्याय का महत्व प्रभाव ला सकता है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि पहले कर्म में प्रवृत्त होकर ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय अर्थात् बारह सिद्धान्त आत्मसात् कर लिये जायँ, तब कहीं उपासना का ज्ञान प्राप्त होता है। जब ज्ञान प्राप्त हुआ, तो साकार के स्थान पर निराकार उपासना कर्मक्षेत्र में प्रयोग करने के लिये आवश्यक हुई, अर्थात् "अदृश्य मंत्रिगण" (मनीषी मनोबल) की सहायता ली गयी।

अदृश्य सभा का जो विवरण दिया गया है, वह भारतीय वैदिक कर्मकाण्ड से समानता रखता है। भारत में यज्ञादि होते हैं तो सर्वतोभद्र या लिंगतो भद्र की चौकियाँ या वेदियाँ बनाई जाती हैं। उनका मानचित्र देखने से

मुझे आभास हुआ कि सभा में सब देवता आमंत्रित किये गये हैं, जिसक जैसा वर्ण जैसी ध्वजा होती है, उसी का प्रतीक रंग चौखानों में भरा जात है। प्रधान देवता का स्थान बीच में होता है।

जैसी काल्पनिक इस पुस्तक की अंतरंग सभा है, वैसे ही काल्पनिक स्थान तथा भावनायें हैं। उनके आवाहन के लिये एकाग्रता आवश्यक है अब यजमान अपनी श्रद्धानुसार अपना मनोयोग उस उपासना में देता है प्राचीन काल के लोग बड़े श्रद्धालु थे। इसी कारण अव्यक्त शक्तियों व आभास (Hunches) "या ब्रह्मनाद", कल्पना तथा सूझ के रूप में मन ' काम कर जाती थी और उस कल्पना या सूझ के अनुसार यजमान अप: मनोकामना सिद्ध कर पाता था।

निःसन्देह सकाम यज्ञों में बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मर्षि, महर्षि, ऋषि, मु आदि अवश्य पधारते थे और यजमान के कार्य में अपनी- अपनी क्षमत नुसार जिस-जिस शास्त्र में वे सिद्ध थे, योग प्रदान कर यजमान के संकल्प व 'पूर्ति कराते या सिद्धि करा देते थे।

आजकल के व्यवहार में भी, चाहे जिस रूप का हो, बड़ों की जिस मंत्रणा ली, वह अवश्य सफल होता है। बड़ों से अभिप्राय भिन्न-भिन्न विभा के अनुभवी तथा विशिष्ट ज्ञान पाये हुये लोगों से है, जो या तो अपने उद्य में सफल हैं अथवा उस व्यवसाय के सिद्धहस्त आचार्य हैं।

यह छठी इन्द्रिय का अध्याय एक प्रकार से ध्यान-योग का अध्याय है यह ध्यान-योग बहुधा उन्हीं लोगों के द्वारा प्रयोग में लाया जाता है र अपनी बयस, अनुभव और कार्य में प्रौढ़ अर्थात् ज्ञान-युक्त हो गये हैं। लेख का यह कहना कि छठी इन्द्रिय का प्रभाव चालीस वर्ष उपरान्त व्यक्त हो है, अत्युक्ति नहीं है।

दूसरा भाव यह है कि जैसे बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् में भि भिन्न तत्त्वों का जिस भाव से उपासना करने का आदेश है, उसी भाव इस पुस्तक के बारह सोपानों की उपासना जब सिद्ध हो जाती है तब ध्य योग सुगम हो जाता है और तभी यह वाक्य, "श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञान ध्यानं विशिष्यते" भी सार्थक हो जाता है।

अध्याय पन्द्रहवाँ

अष्टपाश–भयों के भूत–विभूति योग के बाधक

जब आप इस अन्तिम अध्याय को पढ़ रहे हों, तब स्वयं अपनी परिगणना कीजिये और खोज निकालिये कि कितने भूत आपके मार्ग में बाधक हैं।

इस शास्त्र के किसी भाग को सफल उपयोग में लाने के पहले आपका मन उसको ग्रहण करने के लिये उद्यत होना चाहिये। इसके लिये तत्पर होना कठिन नहीं है। यह तीन शत्रुओं के अध्ययन, विश्लेषण और बोध द्वारा प्रारम्भ होता है, जिन्हें आपको बाहर निकाल देना ही चाहिये। ये शत्रु हैं अनिश्चितता, शंका और भय।

छठी इन्द्रिय उस समय तक अपना कर्म नहीं कर सकती, जब तक ये तीन नकारात्मक या इनमें से कोई एक भी आपके मन में रहता है। इस अशुचि त्रिपुटी के सभासदों में घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ एक पाया जाता है, वहीं और दोनों भी निकट ही होते हैं।

इस शास्त्र को व्यावहारिक प्रयोग में लाने के सिद्धान्तों का विवेचन अन्त में किया गया है। इस अध्याय में बताये गये नियमों एवम् सिद्धान्तों को अवश्य ही अधिगम करना चाहिये। यह ऐसी अवस्था का विश्लेषण भी करता है, जिसमें अनेक लोगों को निर्धनता में पटक दिया गया है। यह एक सत्य बतलाता है, जिसे उन सभी लोगों को समझना ही चाहिये, जो किसी विभूति संचय के लिये उत्सुक हैं, चाहे वह धन की हो या उससे अधिक मूल्यवान मन की अवस्था हो।

इस अध्याय का उद्देश्य आपका ध्यान उन छः मौलिक भयों की ओर लाकर उनके कारणों का उपशम या निरोध कराना है। हम शत्रु को वश में करें, इससे पहले हमको उसका नाम, उसकी प्रवृत्ति और उसके रहने के स्थान् जानना ही चाहिये। जैसे-जैसे आप पढ़ें, अपना विश्लेषण सावधानी से कीजिये और निर्णय कीजिये कि इन छः सामान्य भयों में किनसे आप ग्रस्त हैं।

जैसा मोह अर्जुन को हुआ था, वह प्रायः कर्मयोगियों के सामने किसी न किसी रूप से हृदय विदारक संघर्ष प्रस्तुत कर ही देता है। इनके विश्लेषण और वृत्तियों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि किसी भी कर्म के (चाहे पारमार्थिक हो या लौकिक) प्रारम्भ करने पर तीन शत्रु मुख्य रूप में सामने आते हैं। इनका नाश आपको अवश्य करना पड़ेगा। वे शत्रु अनिश्चितता, शंका और भय हैं।

अनिश्चितता ही भय का बीज है। अनिश्चितता शंका के तत्त्वों को जन्म देती है और दोनों मिलकर भय के रूप में प्रगट हो जाते हैं। बहुधा इनकी मिलन प्रणाली धीमी चाल से चलती है। यही कारण है कि ये तीनों शत्रु इतने भयावह हैं। सहसा ये उत्पन्न होने और बढ़ने लगते हैं। इन अगोचर शत्रुओं के छल से सदा बचे रहना चाहिये। कभी-कभी यह अवचेतन मन मे ऐसे छिपे रहते हैं कि इनको खोज निकालना बहुत कठिन होता है।

भारतीय शास्त्रकारों ने भी विघ्नों के आठ रूप माने हैं। इन आठ विघ्नों को उन्होंने अष्टपाश का नाम दिया है :—

"दयाशंकाभयं, लज्जाजुगुप्साचेति पंचकम्। कुलं शीलं च वितं च अष्टपाशः प्रकीर्तितः।" दया, शंका, भय, लज्जा और निन्दा यह पाँच, तथा, कुल, शील और वित्त, सब मिलाकर आठ पाश कहलाते हैं।

दया, शंका, भय, लज्जा तथा कुल और शील के विनाश की आशंका ने अर्जुन के मार्ग में बाधा डाली थी। ऐसी ही दशा सब प्राणियों की होती है, जिसके कारण मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने में हिचकिचाता है। जो मनुष्य इन बाधाओं को पार कर जाते हैं, वे ही साहसी, सफल अथवा सिद्ध कहलाते हैं।

पाश्चात्य देशों ने विश्लेषण कर भय के छः भूत मुख्यतः माने हैं और कहा है कि छोटे-छोटे भय इन्हीं के अन्तर्गत हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. वित्त हानि का भय	४. प्रेम-हानि का भय
२. निन्दा या आलोचना का भय	५. जरा अवस्था का भय
३. अस्वास्थ्य का भय	६. मृत्यु का भय

इन भयों की प्रवृत्ति जगत् में एक अभिशाप है। ये कालचक्र की भाँति आते-जाते रहते हैं। पिछले छः वर्ष की मन्दी ने वित्त-हानि का भय, जगत् व्यापी युद्ध ने मृत्यु का भय, युद्ध के पश्चात् वातावरण ने महामारी

(इन्फ्लुएन्ज़ा) रोग का भय आदि दिखाकर समस्त जगत् को अधमरा बना दिया।

मन की विकृत अवस्था ही भय है। इसके अतिरिक्त भय कुछ नहीं है। अर्जुन के मन की विकृत अवस्था ही ने उसे रण में "किंकर्त्तव्यविमूढ़" बना दिया था। पुरुष के मन में यह वृत्ति या अवस्था नियन्त्रण तथा परिस्थिति के अधीन है। सब जानते हैं कि वैद्य और डाक्टरों को साधारण मनुष्य की अपेक्षा व्याधियाँ कम सताती हैं, क्योंकि ये लोग बीमारी की छूत से डरते नहीं हैं। ये लोग निधड़क विशूचिका, चेचक, प्लेग आदि में रोगी को देखते रहते हैं। यह उनमें भय के अभाव होने के कारण है। कहा भी है— "मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः।" इन लोगों का रोग से रहित रहना, यदि पूर्ण अंश में नहीं तो अधिकांश में, उनकी निर्भयता पर ही निर्भर है।

'जब तक मनुष्य अपने मन में विचारों के लिये स्थान नहीं बना लेता, तब तक कुछ भी रचना नहीं कर सकता,' इस कथन के पीछे एक और बड़ा कथन महत्व का है, "**मनुष्य की विचार प्रवृत्ति तुरन्त ही साकारता में अर्थात् भौतिक रूप में बदलने लगती है, चाहे वह स्वेच्छा से हो, अनिच्छा से या सहज रूप से।**" विचार या मनोचेष्टा अथवा मनोरथ सवेग, जो घटना या दैव वश आकाश से पकड़ लिये जाते हैं, (वे विचार जो दूसरों के मनोवेग द्वारा निकाले गये हैं) हो सकता है कि यह ठीक उसी रीति से होता हो जैसे अभिलाषा और संकल्प विचार संवेगों को निश्चित कर देते हैं। वे किसी के लिये आर्थिक, व्यापारिक. उद्यमी, सामाजिक अथवा पारमार्थिक भवितव्यता निश्चित कर सकते हैं।

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न का शिलान्यास हो रहा है। बहुधा जो लोग समझते नहीं हैं, कहा करते हैं कि—लोग क्यों इतने भाग्यवान उन लोगों की अपेक्षा होते हैं, जो उनके समान या उनसे अधिक योग्यता, अनुभव, शिक्षा और बौद्धिक क्षमता रखते हुये भी दुर्भागी होते हैं ? यह प्रश्न इस कथन के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रत्येक मानव में अपने मन पर संयम रखने की पूर्ण योग्यता है और इसके नियन्त्रण द्वारा प्रत्येक मनुष्य स्पष्ट रूप से अपना मनोकपाट उन संकल्प संवेगों के लिये खोल सकता है, जो आकाश में दूसरे मस्तिष्कों द्वारा मुक्त किये हुये विचर रहे हैं या द्वार को पूर्णरूप से बन्द कर सकता है अथवा अपनी रुचि के अनुकूल विचारों या संकल्पों ही के लिये द्वार खोल सकता है।

प्रकृति ने केवल एक विचार (कल्पना) के अतिरिक्त मनुष्य को सभी विषयों पर शासन करने का अधिकार दे दिया है। यह सत्य इस यथार्थ के साथ जोड़ देने पर कि प्रत्येक वस्तु जिसको मनुष्य बनाता है, कल्पना या विचार के रूप से ही प्रारम्भ होती है। यह क्रोध उस सिद्धान्त के निकट पहुँचा देता है जिसके द्वारा भय पर शासन हो सकता है। यह सत्य है कि सभी कल्पना का स्वभाव है कि वह भौतिक सन्तुलन में अपने को व्यक्त करे। यह निःशंक सत्य ही है। समान रूप में यह भी सत्य है कि भय और दारिद्रय के कल्पना संवेग अर्थात् विचार, साहस और आर्थिक लाभ के भाव में परिवर्तित नहीं किये जा सकते।

जैसी जिसकी भावना होती है, उसका वैसा ही रूप व्यक्त हो जाता है। आपने स्थाणु में मनुष्य की कल्पना की नहीं कि उसके सभी आकार आपके सामने आने लगे। भय का भूत सामने खड़ा हो जाता है। लोगों के मन में बुरे समय की कल्पना या भावना होते ही बुरा समय भौतिक रूप में सामने आ जाता है।

वित्त हानि का भय
अर्थात् दरिद्रता का भय

दारिद्रय और संपत्ति में कभी भी मेल नहीं होता। ये दो मार्ग एक दूसरे से प्रतिकूल दिशा की ओर जाते हैं। यदि आपको संपत्ति की अभिलाषा है, तो आपको कोई भी मार्ग, वातावरण या स्थिति, जो दरिद्रता की ओर ले जाती हो, बिल्कुल त्याग देना चाहिये। [संपत्ति शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जो आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक संपदा बतलाता है]। आरंभ का विन्दु, जो संपत् प्राप्ति की ओर ले जाता है, इच्छा है।

इस स्थान पर आप अपने मन को टटोलिये कि वह इस दर्शन शास्त्र का कितना अंश निश्चित रूप में ग्रहण कर पाया है। यहीं पर वह केन्द्र है, जहाँ आप अपने भविष्य को देख सकते हैं और कह सकते हैं कि आपका भविष्य कैसा है? यदि इस लेख को पढ़ने के उपरान्त आप गरीब ही रहना अंगीकार करते हैं, तो आप अपना मन वैसा ही दारिद्रय भोगने के लिये बनावें। यही एक निश्चय या निर्णय है, जिसका परिहार आप नहीं कर सकते।

यदि आप संपत्ति चाहते हैं, तो निर्णय कीजिये कि किस रूप में और

कितनी मात्रा में आप अपनी क्षमता के अनुसार द्रव्य योजन कर सकते ं
अर्थात् विनती से आपको सन्तोष मिल सकता है, तभी ही आप इस संप
प्राप्ति के मार्ग को जानेंगे जो रेखाचित्र के रूप में दिया गया है। य
उसका अध्ययन तथा मनन किया गया तो वह आपको सीधे मार्ग पर
जायगा। यदि आप आरम्भ की उपेक्षा करेंगे या लक्ष्य पर पहुँचने के पः
ही थक जायेंगे, तो आपके अतिरिक्त और कोई इस असफलता के दोष
भागी नहीं होगा।

यह उत्तरदायित्व तो आप पर ही है। इस उत्तरदायित्व को स्वीन
करने के लिये कोई भी बहाना आप की सहायता नहीं कर सकता। यदि अ
इस जीवनधन के माँग की उपेक्षा करते हैं, तो कोई भी बहाना आप
अपने उत्तरदायित्त्व से बचा नहीं सकता, क्योंकि स्वीकार करना एक ही ब
चाहता है, वह है आपके मन की अवस्था, जिस पर आप शासन कर स
हैं। मन की अवस्था एक ऐसा विषय है, जिसे हर कोई ग्रहण कर सक
है। यह मोल नहीं ली जा सकती, यह तो बनानी ही पड़ेगी। क्योंकि :—

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वत: स्थितम्।

दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ।। म० भा० शांतिपर्व ८वां श्लोक

दरिद्री मनुष्य पास में खड़ा हो तो लोग इस तरह उसकी ओर देर
हैं मानो वह कोई पापी या कलंकित हो, अतः दरिद्रता इस जगत् में ए
पातक है।

दरिद्रता (गरीबी) का भय बुद्धि को पंगु बना देता है, कल्पना
क्षमता को नष्ट कर देता है, आत्म-विश्वास को मार डालता है, उत्स
और उमंगों को निष्क्रिय कर देता है, दीर्घसूत्रता अथवा काल-विक्षेप
को उत्साहित करता है और आत्म शासन को असम्भव कर देता है। ·
व्यक्तित्व की मनोरंजकता को लूट लेता है, उचित सोचने की संभावनता
नाश कर देता है, प्रयासों की एकाग्रता में विक्षेप लाता है, दृढ़ाग्रह
विचलित कर देता है और इसी के साथ-साथ इच्छा-शक्ति को शून्य ब
देता है, आकांक्षा को नष्ट कर डालता है, स्मृति पर आच्छादित होकर अ
फलता को आमंत्रित करता है। यह प्रेम की हत्या कर हृदय की भावना
को विदीर्ण करता है, यह मित्रता को निरुत्साहित कर सैकड़ों प्रकार की अपदा
का आवाहन करता है। निद्राभंग की व्याधि लाता है, दुःख और क्लेश
लाता है। ये सब होते हुये कि संसार में हमारे ईप्सित सब पदार्थ हैं, कि
सच्ची लगन, दृढ़ाग्रह, **निश्चित लक्ष्य** के न होने से वे हमें नहीं मिलते।

'सकल पदारथ हैं जगमाही, करमहीन नर पावत नाही''

गरीबी का भय. निःसन्देह छः मौलिक भयों में यह सब से बड़ा विनाशकारी है। इसीलिये इसे प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि इसे वश में करना अति कठिन है। भय की उत्पत्ति के विषय में सच बात कहने के लिये महान् साहस चाहिये, और जब यह सच्ची बात कही जाये, तो उसे स्वीकार करने के लिये और भी अधिक साहस चाहिये।

मनुष्य स्वभावतः दरिद्रता से डरता है, इसी से वह अपने साथियों का धन लूटकर दरिद्रता के भय से सदा के लिये मुक्त होना चाहता है। यही प्रवृत्ति मनुष्य से नीची श्रेणी के सब प्राणियों में पायी जाती है, किन्तु उनमें मस्तिष्क नहीं होता। वे सोच विचार नहीं कर सकते। इससे वह दूसरे को उदरस्थ कर जाते हैं। मनुष्य विचारशील है, तर्क कर सकता है, समझदार है, इससे वह दूसरे मनुष्यों का मास नहीं खाता, अपितु उनका धन हड़प लेता है, इसी में सन्तोष कर लेता है। इसी लूट और अर्थ लोलुपता से मनुष्य को बचाने के लिये कानूनों की सृष्टि हुई है।

हमें संसार के सब युगों का ज्ञान है। हमारा युग धन तृष्णा में सब से आगे बढ़ा हुआ है। जिसको देखो, वही धन के लिये पागल हो रहा है। एक मनुष्य तृण से भी तुच्छ माना जाता है, यदि वह प्रचुर मात्रा में अपने धन का प्रदर्शन नहीं कर सकता, या किसी बैंक में उसकी मोटी रकम जमा न हो। परन्तु यदि उसके पास धन है—वह चाहे उसने न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म किसी से इकट्ठा किया हो—तो वह एक 'राजा' या 'बड़ा आदमी' है, वह नियम विधान से मुक्त है। वह राजनीति में शासन करता है, व्यापार में नियन्त्रण करता है, और समस्त जगत् उसके सामने नमन कर उसको धर्ममूर्ति, धर्मावतार की पदवी प्रदान करता है।

निर्धनता के समान और कोई दुर्भाग्य नहीं, यह इतना दुःख और दीनता लाता है कि मनुष्य का तेज समाप्त हो जाता है। केवल वे लोग ही इस सकट को समझ सकते हैं, जिन्होंने निर्धनता के अभिशाप को भोगा हो। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मनुष्य निर्धनता से भय खाता है। बहुत बड़ी परम्परा द्वारा सहज ज्ञान के अनुभवों से मनुष्य ने निश्चय हो यह जाना और सीखा है कि जहाँ कहीं भी धन या भौतिक संपदा का अधिकार हो, वहाँ रुपये पैसे के व्यवहार में भरोसा नहीं करना चाहिये। हो सकता है, यह एक कटु सत्य हो, किन्तु सबसे बुरा अंश इसका यह है कि यह सत्य है। अनेकों विवाह धन हथियाने या पाने के लिये, एक पक्ष या दोनों पक्षों द्वारा, प्रेरित

होते हैं। तब क्या आश्चर्य यदि इसका परिणाम कौटुम्बिक दुःख और नये विधान द्वारा तलाक के रूप में होता है।

मनुष्य धन प्राप्त करने के लिये इतना अन्धा हो जाता है कि वह उसका उपार्जन किसी भी रीति से करेगा—यदि संभव हुआ तो धर्मानुकूल या वैधानिक प्रणाली द्वारा, और यदि आवश्यक हुआ तो किसी भी प्रणाली द्वारा—न्याय या अन्याय, धर्म या अधर्म।

लोगों को अंगीकार करना भले ही रुचिकर न लगे, पर सत्य यही है कि आत्मविश्लेषण दुर्बलताओं को प्रगट कर सकता है। जो सामान्यता या निर्धनता से अधिक जीवन में पाने की इच्छा रखते हैं, उनके लिये इस रूप का आत्मनिरीक्षण हितकारी है। ज्योंही आप अपनी त्रुटियों का निरीक्षण करने के लिये तत्पर हों, त्योंही यह ध्यान में रखें कि आप ही न्यायाधीश, वादी, प्रतिवादी और अभियुक्त के वकील हैं तथा आप ही पर अभियोग लगा है। तब खुले कान से यथार्थ का सामना कीजिये। इस तर्क-वितर्क द्वारा आप अपने को स्वयं जान लेंगे। यदि आप अपने को एक निष्पक्ष न्यायाधीश नहीं समझते तो दूसरे उपयुक्त पुरुष की सहायता लीजिये, जो आप से प्रश्न पूछे और आप खुले मन से उसका उत्तर दें। क्योंकि आप सत्य को जानना चाहते हैं, चाहे जो भी हो, कुछ क्षण के लिये आपको घबड़ाहट या क्षोभ भले ही हो, इसे पूरा करके ही छोड़िये।

यदि लोगों से पूँछा जाये कि आप "किस से अधिक भय खाते हैं," तो बहुत से लोग उत्तर देंगे, "हमें किसी से भय नहीं है।" यह उत्तर उनका अनुचित या असत्य होगा, क्योंकि बहुत से लोग यह प्रतीति नहीं कर पाते कि वे किसी न किसी प्रकार के भय से ग्रस्त हैं—वह चाहे मानसिक हो अथवा शारीरिक। वे भय इतने सूक्ष्म हैं कि लोग उसके भार को ढोते हुये जीवन बिताते हैं और उसकी उपस्थिति को पहिचान नहीं पाते। इस विश्वव्यापी शत्रु को केवल एक साहसपूर्ण विश्लेषण ही प्रत्यक्ष कर सकता है। जब आप ऐसा विश्लेषण करना प्रारम्भ करें, तो अपने चरित्र में गहरे पैठ कर उस भय के रूप को ढूँढ़ें।

यहाँ भय के लक्षणों की सूची दी गई है उसे खुले मन से देखें और पहिचानें।

निर्धनता के भय के लक्षण

निःस्पृहता या उदासीनता—यह भाव साधारणतया आकांक्षा के अभाव में

प्रगट होता है। निर्धनता को सहन करने की इच्छा—जीवन में जो कुछ सुविधा प्राप्त हो, उसको बिना कुछ कहे-सुने स्वीकार कर लेना—मानसिक और शारीरिक आलस्य, आगे बढ़ने की रुचि का, कल्पना करने का तथा उत्साह और आत्मनिग्रह करने का अभाव इसे जन्म देता है।

अनिश्चितता—इस भाव की अभिव्यक्ति दूसरों को अपने विचारों के संबन्ध में अवसर देना, अलग रहने में सुख मानना अथवा "मेड़ पर खड़े रहना" आदि मे व्यक्त होती है।

शंका—यह भावना साधारणतया बहाने और स्थान पर न होने की दुहाई देने में और दोष को छिपाने में प्रगट होती है। असफलता के समय क्षमा माँगने में और कभी-कभी सफल लोगों से ईर्षा के रूप मे या उनके छिद्रान्वेषण या आलोचना के रूप मे यह प्रायः प्रगट होती है।

चिन्ता—यह बहुधा दूसरे लोगो मे दोष दुर्गुण ढूँढ़ने में, अपनी आय से अधिक खर्च की प्रवृत्ति में, अपनी वेषभूषा की असावधानी में, भौहे टेढ़ी रखने में, बड़बड़ाने मे, मादक वस्तुओ के उपयोग में, घबड़ाहट के रूप में, साम्यावस्था के अभाव में तथा आत्मचेतना और आत्मविश्वास के अभाव के रूप में प्रगट होती है।

अतिसावधानता—प्रत्येक स्थिति को दोष दृष्टि से ही देखना, सफल होने के साधनों पर एकाग्रता करने की अपेक्षा प्रत्येक संभावित असिद्धि या हानि पर ही सोचना और बातचीत करना, आपत्ति-विपत्ति के सभी मार्गों की जानकारी प्राप्त करना, किन्तु हानि की रक्षा करने के किसी भी साधन की खोज न करना आदि इस भाव के लक्षण हैं। इस मानसिक अवस्था में अपने मन की कल्पनाओं और विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिये, उचित समय की प्रतीक्षा के लिये, हाथ पर हाथ देकर बैठे रहने एवम् निठल्ले बने रहने का स्वभाव स्थायी हो जाता है। जो लोग असफल सिद्ध हुये हैं उनको याद रखना, और जो सफलता पा गये हैं उनको भुला देना, बेल के छेद को देखना, किन्तु बेल के रूप को भुला देना, अजीर्ण की जननी निराशावादिता, तुच्छ संग्रह, मदमस्ती, दूषित श्वास और दूषित स्वास्थ्य इस भय का परिचायक है।

दीर्घसूत्री—प्रत्येक कार्य को कल पर छोड़ देने स्वभाव, काम पूरा न करने में पर्याप्त समय बताने आदि में लगा देना या अवकाश न मिलने का बहाना करना दीर्घसूत्री मनोवृत्ति का परिचायक है। यह लक्षण अतिसावधानता, शंका और चिन्ता का निकट सम्बन्धी है। यदि टल सकता है तो

उत्तरदायित्व के भार को स्वीकार न करना इसकी प्रवृत्ति विशेष है।·विरोध करने की अपेक्षा सन्धि करने के लिये अधिक इच्छुक होना, कठिनाइयों को उन्नति का एक उपयोगी साधन बनाने की अपेक्षा उनसे मेल कर लेना; सौभाग्य, वैभव, संपत्ति, धन, सन्तोष और सुख की याचना के स्थान मे जीवन का कौड़ियों पर सौदा करना; अपने पीछे हटने के सभी साधनों का समूल नष्ट कर देने की अपेक्षा भागने के लिये असिद्धि के मार्ग को खुले रखने की योजना बनना इसी संदिग्ध अकर्मण्यता के परिचायक हैं। हेतु की निश्चयता, आत्मशासन, अगुआ बनना, उत्साह की आकांक्षा, मित्रता और पुष्टि विवेक में दुर्बलता, आत्मविश्वास का पूर्णतः अभाव इसके अन्यतम लक्षण है। धन की माँग अथवा संपत्ति की आकांक्षा के स्थान में निर्धनता को गले लगाये रखना, संपत्ति प्राप्ति करने वालों की संगति में न रहकर निर्धन लोगों के साथ उठना-बैठना, ये लक्षण तामस प्रकृति के हैं, जो गीता में इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं :—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥ १८-२८

विक्षेपयुक्त चित्त वाला, शिक्षा से रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरों की आजीविका का नाशक, शोक करने के स्वभाव वाला, आलसी, और दीर्घ-सूत्री कर्ता तामस कहा जाता है।

इससे ज्ञात हो जाता है कि कोई भी तामस कर्म हो, उसमें भय की झलक अवश्य रहती है। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे कर्म भय के कारण विवश होकर करने पड़ते हों।

कुछ लोगों का यह प्रश्न हो सकता है कि वित्त को यहाँ केवल द्रव्य या मुद्रा के रूप में ही क्यों लिया जाता है ? क्योंकि और लोग विश्वास करते हैं, और ठीक भी है, कि संपत्ति या धन के और रूप भी हो सकते हैं, जो अपेक्षाकृत मुद्रा से अधिक रुचिकर हैं। हाँ धन के और बहुत से रूप हैं जो मुद्रा से नहीं तौले जा सकते, किन्तु करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं, जो कहेंगे कि "मेरी आवश्यकतानुसार मुझे धन मिल जाय, तो मैं जो चाहूँ वह कर दिखाऊँ।"

आजकल रुपया नाम की वस्तु केवल धातु के टुकड़ों या कागज मात्र हैं, किन्तु हृदय तथा आत्मा के ऐसे धन भी हैं, जो रुपये के बदले मोल नहीं लिये जा सकते। अधिकांश लोग निर्धन हो जाने के कारण, इस तत्त्व को मन में ग्रहण नहीं कर पाते, फलस्वरूप वह अपने को ठीक नहीं रख सकते। जब मनुष्य दीन चित्त होकर सड़कों पर फिरता रहता है, और कोई पेट भरने

का साधन नहीं पाता, तो उसकी भाव भंगिमा में कुछ न कुछ ऐसे लक्षण आ जाते हैं, जो उसके नीचे झुका हुआ सिर, टेढ़ी-मेढ़ी टोपी, चाल और वाह्य रूप से प्रगट होने लगते हैं। तब वह अपने काम में लगे हुये लोगों के बीच यह जानता हुआ भी कि ये लोग ईमानदारी, चरित्रबल, बुद्धि और योग्यता में मेरी बराबरी नहीं कर सकते, हीनभावना अनुभव करने से नहीं बच सकता।

ये लोग उसके मित्र होते हुये भी अपने में श्रेष्ठता की भावना रखते हैं, और स्यात् अनजाने ही उसे मरे हुये सिपाही के रूप में समझते हैं। वह कुछ समय के लिये उधार ले सकता है, किन्तु जब पुरुष उधार ही पर जीवन चलाता है, तो दुःख और हतोत्साह अनुभव करता है और उधार लिये रुपये में, कमाये हुये धन की अपेक्षा, बल का अभाव रहता है। निसन्देह यह बात उन लोगों के लिये लागू नहीं है, जो निठल्ले है और जिनका स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है। यह बात तो केवल उन लोगो के लिये है, जिनमें सामान्य आकांक्षा और आत्मप्रतिष्ठा का भाव है।

जब एक व्यक्ति निर्धन हो जाता है, वह चिन्ता मे व्यग्र हो जाता है। हो सकता है वह अपनी नौकरी के लिये कोसो पैदल चला जाय और वहाँ पहुँचने पर सुने कि जगह भर गयी। वहाॅ से लौटने पर वह सड़कों पर मारे-मारा फिरने लगता है। दूकानों की खिड़कियो पर रखी हुई सुन्दर वस्तुयें, उसको नहीं मिल सकती, इससे वह अपने मे हीन भावना लाता है और दूसरे देखने वालों को रास्ता दे देता है। वह कहीं स्टेशनो पर घूमता रहता है, या कहीं शून्य स्थान मे बैठ कर अपने भाग्य को कोसता रहता है। केवल धन न होने के कारण उसकी भावना मे इतनी हीनता आ जाती है। थोड़ा बहुत धन मिल जाने पर वह फिर जैसा था, वैसा ही हो सकता है।

जुगुप्सा या निन्दा अथवा छिद्रान्वेषण का भय

मनुष्य कैसे इस भय के बन्धन में पड़ा, यह कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता, किन्तु एक बात तो निश्चित है कि इसका रूप बड़ा विकसित है। चाहे उपहास ही समझिये, कुछ लोगों का कहना या विश्वास है कि यह उस काल में प्रगट हुआ जब राजनीति ने व्यवसाय का रूप धारण किया। दूसरों का विश्वास है कि इसका प्रारम्भ तब हुआ, जब स्त्रियों ने अपने वस्त्राभूषणों में अति रुचि दिखलाई और भाँति-भाँति के प्रसाधनों से नित्य नये रूप संवारने लगीं।

यह उपहास ही सही, परन्तु मौलिक रूप में निन्दा का भय उस जन्मजात प्रकृति से सम्बन्धित है, जो मनुष्य को लोभ के कारण अपने साथियों का धन-माल असबाब हड़प कर लेने के लिये विवश ही नहीं करती, अपितु उसके इस कार्य को न्यायोचित ठहराने के लिये, लूटे हुये साथी के चरित्र पर मूर्ख, बुद्धू, असावधान आदि होने का आरोप भी कराती है। यह सब का जाना हुआ है कि "उलटे चोर कोतवालहिं डाँटे," अथवा पुरुप जिसकी वस्तु चुराये उसी को मूर्ख बताये, जैसा राजनीतिक क्षेत्र के लोग करते हैं। ये लोग अपनी ईमानदारी और गुण का ही बखान नहीं करते, अपितु अपने प्रतिद्वन्द्वी के चरित्र को काला रंगने में भी कोई बात नहीं छोड़ते

निन्दा या छिद्रान्वेषण का भय अनेक रूप धारण कर लेता है। वे रूप अधिकाश में तुच्छ और उपहासास्पद होते हैं। स्त्रियों में यह प्रत्यक्ष रूप मे देखा जाता है। विशेष रूप से जब कोई कुलटा किसी साध्वी महिला को देखती है तब उसमें कोई न कोई दोप निकालने लगती है और साथ ही अपने को सभ्य और सच्चरित्र प्रमाणित करने का प्रयत्न करती है।

पाश्चात्य देशों में तो इस भय से लाभ उठाने के लिये कोई जगह छूटी ही नहीं। पेरिस में वेषभूषा के व्यापारियों का तो धन्धा ही इसके कारण चल रहा है। नई पोशाकें, नये फैशन नित्य निकलते रहते हैं। ऐसे ही अमेरिका में मोटरों के नये आविष्कार और नये सज-धज, नया नमूना प्रत्येक वर्ष निकलता हैं। यद्यपि पुरानी मोटरें अधिक मजबूत प्रमाणित हुई हैं, फिर भी निन्दा के भय से लोग उसे नयी मोटरों में बदल देने के लिये बाध्य हो जाते हैं।

इस प्रकार ऐसी छोटी-छोटी बातों में यह भय, अपना प्रभाव डालता है। अब मनुष्य के आचार पर दृष्टि डालिये। यह भय मानव सम्बन्धी महत्व की घटनाओं पर अपना प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिये—किसी भी मनुष्य को ले लीजिये। जब वह चालीस वर्ष की परिक्वावस्था में पहुँचता है, तब उस पर उन सांप्रदायिक बातों का, गाथाओं का, प्रभाव नही रह जाता, जो उसने बचपन में अपने बूढ़ों से, पंडितों से, पुरोहितों से, मौलवियों से अथवा पादड़ियों से सुना था।

बहुत लोग ऐसे हैं, जो पुरानी रूढ़ियों को प्रश्रय देने के लिये बाल की खाल निकालते हैं, उन्हें आध्यात्मिक रूप देकर शब्दों के अर्थ बदल देते हैं, पर उनमें इतना साहस नहीं कि सत्य को स्वीकार कर लें। यही कारण है कि वे युगों से, इस वैज्ञानिक खोज और शिक्षा के युग के पहले से ही, बन्धन में बँधे हुए हैं।

इस बुद्धिवाद के युग में सर्वसाधारण लोग ऐसे किस्सों पर अविश्वास करने से क्यों हिचकिचाते हैं, जो अनेक सम्प्रदाय के मूल में कई शताब्दियों से प्रचलित हैं। इसका उत्तर है, "निन्दित होने के भय के कारण।" कोई आश्चर्य नहीं कि यह हम लोगों का पैत्रिक अविबोधन है, जो हमको निन्दा के भय में डालता है। अधिक समय नहीं बीता, जब निन्दा करने वाला बड़े दंड का भागी होता था। अब भी कुछ देशों में ऐसे दंड का विधान है।

निन्दा का भय अष्टपाश का एक अंग है। यह मनुष्य की प्रगति का अपहरण कर लेता है, उसकी कल्पना शक्ति का नाश कर डालता है, उसके व्यक्तित्व को बन्धन में डाल देता है, उसके विश्वास को छीन लेता है और सैकड़ों मार्गों से उसको हानि-पहुँचाता है। **माता पिता बहुधा अपने बालकों की निन्दा कर उनके सारे जीवन को दूषित बना देते हैं।** एक लड़के की माँ अपने लड़के को रात-दिन मारती-पीटती और कहती रहती थी कि, "तू जेल जायगा", इसका परिणाम यह हुआ कि लड़के का जीवन अपराधी बन गया और वह जेल की हवा खाने लगा।

सेवा करने का एक रूप छिद्रान्वेषण या निन्दा है, जो प्रत्येक व्यक्ति में अधिक परिमाण मे विद्यमान है। उस के पास इसका भाण्डार भरा है, जो निःशुल्क मुक्तहस्त से बाँटा जाता है, चाहे याचना की जाय या नहीं। बहुधा अपने निकट सम्बन्धी ही सबसे अधिक छिद्रान्वेषण करते हैं। इसको तो एक महान् अपराध मानना चाहिये। जो पिता किसी बालक के मन में अनावश्यक छिद्रान्वेषण, निन्दा या हीनभावना भर देता है, वह महा अपराधी है। छिद्रान्वेषण या निन्दा मनुष्य के हृदय मे भय या विरोध की भावना भर देते हैं। ये प्रेम या सद्भावना का बीज नहीं बो सकते।

छिद्रान्वेषण या निन्दा भय के लक्षण

यह भय लगभग विश्वव्यापी है। यह निर्धनता के भय के समान ही है। इसका प्रभाव भी वैयक्तिक सिद्धि के लिये वैसा ही विनाशकारी है। यह सभी समारम्भों का विशेष रूप से नाश कर देता है और कल्पना को निरुत्साहित कर देता है, इसके लक्षण इस प्रकार हैं :—

आत्म-चेतना—यह साधारणतः घबड़ाहट, अधैर्य, बातचीत में दब्बूपन, अनजानों से मिलने में हिचकिचाहट, हाथ पाँव का हिलाना डुलाना, आँखों का इधर-उधर फिराना आदि चेष्टाओं में प्रगट होता है।

समता का अभाव—यह भाव शब्दों पर नियन्त्रण के अभाव, दूसरों के

सामने अधैर्य या घबड़ाहट, दीन अंगस्थिति, और दुर्बल स्मृति द्वारा प्रगट होता है।

व्यक्तित्व—निर्णय करने में दृढ़ता का अभाव, निजी आकर्षण और निश्चित रूप से अपना मत प्रगट करने की योग्यता का अभाव, विषय को न्यायोचित रूप से सामने रखने के स्थान में बरा जाने का स्वभाव, दूसरों की राय में बिना सोचे समझे स्वीकृत देना या "हाँ में हाँ मिलाना" आदि से प्रगट होता है।

प्रगति आरम्भ या उपक्रम का अभाव—इस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति आत्मोन्नति के लिये अवसरो को अपनानें में अवहेलना, सम्मति प्रगट करने में भय, स्वयं अपने ही विचारो या सूझों पर अविश्वास, बड़ों के प्रश्नों पर टाल मटोल उत्तर देना, बातचीत और व्यवहार में हिचकिचाहट, वाणी और कुटिल कर्म द्वारा प्रगट होता है।

हीन भावना—वाणी और कर्मों द्वारा आत्मश्लाघा कर अपनी हीन-भावना को छिपाना। दूसरों पर प्रभाव डालने के लिये बड़े-बड़े सामासिक पद कहना (बहुधा उनके अर्थ स्वयं न जानते हुये), वेशभूषा, बोल-चाल, आचरण आदि में दूसरो की नकल करना, काल्पनिक सफलता या सिद्धि पर गर्व करना, कभी-कभी वाह्यस्तर पर श्रेष्ठता की भावना दिखाना आदि द्वारा प्रगट होती है।

अतिव्ययी—अपनी शान दिखाने को आय से अधिक खर्च करना।

उत्साहहीनता अर्थात् अभिलाषा का अभाव—मानसिक और शारीरिक बल का अभाव, निर्णय करने मे ढिलाई, सरलता से दूसरो द्वारा प्रभावित हो जाना, लोगों के पीठ पीछे छिद्रान्वेषण करना और मुँह पर चापलूसी करना, बिना किसी विरोध के हार मान लेना, दूसरों द्वारा प्रतिकूल भावना होने पर, हाथ मे लिये हुये काम को त्याग देना, बिना कारण ही दूसरो पर शंका करना, आचरण और वाणी मे युक्ति का अभाव, भूल हो जाने पर दोष को स्वीकार करने की अनिच्छा आदि द्वारा प्रगट होता है।

रोग अथवा व्याधि दुःख

यह भय दोनों, शारीरिक और सामाजिक परम्परा, में खोजा जा सकता है। इसी भय से वृद्धावस्था और मृत्यु आती है। यह तो सर्वसाधारण का मत है कि कुछ अनाचारी लोग, जो स्वास्थ्य बेंचने के व्यवसाय में लगे हुये हैं, इस भय को जीवित रखने में बड़े सहायक हैं।

मुख्य रूप से मनुष्य व्याधि या मृत्यु के उन भीषण चित्रों से डरता रहता है, जो उसके मन में पैठा दिये गये हैं, और दूसरा कारण यह है कि उसे यह ध्यान रहता है कि यदि वह अस्वस्थ या व्याधिग्रस्त हुआ, तो अर्थ बहुत व्यय होगा और वह निर्धन हो जायगा।

एक प्रसिद्ध डाक्टर ने अनुमान लगाया है कि उन सब लोगों में, जो रोगग्रस्त हैं, ७५% ऐसे व्यक्ति हैं जो काल्पनिक रोग (वहम) से पीड़ित हैं। यह निश्चित रूप से प्रत्यक्ष कर दिया गया है कि रोग का भय, जब किंचिन्मात्र भी रोग नहीं रहता, मनुष्य को रोगी बना देता है।

मानव मन बड़ा शक्तिशाली और विशाल है। यही बनाता है और यही बिगाड़ देता है, "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" या "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः"।

इस सामान्य दुर्बलता के कारण "पेटेन्ट दवा बेचने वालों" की बन आई है और वे मालामाल हो गये हैं। महायुद्ध काल में "इन्फ्लुएञ्जा" महामारी फैली थी। अनेक सरकारों ने अखबार वालों को बुला कर कहा था कि कृपा कर कोई भी समाचारपत्र बड़े बड़े अक्षरों में इस रोग के विषय में समाचार न छापें। समाचारपत्रों ने इसकी गप्पें लिखना कम किया और साथ ही रोग भी दबने लगा।

इसका दृष्टान्त मौलाना रूम ने सुन्दर दिया है :—

एक मौलवी साहब लड़कों को पढ़ाते थे। लड़कों ने सोचा आज छुट्टी मना लें। उन्होंने आपस में मंत्रणा की। जब मौलवी साहब आये, तब एक लड़के ने उठकर आदाब की और उनकी ओर देखकर कहा, "मौलवी साहब आज आपकी तबियत कैसी है? उन्होंने डांटकर कहा, "पढ़ो मैं ठीक हूँ"। इसके बाद दूसरा लड़का आया, उसने झुककर ताज़ीम की और पूँछा, "आज आप की आँखें सुर्ख हैं, क्या तबीयत नासाज़ है?" उन्होंने उसे भी डाँटा। ऐसे ही एक के बाद दूसरे ४-६ लड़कों ने तबियत पूछी। तब तो मौलवी साहब ने चद्दरा उठाया और ओढ़ कर पड़ गये तथा लड़कों को डाँटकर कहा भाग जाओ, आज हम न पढ़ायेंगे। हमारी तबियत ठीक नहीं है। लड़कों ने तुरन्त ही घर का रास्ता लिया और खेल कूद में लग गये। ऐसे षड्यंत्र मक्कार लोग देवी देवताओं का भय दिखाकर सीधे सादे ग्रामीण लोगों को ठगने के लिये किया करते हैं।

दूसरा दृष्टान्त इसी शताब्दि का यह है :—

अमेरिका के मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग के लिये एक ऐसे व्यक्ति को सर-

कार से माँगा, जिसे मृत्युदंड दिया गया था। उस व्यक्ति को उन्होंने मेज़ पर लिटा दिया और उसका मुँह ढाँक कर, मेज़ के चारों पायों के पास पानी भरे बर्तन रख दिये। उसके पैर तथा हाथों पर झूठा छुरा चलाया गया, पानी की धारा उन बर्तनों पर डाली गई। उसकी आवाज वह व्यक्ति सुनता रहा। उसने समझा मेरा सारा खून निकल गया और वह मर गया। ध्यान में रहे न तो उस पर छुरा चला और न एक बूँद खून की निकला।

इसके बहुत से प्रमाण हैं कि कभी-कभी रोग नकारात्मक विचार संवेग द्वारा आता है। दो व्यक्तियों को तो मैं भी जानता हूँ जिन्हें लड़कपन से कुछ रोग न होते हुए भी औषधि खाने का स्वभाव पड़ गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि औषधि खाये बिना उनको चैन नहीं पड़ता था। एक तो रोग से ग्रसित होकर सुरपुर सिधार गये, और दूसरे लम्बी ८५ वर्ष की आयु पाते हुये भी नित कुछ और नहीं तो सिर दर्द के लिये मुनक्का बादाम ही पिसवा कर खा रहे हैं और साथ में और भी रोगों से ग्रसित होकर पड़े दुःख भोग रहे हैं।

यह संवेग एक से दूसरे का हितू बन कर प्रस्तावना द्वारा या व्यक्ति के स्वयं मन की कल्पना द्वारा व्यक्त होता है। इसीलिये डाक्टर रोगी को वायु परिवर्तन के लिये सम्मति देते हैं जिससे उसका मन अन्य दृश्यों में लग जाय, और रोग की भ्रान्ति से मुक्ति पाकर प्राकृतिक अवस्था में आ जाय।

रोग-भय का बीज सभी मनुष्यों के मन में रहता है। चिन्ता, भय, निरुत्साह, प्रेम, निराशा और व्यावसायिक विषयों के कारण, यह बीज उगता है और बढ़ जाता है। सन् १९३२ में व्यापार में धक्का लगने पर सभी प्रकार के रोग पैदा हो गये थे और डाक्टरों को फुर्सत नहीं मिलती थी, क्योंकि नकारात्मक विचार या निष्क्रिय भावना ने भिन्न रोगों के रूप में स्वास्थ्य पर प्रभाव डाला था।

व्याधि के लक्षण और कारण

व्यापक रोगभय के लक्षण ये हैं :—

आत्म-प्रस्तावना—नकारात्मक भावना के स्वभाव के कारण, सभी प्रकार के रोगों के लक्षण अपने में देखना, काल्पनिक रोगों को भोगना और उनको वास्तविक रूप में मानना, सभी आतताई औषधियों का प्रयोग करना जिनको दूसरे लोग रोग पर रामबाण बताते हैं, दूसरे लोगों के साथ बैठ कर चीर-फाड़, दुर्घटना और रोगों के दूसरे रूपों के बारे में चर्चा करना,

भोजन, शारीरिक व्यायाम, दुबले या मोटे होने के उपचार, किसी योग्य पुरुष की सम्मति न लेते हुए प्रयोग करना और घरेलू, पेटेन्ट और आतताइयों की औषधि का प्रयोग करना इसके लक्षण हैं।

वहम या मालीखूलिया—रोगों पर चर्चा करने का स्वभाव, रोगों पर ही मन को एकाग्र करते रहना, जब तक रोग हो न जाय, अथवा चारपाई न पकड़ लें तब तक उसके प्रगट होने की आशा करते रहना इसके लक्षण हैं। ऐसे रोगियों को शीशियों की कोई भी औषधि चंगा नहीं कर सकती। यह तो मन की नकारात्मक भावना से होती है और दृढ़ विचारों के अतिरिक्त कोई भी उपचार अच्छा नहीं कर सकता। **वहम** भी उतना हानिकर होता है, जितना रोग, जिससे व्यक्ति डरता है। अशक्तता के रोग, जो अधिकाँश बताये जाते हैं, काल्पनिक अस्वस्थता से उपजते हैं।

व्यायाम—अस्वस्थता का भय बहुधा उपयुक्त व्यायाम के अभ्यास में विरोधी होता है। इसका परिणाम मुटापे में होता है, जो वाह्य सक्रिय जीवन में बाधक है।

वेदनाग्रहण योग्यता—अस्वस्थता का भय शारीरिक् प्रतिबंध की प्रकृति को अशक्त कर देता है, और किसी भी रोग के लिये, जो सम्पर्क में आ सके, उपयुक्त अवस्था रच लेता है। यह भय बहुधा निर्धनता के भय के साथ संबन्धित है। विशेष रूप से वहम वाले व्यक्तियों में, जो निरन्तर डाक्टर और अस्पताल आदि के खर्चे चुकाने पर ही चिन्ता करते रहते हैं, पाया जाता है। इस प्रकृति के लोग अपना अधिक समय रोग की तैय्यारी में व्यय करते हैं, मृत्यु के विषय में चर्चा करते रहते हैं और अपने क्रिया कर्म के लिये धन बचाते रहते हैं।

आत्मलाड़ अर्थात् रोगी बनने की इच्छा—सहानुभूति प्राप्त करने का स्वभाव—जिसमें रोगी होने का ढोंग प्रायः काम करने से छुटकारा पाने के लिये रचा जाता है। आलस्य को छिपाने के लिए, बीमार बन जाने का स्वभाव बना लेना या उत्साह, महत्वाकांक्षा के अभाव में कोई न कोई बहाना ढूंढ़ कर रोगी बन जाना इस भय के कारण होता है।

असंयम—सिरदर्द या नजला, जुकामादि के कारणों को दूर न कर उसके उपचार के लिये नशे की वस्तुयें, शराब, गांजा, भांग, अफीम आदि का उपयोग करना, विज्ञापन द्वारा प्रचलित औषधियों के सेवन करने का स्वभाव और रोगों के विषय में विस्तृत वर्णन पढ़ने का स्वभाव इसके अन्तर्गत हैं।

कुल और प्रेम की हानि का भय

अर्जुन को इस भय ने अधिक व्यथित किया था, जो गीता के प्रथम अध्याय में उसके सामने आया :—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बधिनस्तथा ।। १-३४

गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और दादा मामा, ससुर, पोते, साले तथा और सम्बन्धी लोग, लड़ने को खड़े हुये, तब उसे मोह उत्पन्न हुआ और वह जगत् के अष्टपाश में बंध गया । तब कहने लगा :—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।। १—३७-४०

हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना उचित नहीं है, क्योंकि अपने कुटुम्ब को मार कर हम कैसे सुखी होंगे ! लोभ से चित्तभ्रष्ट हुये ये लोग कुल के नाशकृत दोष को और अपने मित्रों के साथ द्रोह करने में पाप को नहीं देखते । हे जनार्दन ! कुल के नाश करने से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को, इस पाप से बचना चाहिये । कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाता हैं, धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है । जब पाप की वृद्धि होती है :—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकर. ।।
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।। १—४१-४४

हे कृष्ण ! पाप अधिक बढ़ने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं; और स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। वर्णसंकर कुल को नरक में ले जाते हैं, पिण्ड और तर्पण के अभाव में पितर लोग भी गिर जाते हैं। इन वर्णसंकरकारक दोषों से सनातन कुल धर्म और जाति धर्म भ्रष्ट हो जाने वाले मनुष्य का अनन्त काल तक नरक में वास होता है, ऐसा सुना है।

इस जन्मजात भय के मूलस्रोत के वर्णन में विस्तार की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह व्यापक रूप से पुरुष के बहुपत्नी स्वभाव से वृद्ध पाता है, अपने साथियों की सहधर्मणियों को चुरा लेना और उनके प्रति स्वच्छन्दता का व्यवहार करना, इस भय का मूल स्रोत है।

एक व्यक्ति की प्रेम और ममत्व की हानि होने के भय के कारण ईर्षा और द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। यह भय मूल भयों व अष्टपाशों में सबसे अधिक दुःखद होता है। इसमें अपने प्रेमी, बन्धु आदि का विच्छेद होने के कारण, सम्भवतः शरीर और मन में अन्य भयों की अपेक्षा यह अधिक विप्लव मचाता है, क्योंकि यह बहुधा उन्माद अवस्था की ओर ले जाता है।

प्रेम की हानि का भय सम्भवतः पाषाण युग से ही चला आता है। पुरुष अपने पशुबल द्वारा स्त्रियों को हर ले जाते थे। स्त्रियों का हरना अब भी चला आ रहा है, परन्तु उसकी कला में परिवर्तन हो गया है। शक्ति बल के स्थान पर, वे लोग अब धन, अच्छे वस्त्र, मोटर, आभूषणों के प्रलोभन देकर और दूसरे लोगों द्वारा फुसलाकर तथा अन्य हथकण्डों का प्रयोग कर, स्त्रियों को हर लेते हैं। पुरुषों का स्वभाव वैसा ही है, जैसा कि सभ्यता के उदय काल से चला आ रहा है, किन्तु उसके प्रदर्शन में भेद हो गया है।

देखा गया है कि स्त्री-वर्ग में पुरुष की अपेक्षा, इस भय का अधिक प्रभाव पड़ता है। यह यथार्थ सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है। स्त्रियों के बोधिगम्य अनुभव में है कि पुरुष स्वभाव से बहुपत्नी भोगी है, इसलिये उसे यह भय बना रहता है कि कहीं उसका पति दूसरी स्त्री के पास न चला जाय।

प्रेम हानि के लक्षण

ईर्षा—मित्रों और प्रेमियों पर बिना कारण ही, या कोई उपयुक्त प्रमाण न होते हुये भी, शंका करने का स्वभाव, पति या पत्नी का बिना किसी आधार के एक दूसरे को दोषी मानने का स्वभाव, सामान्यतः सभी से शंका करना, किसी एक पर विश्वास न करना इसका प्रकट रूप है।

दोष खोजना या लगाना—मित्रों, सुहृदयों, सम्बन्धियों, व्यापारिक सहयोगियों और प्रेमियों पर, बिना किसी कारण, थोड़े से ही उद्दीपन में दोष लगाने का स्वभाव से यह स्पष्ट होता है।

द्यूत क्रीड़ा—जुआ, चोरी, विश्वासघात, कपट आदि से अपने प्रेम पात्रों के लिये धन जुटाने में जोखिम के काम करना, इस विश्वास पर कि प्रेम धन द्वारा मोल लिया जा सकता है अपनी आय से अधिक व्यय करने का स्वभाव, अथवा ऋण लेकर अपने प्रेम-पात्र को उपहार भेंट करना, जिससे कि वह उस पर रीझे, निद्रा का न आना, घबड़ाहट, धृति का अभाव, इच्छाशक्ति की दुर्बलता, आत्म नियन्त्रण का अभाव, चिड़चिड़ेपन में यह प्रकट होता है।

जरा अर्थात् बुढ़ापे का भय

जरा का भय मुख्यतः दो कारणों से उत्पन्न होता है। पहला तो यह विचार है कि वृद्धावस्था निर्धनता ला सकती हैं। दूसरे कारण द्वारा, जो लगभग सर्वसाधारण में होता है, अनर्गल और क्रूर भूतकाल के उपदेशों से 'नमक मिर्च' लगाकर और अधिक चटपटा बनाकर, मनुष्य को बन्धन में डाला जाता है।

बुढ़ापे के भय में, मनुष्य के अन्दर उसकी आशंका के दो उचित कारण होते हैं—एक तो अपने साथियों पर अविश्वास करने के कारण वह शंका करता है कि वे उसकी सभी भौतिक संपत्ति छीन लेंगे, दूसरे जगत् के परे के भीषण चित्र, जो उसके मन में सामाजिक परम्परा द्वारा, बुद्धि के विकास के पहले, बसाये गये हैं।

ज्यों-ज्यों मनुष्य बूढ़ा होता जाता है, त्यों-त्यों रोगी होने की संभावना भी बढ़ती है। वही बुढ़ापे का कारण बनती है। बुढ़ापे में कामोद्दीपन की हानि भी भयकारक है, क्योंकि यौन आकर्षण का अभाव कोई भी नहीं चाहता। सबसे साधारण बुढ़ापे का भय तो निर्धनता के साथ संगठित है। प्रत्येक मनुष्य के मन में रहता है कि बूढ़े होने पर वह छोटी-सी कोठरी में अलग डाल दिया जायगा, जहाँ वह चाहे जितना पुकारे पर कुटुम्ब में उसकी पुकार कभी कदाचित् ही कोई सुनेगा, अथवा यदि कोई उचित सम्मति दी, तो उसकी अवहेलना होती रहेगी। एक गँवारू गीत, इस प्रसंग को स्पष्ट कर देता है; **"का गति हुइहै राम तीसर पन की। जब ते राज भयो बहुअन को, रोटी पकन लागी सूले बनन की"**

इन भयों के पश्चात् स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता की हानि की संभावना

भी बुढ़ापे के भय को अधिक उत्साहित करती है, क्योंकि बुढ़ापे में दोनों शारीरिक और आर्थिक हानियाँ भी हो सकती है।

बुढ़ापे के भय के लक्षण

मानसिक परिपक्वता की वयस में हीनता की भावना आना और सक्रियता की चाल धीमी कर देना, चालीस वर्ष के होते ही मिथ्या विश्वास करना कि उमर ढलती जा रही है, इस भय का रूप है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य का अति उपयोगी काल तो ४०-६० वर्ष तक का होता है, जिससे मानसिक और आध्यात्मिक तत्व की वृद्धि होती है। क्षमा माँगते हुये अपने को बूढ़ा बनाना, क्योंकि अब वह चालीस या पचास के लगभग पहुँच गये हैं, प्रायः सुना जाता है जबकि, इसकी अपेक्षा ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि ऐसी बुद्धि और विवेक की अवस्था उसे प्राप्त हुई है। प्रगति का अभाव, अपने को इतना वृद्ध समझ लेना जितना वह हो नहीं। प्रगति, कल्पना, आत्मविश्वास के स्थान पर उदासीन मन बनाने का स्वभाव भी इसके अन्तर्गत आता है।

मृत्यु का भय

मौलिक भयों में कुछ लोगों को मृत्यु का भय सबसे अधिक भीषण प्रतीत होता है। उसका कारण भी स्पष्ट है। मृत्यु के विचार के संसर्ग से भय की दारुण वेदना अधिकांश स्थितियों में धर्मोन्माद पर प्रत्यक्ष दिखाई देती है। नास्तिक कहे जाने वाले गँवार लोगों को, "सभ्य" कहे जाने वाले मनुष्यों की अपेक्षा, मृत्यु का भय कम डरावना लगता है, क्योंकि करोड़ों वर्ष से मनुष्य अब तक इन प्रश्नों को पूँछा करता है—"कहाँ से" और "कहाँ को"? कहाँ से मैं आया हूँ? और कहाँ मैं जा रहा हूँ? पर अभी तक इसका उत्तर नहीं मिला।

भूतकाल के अँधेरे युगों में इस प्रश्न का उत्तर देने वाले धूर्त हुए, जिनका नामकरण महात्मा तुलसीदास ने "धींग धरमध्वज धंधक धोरी" किया है। पाखंडियों का बोल-बाला हो गया है जिनका कहना है कि जो अमुक धर्म मानेगा, उसे स्वर्ग मिलेगा, जो नहीं मानेगा, उसे नरक मिलेगा। "मेरे मठ या संप्रदाय अथवा धर्म में आओ, मुझमें विश्वास करो, मेरे ही आदेशों को स्वीकार करो, मैं तुमको एक टिकट काट दूँगा जो तुमको मरने पर सीधे स्वर्ग में जाने की अनुमति देगा," ऐसा एक सम्प्रदाय प्रवर्तक चिल्लाता है। दूसरा कहता है, "मेरे सम्प्रदाय में दीक्षित न होगे, तो तुमको शैतान

ले जायगा या यम के दूत पकड़ ले जायेंगे और तुमको अनन्तकाल तक जला कर तड़पायेंगे"।

अनन्तकाल एक बड़ा लम्बा समय है। अग्नि एक भयानक तत्व है। अग्नि में जलते रहना, इस शाश्वत दंड का विचार मनुष्य के अन्दर मृत्यु का भय पैदा करता है, और यह बहुधा विवेक-शक्ति भी हर लेता है। ऐसा भय जीवन की रुचि नष्ट कर देता है और सुख असम्भव बना देता है।

हो सकता है, तब भी धर्म के ठेकेदार अपने सम्प्रदाय वालों को स्वर्ग की यात्रा सुरक्षित कराने के योग्य न हों और न ऐसे टिकट के अभाव में अभागे को नर्क में गिरने की अनुमति दे सकें, किन्तु नर्क में गिरने की सम्भावना इतनी भयंकर मालूम देती है कि उसका विचार ही कल्पना में ऐसी यथार्थता ले आता है जो बुद्धि को स्तम्भित कर मृत्यु का भय सामने खड़ा कर देता है।

सत्य तो यह है कि **कोई मनुष्य, स्वर्ग और नर्क क्या है और कैसा है, अभी तक न जान सका,** और न यही जानता है कि ये लोक वास्तव में हैं भी या नहीं। इसी दृढ़ ज्ञान के अभाव के कारण मानव मन का द्वार, छलियों और धर्म के ठेकेदारों के प्रवेश के लिये खुल जाता है, जहाँ वे अपना माया जाल और धूर्तता दिखाने में सिद्ध होते हैं।

मृत्यु का भय अब वैसा सामान्य नहीं रहा, जैसा उस समय था जब कि बड़े-बड़े विद्यालय-महाविद्यालय नहीं थे। वैज्ञानिकों ने अब जगत् पर सत्य का प्रकाश डाल दिया है, और यह सत्य अब स्त्री-पुरुषों को मृत्यु के भय से शीघ्रता के साथ मुक्त कर रहा है। युवक और युवतियाँ जो महा-विद्यालयों में पढ़ रहे हैं, अब अर्णी से अग्नि उत्पन्न होने पर या गंधक द्वारा अग्नि प्राप्त करने पर प्रभावित नहीं होते। जीवशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, भूगर्भशास्त्र इन सबसे सम्बन्धित विज्ञानों के माध्यम द्वारा वैज्ञानिकों ने अँधेरे युगों के भयों को, जो मनुष्य को तुरन्त जकड़ लेते थे और उनकी बुद्धि का नाश कर डालते थे, अब दूर भगा दिया है।

चाहे कोई भी इस विषय में कुछ सोंचे, मृत्यु अवश्य आयेगी, इसलिये इसको आवश्यकता के रूप में स्वीकार कर, ऐसे भयकारी विचारों को मन से बाहर निकाल दें। यह अवश्यम्भावी है, इसीलिये यह सभी को समान रूप से ग्रसित करती है। स्यात् यह उतनी बुरी नहीं है जितना कि इसका चित्रण किया गया है।

यह भय वृथा है। भगवान् ने भी बहुत पहले इस विषय में गीता में कहा था :—

जातस्य ही ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थेन त्वं न शोचितुमर्हसि ॥ २—२७

क्योंकि जन्मने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है (ऐसा सिद्ध हुआ है), इससे तू अनिवार्य विषय में शोक न कर।

यह मनुष्य की आत्मा कभी मरने वाली नहीं है, केवल यह शरीर हो परिवर्तशील अथवा नाशवान है। भगवान् ने अर्जुन के प्रति इस विषय का उपदेश दिया है :—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
देहिनोऽस्मि यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २-१२-१३

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में न था, तू भी नहीं था और ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होते। और फिर आगे यह कहा गय है :—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ २-१८
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २-२२

नाश रहित अप्रमेय नित्य स्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं, अथवा अन्त वाले हैं, इसलिये हे अर्जुन ! तू युद्ध कर। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर, दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है :—

यह आत्मा तो अमर है, इसका कभी किसी प्रकार नाश नहीं होता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम क्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयंसनतनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैन नानुशोचति मर्हसि ॥ २-२३-२५

इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती तथा जल इसे भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। यह आत्मा अछेद्य है, अदाह है, अक्लेद्य है, अशोष्य है तथा नित्य सर्वव्यापक है, और अचल स्थिर रहने वाला सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य, विकार रहित एवं न बदलने वाला कहा जाता है, इसलिये इसको ऐसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं अर्थात् भय करना ठीक नहीं है।

समस्त संसार का निर्माण केवल दो तत्वों से हुआ है—प्रकृति और पुरुष। भारतीय शास्त्रानुसार और पाश्चात्य विज्ञान में शक्ति व पार्थिव तत्व (Energy and matter या पंचतत्व) दोनों माने गये हैं, प्रारम्भिक भौतिक विज्ञान में हम पढ़ते हैं कि न तो तत्व और न शक्ति (केवल यही दो सत्य मनुष्य की जान में है) बनायी जा सकती है न नाश की जा सकती है। भगवान ने इस सत्य को हज़ारों वर्ष पहले ही गीता में कहा है :—

प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान् ॥ १३—१९

प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा इन दोनों को ही तू अनादि जान, और राग, द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान।

अब देखिये पाश्चात्य विज्ञानी भी कहते हैं :—

"जीवन यदि कुछ हो सकता है तो वह शक्ति है, यदि शक्ति और भौतिक पदार्थ नष्ट नहीं किये जा सकते हैं तो, निसन्देह जीवात्मा कभी भी नष्ट नहीं की जा सकती। जीवात्मा शक्ति के दूसरे रूपों के समान हो सकती है। अवस्थान्तर के अनेक कर्मों द्वारा अतिक्रम या परिवर्तन करे, फिर भी वह नष्ट नहीं की जा सकती। मृत्यु तो केवल अवस्थान्तर मात्र है।

यदि मृत्यु परिवर्तन या अवस्थान्तर मात्र नहीं है, तब तो मृत्यु के पाश्चात् एक दीर्घकालीन, शाश्वत, शान्तिमय निद्रा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसी अवस्था में निद्रा से कुछ भी भय नहीं खाना चाहिये।'

गीता में इस प्रकार कहा गया है :—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २-२६

यदि तू इसको सदा जन्मने और सदा मरने वाला माने तो भी, हे अर्जुन ! तुझे इस प्रकार चिन्ता करना उचित नहीं है।

इस प्रकार आप मृत्यु का भय सदा के लिये मिटा सकते हैं। इस बात पर भगवान् ने गीता का उपदेश जोर के साथ अर्जुन को डाटकर प्रारम्भ किया और कहा :—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ २-११

तू शोक न करने योग्यों के लिये शोक करता है और पण्डितों के समान बचन कहता है; परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके नहीं गये हैं, उनमें से किसी के लिये शोक नहीं करते।

जीवन को और अधिक उपयोगी न बनाकर, इसके विपरीत, मरने के विषय में विचार करने का स्वभाव, उद्देश्यहीन जीवन या उपयुक्त धन्धा न मिलना, ये सब मृत्यु भय को जन्म देते हैं। यह भय अधिकतर वृद्धों में फैला रहता है और कभी-कभी युवा मनुष्यों को भी ग्रसता है।

मृत्यु भय से मुक्त व्यक्ति के लिये गीता यों कहती है :—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् ॥ १३—८

जिनको विषयों से विरक्ति हो जाती है, जो अहंकार शून्य हो जाते हैं, उन्हें जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधि का भय होता ही नहीं।

जो मरने से जग डरे, मोहिं परम आनन्द।
कब मरिहों कब पाइहों, पूरन परमानन्द ॥—'कबीर'

काम में लगे हुये व्यक्ति को कदाचित् ही मृत्यु पर विचार करने का समय मिलता है। उसको तो जीवन आनन्दमय, या पुलकित स्फूर्तिपूर्ण मालूम होने के कारण मृत्यु की चिन्ता ही नहीं होती। कभी-कभी मृत्यु का भय निर्धनता के भय से निकटस्थ संसर्ग स्थापित कर लेता है। निर्धनता के भय से मनुष्य के मन में, मृत्यु के पश्चात्, अपने प्रियजनों के प्रति असहायता और निर्धनता के दुःख भोगने का विचार आ जाता है। दूसरी दशाओं में रोग और अंग-शिथिलता, अशक्यता, पंगुता और शारीरिक व्याधि में भी मृत्यु का भय होता है। सामान्य मृत्यु के कारण रोग, निर्धनता, उपयुक्त व्यवसाय न मिलना, प्रेम में निराशा, उन्माद और धार्मिक उन्माद ही होते हैं।

मृत्यु के भय से मुक्ति पाने के लिये, सब चिकित्साओं से **महान् चिकित्सा सिद्धि प्राप्ति की ज्वलन्त इच्छा** या कामना करना ही है। वह कामना ऐसी हो, जो दूसरों का हित चिन्तन करे, अर्थात् **यज्ञार्थ ही कर्म हो**।

भय ही मनुष्य में चिन्ता की आवस्था लाने का कारण है। यह धीमी चाल से चुपचाप अपना काम करती रहती है। यह मायान्वित और सूक्ष्म रूप है। धीरे-धीरे यह मनुष्य के हृदय में घुसती है और उसकी बुद्धि को स्तम्भित कर देती है और आत्मविश्वास तथा प्रगतिशीलता का नाश कर देती है। चिन्ता, अनिश्चितता के कारण भय का एक स्थायी रूप हैं, इसलिये यह मन की एक दशा है, जो नियन्त्रण में आ सकती है अथवा वश में की जा सकती है।

एक अस्थिर मन या अधैर्य निराश्रय की अवस्था है। अनिश्चितता मन को अस्थिर बना देती है। बहुत से व्यक्तियों में इच्छा शक्ति का अभाव ही है, जिससे वे तुरन्त किसी निश्चय पर नही पहुँच सकते और यदि निश्चय कर भी लें, तो भी उस पर डटे नहीं रह सकते। साधारण व्यावहारिक अवस्था में भी यही पाया जाता है।

शंका, भय इत्यादि अष्टपाश मनुष्य को क्लीव व चिन्ताग्रस्त कर देते हैं। इससे मुक्त होने के लिये ही भगवान ने अर्जुन को आरम्भ में सचेत किया है :—

> **कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।**
> **अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकर अर्जुन॥**
> **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थनैतत्त्वय्युपपद्यते।**
> **क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥** २—२-३

हे अर्जुन! तुझको इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु प्राप्त हुआ, क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरण किया गया है, न स्वर्ग का देने वाला है, न कीर्ति देने वाला है। हे पार्थ! कायर न बन, यह तेरे योग्य नहीं है; हे परंतप! हृदय की दुर्बलता को त्याग कर, युद्ध के लिये उठ खड़ा हो।

विषम काल में मनुष्यों के हृदय में भयों द्वारा कैसी स्थिति होती है, यह भगवान ने परिमित शब्दों में स्पष्ट कर दिया—हृदय की दुर्बलता छोड़ कायर न बन। ये शब्द अर्जुन के लिये ही नहीं, अपितु सर्वसाधारण के लिये हैं।

एक बार जब हम एक निश्चित कार्य प्रणाली पर कर्म करने का निर्णय कर लेते हैं, तब हम परिस्थिति की कोई चिन्ता नहीं करते (आरम्भ में बार्न्स का

चरित्र) और फलाफल की ओर ध्यान ही नहीं देते। इसी को लक्ष्य कर भगवान उपदेश कर रहे हैं :—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः ॥२-३७

तू मर गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा, जीत गया तो पृथिवी को भोगेगा; इसलिये हे अर्जुन! कमर बाँध कर युद्ध के लिये खड़ा हो।

इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त इस प्रकार है :—

एक पुरुष को फाँसी का दंड दिया जाना था। उस कोठरी में और भी आठ कैदी फाँसी पाने वाले थे। उसको शान्त चित्त बैठे हुये देखकर एक बाहरी सज्जन ने उससे पूँछने की इच्छा की कि उसके मन में क्या भावना है, क्योंकि वे सबेरे ही लटकाये जाने वाले थे। उसने उत्तर में मुस्कुराकर कहा, "अच्छा है, अरे भाई सोचो अब मेरे कष्ट दूर होने को हैं, मुझे जीवन में कष्ट के सिवा कुछ न मिला। रोटी-कपड़ा जुटाने मे भी बड़ी कठिनाई थी, अब बहुत शीघ्र ही सब विषमतायें दूर हो जायेंगी। जब से मैंने निश्चय रूप से जान लिया कि मुझे मरना ही है, तब से मैंने अपने मन में मृत्यु का स्वागत करने का निश्चय कर लिया।" यह कह कर उसने शाम को डटकर तीन पुरुषों के बराबर आहार खाया और सो गया। निश्चय ने ही इस मनुष्य को मृत्यु भय से मुक्त कर दिया। आठ कैदी जो मृत्यु भय से ग्रस्त थे, एक कौर भी न निगल सके।

निश्चय के अभाव में ही ये सब मूलभय चिन्ता में परिवर्तित हो जाते हैं। मृत्यु के भय से क्यों ग्रस्त होना चाहिये जब यह निश्चय है कि जो जन्मता है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। इसलिये भय या चिन्ताग्रस्त होना वृथा है।

निर्धन हो जाने के भय को जड़ से उखाड़ फेंकिये। निश्चिन्त होकर जो कुछ भी आप अर्जन कर सकते हैं कीजिये और धनवान बनिये। लोक लाज को तिलांजलि देकर निन्दा जुगुप्सा को कुचल डालिये। निश्चिन्त होकर निश्चयात्मक बुद्धि पर डटे रहिये। वृद्धावस्था के भय को अपने लक्ष्य में बाधक न समझिये, अपितु यह समझिये कि यह भगवान की अनन्य कृपा है, उसका आशीर्वाद है, जो आपको वृद्धावस्था दे रहा है। इसी अवस्था में ज्ञान, आत्मसंयम और विवेक वरदान के रूप में मिलते हैं, जिनके दर्शन युवापन में सर्वथा दुर्लभ होते हैं। तब भय क्यों? रोग के लक्षणों की उपेक्षा कर व्याधि भय से मुक्ति पा लीजिये। प्रेम, सहानुभूति, हानि तथा भय को वैराग्य के विचारों को मन में भर कर दूर कर दीजिये, समझिये कि जगत् में कोई

किसी का नहीं है। "स्वारथ मीत सकल जग माही" या, "अकेले आये थे, अकेले जायेंगे" अथवा आसक्ति मोह की जननी है और "मोह सकल व्याधिन को मूल।"

भय से उत्पन्न चिन्ता के सभी रूपों को, इस विचार से दूर कर दीजिये कि जीवन में जो कुछ सुख उपलब्ध होता है, वह चिन्ता से नहीं, अपितु निश्चिन्तता से होता है, अथवा "भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्", दुःख की अचूक औषधि यही है कि उसका चिन्तन ही न किया जाय।

इस निश्चय से आपमें समत्व बुद्धि, मन की शान्ति और शान्तिपूर्वक विचार करने की क्षमता और सुख की उपलब्धि होगी।

एक व्यक्ति जिसमें भय भरा हुआ है, वह केवल अपनी ही बुद्धि क्षमता के सुअवसरों का नाश नहीं करता, अपितु वह ऐसी ध्वंसात्मक स्फुरणा का दूसरों के मन पर भी प्रभाव डालता है, जो उसके सम्पर्क में होते हैं। इस प्रकार वह उनके हितों पर भी आघात करता है।

एक डरपोक मालिक का कुत्ता या घोड़ा भी, अपने मालिक के साहस-हीन स्वभाव को पहिचान कर, संकट के समय, भागने की सोचने लगता है, क्योंकि मालिक के भय की स्फुरणा उसमें व्याप्त होकर, उसको ऐसा करने के लिये विवश करती है। एक शहद की मक्खी ज्योंही किसी मनुष्य में भय की भावना भान करती है—अज्ञात कारणवश—जिस व्यक्ति का मन भय के स्फुरण प्रगट करता है, उसको काटने को तुरन्त दौड़ती है। जिन लोगों के मन में भय नहीं होता उनसे कुछ नहीं बोलती। यह अनुभव मुझे सन् १६३६ में हुआ। मैं रीवाँ राज्य के केवटी जल-प्रपात देखने गया। वहाँ मधुमक्खियां हमारे सिर पर मंडराने लगीं। हमारे साथ एक स्वामी जी थे। उन्होंने कहा कि हाथ या कपड़ा मत हिलाओ और उधर ध्यान न दो, डरना नहीं वे आप चली जायेंगी। ऐसा ही किया गया और उन्होंने काटा नहीं।

भय की स्फुरणाओं की लहर इतनी शीघ्रता से एक दूसरे के मन में दौड़ जाती हैं, जैसे रेडियो की शब्द-ध्वनि एक केन्द्र से समस्त स्थान में प्रसारित होती रहती हैं। मानसिक भावना की गति वास्तविक है, एक मन के विचार दूसरे में सहसा प्रवेश करते हैं। यह अवश्यक नहीं कि उस व्यक्ति को जो विचार कर रहा है या दूसरे व्यक्ति को जिसमें वह विचार प्रवेश कर रहा है, इसका ज्ञान हो।

जो व्यक्ति मुख से ध्वंसात्मक विचारों को निकालता है, वह अनुमानतः उन शब्दों के उलटे परिणाम या फल के, निश्चय रूप से, अपने ही में धक्के

का अनुभव करता है। इसी प्रकार बिना शब्द के विचार या संवेग भी किसी न किसी रूप में उलटे आते हैं। सब से पहले तो वह व्यक्ति जो ध्वंसात्मक स्वभाव के विचार व्यक्त करता है, अवश्य अपनी रचनात्मक कल्पना की क्षमता को नष्ट करता है। दूसरे मन में ध्वंसात्मक विचारों का रहना एक निषेधात्मक (Negative) व्यक्तित्व बना लेता है, जो लोगों पर आघात करता है और बहुधा उनको अपना प्रतिद्वन्दी बना डालता है। जो व्यक्ति अपने मन में निषेधात्मक (Negative) विचारों को स्थान देता है अथवा उन्हें व्यक्त करता है, उसे तीसरी हानि यह होती है कि ये निषेधात्मक विचार उस व्यक्ति के **अवचेतन मन पर अड्डा जमा लेते हैं** और उसके स्वभाव का अंग बन जाते हैं। इस प्रकार वे दूसरों को ही हानि नहीं पहुँचाते, अपितु उसको भी बड़ी हानि पहुँचाते हैं, जो उन्हें धारण करता या व्यक्त करता है।

व्यक्तिगत विचारों को बाहर निकाल देने मात्र से छुटकारा नहीं मिल जाता। विचार मुख से निकला नहीं कि आकाश में भर जाता है और स्थायी रूप से उस व्यक्ति के अवचेतन मन में जमकर बैठ जाता है।

जीवन में आपका ध्येय सफल होने का है। सफल होने के लिये आपको शान्त मन बनाना होगा, जो जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को अर्जित करे और सब से अधिक **आनन्द या परम सुख** की उपलब्धि करे। इसी लिये भगवान बुद्धि-योग का उपदेश कर स्थितप्रज्ञ या धीर पुरुष बनने का आदेश देते हैं। ये सब प्रमाणित करते हैं कि **सफलता का आरम्भ विचार संवेग है।**

आप अपने मन को वश में कर सकते हैं। जैसे चाहें, वैसे विचारों से मन को पोषित करने की शक्ति आप में है। ऐसी सुविधा होने पर यह आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि रचनात्मक सृष्टि को ही मन में स्थान दें।

आप अपने भाग्य के स्वयं विधाता हैं, निश्चय रूप से वैसे ही, जैसे आप अपने विचारों के विधाता हैं। अपना उत्थान अथवा पतन आपही के हाथ में है :—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मना ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६-५-६

अपने द्वारा अपना ही उद्धार करे, अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि जीवात्मा आपही तो अपना मित्र है, आपही अपना शत्रु।

उस जीवात्मा का तो वह आपही मित्र है, जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है और जिसके द्वारा वह नहीं जीता गया है, उसका वह आपही शत्रु के सदृश बर्ताव करता है।

आप अपने विचारों, संवेगों को सीधे वश में कर सकते हैं और अन्त में वातावरण, पास पड़ोस की संगति तथा व्यवहार को, जैसा आप अपने जीवन को बनाना चाहते हैं, बना सकते हैं; जो सुविधाएँ आपके जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिये हैं, उनकी उपेक्षा आप कर सकते हैं। इस प्रकार आप अपने को घटनाओं के विस्तृत समुद्र में बहने के लिए फेंक रहे हैं, जहाँ आप तिनकों की भाँति तरंगवश कभी इस किनारे कभी उस किनारे लगते और उतराते रहेंगे।

अध्याय पन्द्रहवाँ

पिशाच की प्रयोगशाला

सातवाँ मूल दुर्गुण

छः भयों के मूल दुर्गुणों के साथ, एक सातवाँ भी दुर्गुण है, जिससे लोग कष्ट पाते हैं। उसमें ऐसी उर्वर भूमि है, जहाँ असफलता के बीज स्वतः बहुतायत से उग जाते हैं। वह इतना सूक्ष्म है कि उसकी उपस्थिति बहुधा अवगम नहीं हो पाती। यह व्याधि ठीक-ठीक भयों में वर्गीकृत नहीं की जा सकती। यह सभी छः भयों की अपेक्षा बहुत गहरे पैठा हुआ है और प्रायः अधिक घातक है। उचित नाम के अभाव में हम इस दुर्गुण को नकारात्मक (निषेधात्मक) स्वभाव कहेंगे।

जो लोग अधिक धन संचय में लगे हैं, वे सदा इस दुर्गुण से अपने को बचाये रखते हैं, किन्तु निर्धन व्यक्ति इसके फन्दे में आ जाते हैं। जो लोग किसी भी व्यवसाय में सफलता पाने के लिये लगे हुये हैं, उनको इस दुर्गुण का सामना करने के लिये सदा तैयार रहना चाहिये। यदि आप इस शास्त्र को धन संचय करने के लिये पढ़ रहे हैं, तो आप बहुत सतर्कता से अपना निरीक्षण कीजिये कि कहीं आप इस दुर्गुण से ग्रस्त तो नहीं है। यदि आप इस आत्म विश्लेषण करने की उपेक्षा करेंगे, तो आप अपनी इच्छा के लक्ष्य को प्राप्त करने के अधिकार को खो बैठेंगे।

विश्लेषण खूब छानबीन के साथ कीजिये। आत्मविश्लेषण की प्रश्नावली तैयार की गई है, उसको पढ़ने के उपरान्त, ठीक-ठीक ब्यौरा देने के लिये तत्पर रहिये। इस काम में ऐसी चेष्टा कीजिये मानो आप अपने शत्रु को ढूँढ़ रहे हैं, जो किसी झाड़ी में छिपा हुआ और वार करने को तत्पर हैं। ठीक ऐसी ही सावधानी अपने दोषों से रखिये, जो आपके प्रबल शत्रु हैं।

आप बटमारों से अपनी रक्षा सरलता पूर्वक कर सकते हैं, क्योंकि आपकी सुविधा के लिये व्यवस्थित सहयोग सरकारी विधान देता है, किन्तु "सातवें मूल दुर्गुण" को वश में करना अति कठिन है, क्योंकि जब आप उसकी उपस्थिति से सावधान नहीं होते, जब आप सो रहे हों या जाग रहे हों, तभी

वह चोट करता है। इसके अतिरिक्त उसके शस्त्र अगोचर हैं, क्योंकि उसमें केवल—एक मन की अवस्था है। यह दुर्गुण भयावह है, क्योंकि यह उतने ही भिन्न रूपों में चोट करता है, जितने मानव व्यवहार होते हैं। कभी-कभी यह अपने सम्बन्धियों की शुभ कामनाओं के शब्दों द्वारा मन में प्रवेश कर जाता है। दूसरे समयों में, मानसिक भाव द्वारा भीतर ही भीतर व्यथित करता रहता है। यह सदा उतना ही घातक है, जितना विष। हो सकता है कि वह तुरन्त प्राण न ले!

अपने को किस प्रकार नकारात्मक प्रभावों से सुरक्षित रखें

नकारात्मक प्रभावों से, चाहे वे स्वरचित हों या अपने संग के लोगों की बाधक क्रियाशीलता के परिणाम हों, अपने को बचाने के लिये यह दृढ़ धारणा कीजिये कि आप में वह इच्छा शक्ति है, जो उसको पछाड़ देगी। इच्छा शक्ति को तब तक निरन्तर उपयोग में लाते रहिये, जब तक नकारात्मक स्वभाव से पूर्णरूप से छुटकारा न मिल जाय।

इस तथ्य को भी स्वीकार कीजिये कि सभी दूसरे मनुष्य, जो आपकी दुर्बलताओं से तालमेल खाते हैं, स्वभाव से ही आलसी, उदासीन और सभी प्रस्तावों को ग्रहण करने वाले होते हैं।

यह भी जान लीजिये कि आपका स्वभाव भी इस दुर्गुण को ग्रहण करने योग्य है। इसे मिटाने के लिये अपनी दृढ़ इच्छा को तैयार कीजिये।

यह भी जान लीजिये कि आप अपने अवचेतन मन में बहुधा नकारात्मक प्रभावों से ग्रस्त रहते हैं, इसलिये उनको पहचानना कठिन है। जो लोग आपको निरुत्साहित करते हों या खिन्नता दिखाते हों, उनके लिये मन का द्वार बन्द कर दीजिये।

अपनी दवाइयों की आलमारी साफ कर डालिये और गोलियों की सभी शीशियों को निकाल बाहर फेंकिये और जुकाम-दर्द तथा काल्पनिक रोगों की शिकायत बन्द कर दीजिये।

आप उन लोगों की संगति खोजिये, **जो आपको विचार और कर्म करने के लिये प्रभावित कर सकें।**

कष्टों की कल्पना न कीजिये, क्योंकि ऐसा करना उनको निमन्त्रण देना है। यह दुर्बलता बड़ी हानिकारक है, क्योंकि अधिकांश लोग इसके प्रभाव में आकर, यह नहीं जानते या स्वीकार नहीं करते कि वे इस दुर्गुण से

ग्रस्त हैं। जो स्वीकार करते हैं, वे इस रोग से छुटकारा पाने का यत्न ही नहीं करते। परिणाम यह होता है कि रोग असाध्य हो जाता है।

उन लोगों की सहायता के लिये, जो अपना वास्तविक रूप देखना चाहते हैं, नीचे लिखी प्रश्नावली तैयार की गई है। प्रश्नों को पढ़िये और उसके उत्तर इतने ऊँचे स्वर में दीजिये कि आप सुन सकें।

यह क्रिया आत्मविश्वासी बनने में आपको सहायता देगी—

आत्मविश्लेषण परीक्षा प्रश्न

१. क्या आप बहुधा "अस्वस्थ होने" की शिकायत करते हैं? यदि ऐसा है; तो क्या कारण है?

२. क्या आप थोड़ा ही उकसाने पर दूसरे लोगों में दोष पाने लगते हैं?

३. क्या आप प्रायः अपने काम में भूलें करते हैं, यदि ऐसा है, तो क्यों?

४. क्या आप अपनी बातचीत में ताने मारते हैं और कटुता दिखाते हैं?

५. क्या आप जान-बूझ कर स्वयं दूसरों की संगति की उपेक्षा करते हैं? यदि ऐसा है, तो क्यों?

६. क्या आप बहुधा अजीर्ण रोग का कष्ट भोगते हैं? यदि ऐसा है, तो क्या कारण है?

७. क्या आपको जीवन निःसार और भविष्य आशाहीन दिखाई देता है? यदि ऐसा है, तो क्यों?

८. क्या आप अपना व्यवसाय पसन्द करते हैं? यदि नहीं, तो क्यों?

९. क्या आपको बहुधा अपने ऊपर दया आती है? यदि आती है, तो क्यों?

१०. जितनी आपकी उम्र बढ़ती है, अपने आत्म-विश्वास में लाभ प्राप्त कर रहे हैं, या खो रहे हैं?

११. क्या आप अपनी सभी भूलों से कुछ मूल्यवान सीख प्राप्त करते हैं?

१२. क्या आप अपने किसी सम्बन्धी या जान पहचान वाले को, अपने को चिन्तित करने की अनुज्ञा देते हैं? यदि ऐसा है तो क्यों?

१३. क्या आप उनसे ईर्षा करते हैं, जो आपसे विशिष्ट हैं?

१४. आप अपना अधिकांश समय किसमें बिताते हैं, सफलता के सोचने में या विफलता के सोचने में?

१५. क्या आप कभी आकाश की और कभी पाताल की सैर करते हैं?

१६. सबसे अधिक आप पर प्रभाव किसका है ? क्या कारण है ?
१७. क्या आप नकारात्मक अथवा हतोत्साहित प्रभावों को सहन कर सकते हैं, जिनको आप हटा सकते हैं ?
१८. जिन लोगों से आपकी घनिष्ठता है, उनमें आपने परस्पर क्या सम्बन्ध देखा । क्या आपको किसी व्यथा का अनुभव हुआ ?
१६. क्या आपने अप्रसन्न रहने की अपेक्षा, अपने कार्य में व्यग्र रहकर 'कष्टों को डुबा देना' सीखा है ?
२०. क्या आप ऐसे निर्जीव हैं कि आप के लिये सब कुछ दूसरे ही करें ?
२१. क्या आप आत्मशुद्धि की अवहेलना करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि आत्म-मादकता आपको दुष्प्रकृति एवं क्रोधी बना देती है ?
२२. कितनी बाधायें, जिनको आप टाल सकते हैं, आपको पीड़ित करती हैं और आप क्यों सहन करते हैं ?
२३. क्या अपनी स्नायुओं को शान्त करने के लिये मद्य, मादक द्रव्य, और सिगरेटों का उपयोग करते हैं ? यदि ऐसा है, तो आप उसके स्थान में अपनी इच्छा शक्ति का उपयोग क्यों नहीं करते ?
२४. क्या कोई आपको क्लेश पहुँचाता है ? यदि ऐसा है, तो क्यों ?
२५. क्या आप कोई निश्चित उद्देश्य रखते हैं ? यदि ऐसा है, तो उसकी उपलब्धि के लिये क्या योजना है ?
२६. क्या आप मौलिक छः भयों में से किसी एक से पीड़ित हैं ? यदि ऐसा है, तो क्यों ?
२७. क्या आपके पास ऐसी कोई रीति है, जिससे आप अपने को दूसरों के नकारात्मक प्रभावों से बचा सकें ?
२८. क्या आप अपने मन को सार्थक बनाने के लिये, दृढ़ता से आत्म-प्रस्तावना का उपयोग करते हैं ?
२६. किसको आप अधिक मूल्यवान समझते हैं, अपनी भौतिक सम्पत्ति को या स्वयं अपने विचारों पर नियंत्रण करने के अधिकार को ?
३०. क्या आप स्वयं अपने निर्णय पर दूसरों द्वारा सरलता से प्रभावित हो जाते हैं ?
३१. आज आपने अपने ज्ञान के भण्डार में अथवा मन की अवस्था में, कौन से मूल्यवान विचार भरे ?
३२. क्या आप ऐसी परिस्थिति का सामना उचित ढंग से करते हैं, जो

आपको दुःखदायी बनाती है या आपके उत्तरदायित्व को बरा जाती हैं ?

३३. क्या आप दूसरे लोगों को इस बात के लिये प्रोत्साहित करते हैं कि वे अपना दुखड़ा आपके पास लायें ?

३४. दूसरों की कौन सी प्रवृत्तियाँ आपको व्यथित करती हैं ?

३५. क्या आप सभी भूलों और विफलताओं का विश्लेषण करते हैं और उनसे लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं, अथवा अपना ऐसा ढंग बना लेते हैं कि यह आपका कर्त्तव्य नहीं है ?

३६. क्या आप अपनी सबसे अधिक हानिकर तीन दुर्बलताओं का नाम दे सकते हैं ? उनके सुधारने के लिये आप क्या कर रहे हैं ?

३७. क्या आप अपने नित्य के अनुभवों से कोई शिक्षा या प्रभाव लेना पसंद करते हैं, जो आपकी उन्नति में सहायक हो ?

३८. क्या आपकी उपस्थिति सामान्यतः दूसरे लोगों पर नकारात्मक प्रभाव डालती है ?

३९. क्या आप अपनी स्वयं सम्मति बनाते हैं या दूसरों के प्रभाव में आ जाते हैं ?

४०. क्या आपने मनकी ऐसी अवस्था बनाना सीखा है, जिससे आप दूसरों के उत्साहहीन प्रभावों से बच सकें ?

४१. क्या आपका व्यवसाय या धन्धा श्रद्धा और आशा को प्रोत्साहित करता है ?

४२. क्या आप पर्याप्त बल को और आध्यात्मिक शक्तियों को अधिकार में रखने के लिये सचेत हैं, जिससे आप भयों के सभी रूपों से अपने मन को मुक्त रखने के योग्य हों ?

४३. क्या आपका (पारमार्थिक) धर्म आपके मन को निःशंक रखने में सहायक है ?

४४. क्या आप दूसरों की चिन्ता बटाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं ? यदि ऐसा है, तो क्यों ?

४५. यदि आप विश्वास करते हैं कि "पंखवाले पक्षी आपस में एकत्र रहते हैं, तो जिन मित्रों को आप आकर्षित करते हैं, उनके अध्ययन से आपने अपने विषय में क्या सीखा ?

४६. क्या यह संभव हो सकता है कि कुछ व्यक्ति जिनको आप मित्र समझते हैं, नकारात्मक स्वभाव के कारण, वास्तव में, आपके सबसे बड़े शत्रु हों ?

४७. किन नियमों के अनुसार, आप यह निर्णय करते हैं कि अमुक व्यक्ति आपको लाभ पहुँचाता है और अमुक व्यक्ति हानि पहुँचा रहा है ?

४८. क्या आपके घनिष्ट मित्र तथा मिलने वाले लोग बुद्धि में आपसे श्रेष्ठ हैं या हीन हैं ?

४६. प्रति चौबीस घण्टों में, आप कितना समय इन कामों में व्यतीत करते हैं ?

(क) अपनी आजीविका में ।
(ख) निद्रा में ।
(ग) खेल और विश्राम में ।
(घ) लाभकारी ज्ञान उपार्जन में ।
(ङ) कोरा व्यर्थ समय बिताने में ।

५० आपके बीच जाना पहचान के कौन हैं ?

(क) जो आपको अधिक प्रोत्साहन देते हैं ।
(ख) आपको अधिक सावधान करते हैं ।
(ग) आपको अधिक निरुत्साह करते हैं ।
(घ) दूसरे मार्गों में अधिक सहायता देते हैं ।

५१. आपकी सबसे बड़ी चिन्ता क्या है ? उसको क्यों आप सहन करते हैं ?

५२. दूसरे लोग आपको मुफ़्त में क्या देते हैं ? बिना माँगी सलाह ? क्या आप बिना प्रश्न किये उसे स्वीकार कर लेते हैं या उनके अभिप्राय का विश्लेषण करते हैं ?

५३. सबसे बढ़ कर आपको अधिकतम किस वस्तु की इच्छा है ? क्या आप का उसके उपार्जन का इरादा है ? क्या आप इस अकेली इच्छा के लिये सभी इच्छाओं को गौण या उपेक्षित कर देने को उत्सुक हैं ? उसके उपार्जन में आप कितना समय प्रतिदिन लगाते हैं ?

५४. क्या आप अपना मन बहुधा बदलते रहते हैं ? यदि ऐसा है, तो क्यों ?

५५. क्या आप बहुधा जो काम प्रारम्भ करते हैं, उसका पूरा करते हैं ?

५६. क्या आप सरलता से दूसरों के व्यवसाय, धन्धे, उपाधियाँ या कालेज की डिग्री अथवा धन के प्रति आकर्षित होते हैं ?

५७. क्या आप उन दूसरे लोगों से सरलता से प्रभावित होते हैं, जो आपके विषय में सोचते या कहते हैं ?

५८. क्या आप उन लोगों को जो सामाजिक अथवा आर्थिक पद पर हैं, भोजन के लिये आमन्त्रित करते हैं ?

५९. जीवित पुरुषों में आप किसको महान् पुरुष समझते हैं ? वे किस बात में आप से श्रेष्ठ हैं ?

६०. कितना समय आपने इन प्रश्नों के उत्तर देने तथा अध्ययन में लगाया ? (कम से कम इनके विश्लेषण और उत्तर देने को एक दिन आवश्यक है)।

यदि आपने सत्य चित्त होकर इन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया है, तो आप अपने विषय में, अधिकांश लोगों की अपेक्षा, अधिक जानते हैं। प्रश्नों का अध्ययन सावधानी से कीजिये और कई महीनों तक प्रति सप्ताह एक दिन के लिये फिर-फिर देखिये, तब आप विस्मय करेंगे कि सरल प्रणाली से सत्य-सत्य उत्तर दे कर आपने अपने लिये बहुमूल्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। कुछ विषयों के प्रश्नों के उत्तर के लिये यदि आप निश्चित नहीं हैं, तो आप किसी दूसरे व्यक्ति की सम्मति लें, जिसको आप भली भाँति जानते हैं और विशेष रूप से उस व्यक्ति की जिसे आपकी चापलूसी करने में कोई लाभ नहीं है। अपने को उसकी आँखों द्वारा देखिये।

आप सब पर नियन्त्रण कर सकते हैं, पर विचारों पर नहीं। मनुष्य की जानकारी में सब तथ्यों में मुख्य और प्रोत्साहक तथा महत्वपूर्ण तथ्य यही है। यह मनुष्य के दिव्य भाव को प्रतिबिम्बित करता है। यह दैवी विशेषाधिकार ही केवल एक साधन है, जिससे आप अपने भाग्य पर नियन्त्रण कर सकते हैं। यदि आप अपने भाग्य पर नियन्त्रण करने में विफल होते हैं, तो आप निश्चय जानिये कि आप किसी और पर नियन्त्रण नहीं कर सकते।

यदि आप असावधान हैं, तो निरर्थक वस्तुओं के सम्बन्ध में असावधान होइये। आपका मन ही आपका आध्यात्मिक राज्य है। उसकी रक्षा कीजिये और उसे सावधानी से दैवी संपत्ति प्राप्त करने के योग्य बनाइये। इसी उद्देश्य के लिये आपको इच्छा शक्ति प्रदान की गई है।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कुछ लोग जानबूझ कर अथवा अनजान में दूसरे के मार्ग में रोड़ा अटका कर उनके मन को विषाक्त बना देते हैं। अड़ंगा लगाने वाले लोगों ने टामस एडीसन से कहा कि, "तुम ऐसा यंत्र कभी नहीं बना सकते, जो मनुष्य के शब्दों को ग्रहण कर निःसारित करे। ऐसा यन्त्र न कभी बना और न बनेगा।" एडीसन ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। वह जानता था कि "जिस वस्तु की मन कल्पना कर सकता है, उसका निर्माण भी कर सकता है। इसी दृढ़ता ने एडीसन को सामान्य व्यक्ति से ऊँचा उठा दिया।

दीर्घसूत्री अर्थात् नकारात्मक बुद्धि वालों ने वूल वर्थ (Wool Worth) से कहा कि यदि तुम "पाँच सेंट और दस सेंट" (स्टोर) की दूकान खोलोगे, तो दिवालिया हो जाओगे। उसने उन लोगों की बात सुनी अनसुनी कर दी। वह जानता था कि यदि वह **अपनी योजना श्रद्धा के साथ किसी काम में लगाये, तो वह कोई भी काम कर सकता है**। अपने स्वत्व को प्रयोग में लाकर और बिना मोल की सलाह देने वालों को दूर रखकर, उसने संसार में सब से ऊँचा भवन बनाया और करोड़ों कमाया। ज्यार्ज वाशिंगटन से भी ऐसे लोगों ने कहा था कि ब्रिटेन की महान् शक्ति के सामने टिक न सकोगे, परन्तु उसने अपने दैवी अधिकार में विश्वास का प्रयोग किया और युद्धि में विजय प्राप्त कर अमेरिका को स्वतन्त्र करा दिया।

जब फोर्ड ने अपनी पहली (गाड़ी) भद्दी मोटर डिटरायट की सड़कों पर परीक्षा के लिये चलाई थी, तब अश्रद्धालु थामस बन्धुओं ने उपहास किया था। अविश्वासी लोगों ने कहा था कि वह कभी व्यवहार में न आयेगी। दूसरे संशयालु लोगों ने कहा था कि इतना धन देकर छकड़े को कोई मोल न लेगा। उस समय फोर्ड ने कहा था कि, "मैं पृथ्वी को ऐसी विश्वस्त गाड़ियों से भर दूँगा।" और उसने ऐसा ही कर दिखाया। इस दृढ़निश्चय से उसने इतना पर्याप्त धन कमा लिया कि उसकी आगामी पाँच पीढ़ियाँ उसका अपव्यय भी करें, तो भी वह न चुकेगा। उन लोगों के हित के लिये जो महान् धन की खोज में हैं, यह जीताजागता आदर्श है। हेनरी फोर्ड और उसके एक लाख कर्मचारियों के बीच केवल यही एक भेद था कि, "फोर्ड का एक मन है, जिस पर वह नियन्त्रण करता था, दूसरे उस पर नियन्त्रित करने का प्रयत्न नहीं करते।"

फोर्ड का नाम बार-बार इस पुस्तक में लिया गया है, क्योंकि वह इस विस्मयकारक तथ्य का उदाहरण है कि एक पुरुष के पास मन होते हुये और उसको नियन्त्रित करने की इच्छा रहने पर वह क्या नहीं कर सकता। उसके चरित्र ने इस बहाने की, "मुझे अवसर कभी न मिला था," जड़ को उखाड़ कर फेंक दिया। फोर्ड के पास भी अवसर नहीं था, परन्तु उसने उस अवसर का निर्माण किया और अनवरत चेष्टा द्वारा उसको पुष्ट किया।

आत्मानुशासन और प्रवृत्ति का फल मनोनिग्रह है। या तो आप मन पर नियन्त्रण करें, अन्यथा वही आप पर नियन्त्रण करेगा। मन को नियन्त्रित करने की पद्धतियों में सबसे व्यावहारिक पद्धति यह है कि एक निर्दिष्ट योजना में मन को सदा व्यस्त रखा जाय। उल्लेखनीय सफल पुरुषों के चरित्र

का अध्ययन कीजिये तो आप देखेंगे कि उनमें अपने मन पर नियन्त्रण करने का बल था और उस नियन्त्रण को वे एक निर्दिष्ट उपलब्धि के लिये प्रयोग में लाते थे। इस नियन्त्रण के बिना, सफलता संभव नहीं थी।

प्रसिद्ध बहाने (Alibis)

जो लोग, सफलता प्राप्त नहीं करते, उन सब में परम्परागत एक से ही लक्षण होते हैं। वे असफलता के सभी कारणों को जानते हैं और उनको न्यायोचित ठहराने के लिये, अपने विश्वास का एक न एक अकाट्य कारण, जो कोरा बहाना मात्र होता है, प्रस्तुत करते हैं। इनमें से कुछ बहाने तो चतुराई के होते हैं और कुछ अंश में न्यायोचित भी होते हैं। किन्तु सम्पदा प्राप्त करने के लिये बहाने कभी भी उपयोग में नहीं आ सकते। जगत् तो केवल एक बात जानना चाहता है—**क्या आपने सिद्धि उपलब्ध कर ली है?**

सामान्यतः जो बहाने प्रयोग में लाये जाते हैं उनकी सूची, जिसे एक चरित्रविशेषज्ञ ने बनायी है, यहाँ दी जाती है। जब आप इस सूची को पढ़ें, तब सावधानी से जाँचिये और निर्णय कीजिये कि कदाचित् इनमें से कोई आपको तो नहीं ग्रसित किये हुये है। यह ध्यान रहे कि सम्पत्ति-शास्त्र के लिये इनमें से प्रत्येक बहाना हानिकारक है।

मुख्य प्रसिद्ध बहाने

यदि मेरे स्त्री बच्चे न होते
यदि मुझे सहायता मिलती
यदि मेरे पास धन होता
यदि मैं सुशिक्षित होता
यदि मुझे वह काम मिला होता
यदि मेरा स्वास्थ्य अच्छा होता
यदि मुझे समय होता
यदि समय अच्छा होता
यदि दूसरे लोगों ने मुझे समझा होता
यदि मेरे चारों ओर की परिस्थिति भिन्न होती
यदि मैं फिर से अपना जीवन पाता
यदि मैंने भय न खाया होता कि
यदि दूसरों ने मेरे लिये न अपनाया होता
यदि मैं कुछ जवान होता
यदि मैं अमीर पैदा हुआ होता
यदि मैं उपयुक्त लोगों से मिल सका
यदि लोगों ने मुझे घबड़ाया न होता
यदि मैं कुछ धन बचा सकता
यदि मालिक ने मेरी सराहना की होती
यदि मेरी सहायता करने को दूसरा होता
यदि मेरे घर वालों ने मुझे समझा होता

लोग क्या कहेंगे

यदि मुझे अवसर दिया गया होता
यदि मुझे रोकने को कुछ न घटित हुआ होता
यदि मुझ में वैसी बुद्धि होती, जैसी दूसरे में है
यदि मैंने आग्रह करने का साहस किया होता
यदि मैंने पिछले अवसरों को अपनाया होता
यदि मुझे घर की व बच्चों की देख-रेख करनी न होती
यदि मैंने प्रारम्भ ही कर दिया होता
यदि मेरा दूसरों के समान व्यक्तित्व होता
यदि मेरी बुद्धि परिपक्व होती
यदि मुझमें इतनी चिन्तायें न लगी होती
यदि मैं स्वतन्त्र होता
यदि मेरा भाग्य होता
यदि मैं ऋण से उऋण होता
यदि मैं असफल न हुआ होता
यदि मैं करना जानता
यदि मैं किसी बड़े नगर में रहता होता
यदि सभी लोगो ने मेरा विरोध न किया होता
यदि मैं उपर्युक्त विवाह कर सकता
यदि लोग इतने गूंगे न होते
यदि मेरा कुटुम्ब इतना अपव्ययी न होता
यदि मैं स्वयं निःसंशय होता
यदि भाग्य मेरे विपरीत न होता
यदि मैं बुरे नक्षत्र में न जन्मता
यदि यह सत्य न होता, "जो होना है सो होगा"
यदि मुझे इतने परिश्रम से काम न करना पड़ता
यदि मेरा धन न खो गया होता
यदि मैं अन्य पड़ोस में रहता
यदि मेरा भूतकाल ठीक होता
यदि मेरा अपना व्यवसाय होता
यदि दूसरे लोगों ने मेरी सुनी होती
यदि जैसा मैं चाहता वैसा कर सकता
यदि मैं इतना मोटा न होता
यदि मुझे अपने पर भरोसा होता

यदि—जो सबसे बड़ी है, किसी बात में लगाई जाय,

असफलता न्यायोचित ठहराने को विवरण के लिये बहाना 'यदि' जातीय खिलवाड़ है। यह प्रवृत्ति उतनी ही पुरानी है, जितनी कि मानव जाति। यह सफलता के लिये घातक है। लोग क्यों इन बहानों को पालते हैं, इसका उत्तर स्पष्ट है—वे बहाने बनाते हैं। मनुष्य का बहाना उसकी कल्पना का ही बच्चा है, और उस बच्चे की रक्षा करना मनुष्य का स्वभाव है।

बहाने बनाने की जड़ बहुत गहरी है, उसने स्वभाव को अपना अधिष्ठान बना लिया है। अतः इसे मिटाना कठिन है, विशेष रूप से जब वे किसी

काम को न करने के लिये पुष्टीकरण प्रस्तुत किये जाँय। **प्लाटो** के मन में यह सत्य था, तभी उसने कहा था, "पहली और सबसे बड़ी विजय तो अपने शरीर पर है। शरीर का वश में न होना सबसे बड़ा लज्जाजनक दुर्गुण है।"

दूसरे दार्शनिक के मन में भी समान विचार थे, जब उसने कहा था, "मुझे बड़ा अचम्भा हुआ, जब मैंने खोज निकाला कि अधिकांश बुराइयाँ, जो मैंने दूसरों में देखीं, वे केवल मेरे स्वभाव की प्रतिबिम्ब थीं।"

एल्बर्ट हब्बर्ड ने कहा है कि लोग अपनी दुर्बलताओं को ढकने के लिये बहाने बना कर और जानबूझ कर अपने को मूर्खता में डाल कर क्यों इतना समय बिताते हैं, यह मेरे लिये सदा रहस्य ही बना रहा। यदि यही समय भिन्न रूप में उपयोग में लाया जाता, तो दुर्बलता को मिटाने के लिये पर्याप्त होता और बहाने की कोई आवश्यकता न पड़ती।

आप से बिदा लेते हुये मैं यह ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि जीवन एक शतरंज का तख्ता है और आपके सामने खेलने वाला **समय** ही है। यदि आप चाल चलने में हिचकिचायेंगे या तुरन्त चलने की उपेक्षा करेगें, तो **समय** द्वारा आपके मोहरे सब पिट जायेंगे। आप ऐसे प्रतिद्वन्द्वी के सामने खेल रहे हैं, जो "अनिश्चय" को सहन नहीं करेगा।

हो सकता है, इसके पहले आपके पास प्रद्रव्य के लिये जीवन को विवश न करने का बहाना था, किन्तु वह बहाना अव्यवहारिक था, जो गत हो गया। अब आपके पास "मुख्य कुंजी" उस जीवन के द्वार को खोलने की है, जिसमें कुबेर की सम्पदा है। वह 'कुंजी' अदृश्य है, परन्तु शक्तिशाली है। वही कुंजी एक निर्दिष्ट रूप की विभूति को प्राप्त करने के लिये, अपने मन में एक **ज्वलन्त इच्छा** के निर्माण करने का विशेषाधिकार है। इस कुंजी को उपयोग में लाने के लिये कोई दंड नहीं है। किन्तु यदि आप इसका उपयोग न करें, तो इसका दंड आपको भोगना ही पड़ेगा। वह दंड है **असफलता**। यदि आप इसको उपयोग में लाते हैं, तो इसके लिये पुरस्कार की महान राशि सुरक्षित है। जो मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे अपने जीवन में यथेष्ट विभूति प्राप्त कर लेते हैं।

यदि आत्मा एक है, जिससे हम सब सम्बन्धित कहलाते हैं, तो हम मिलेंगे, ऐसा एमर्सन ने कहा है। उसके इस विचार को लेकर ही मैं यह कह रहा हूँ, "यदि हम सब एक आत्मा द्वारा सम्बन्धित हैं, तो हम इस पुस्तक द्वारा एकाकार हो गये हैं:—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ १८-५६-५७

मेरे (अपने इष्ट के) परायण होकर, सब कर्मों को सदा करता हुआ भी, मेरी (अपने इष्ट की) कृपा से सनातन अव्यय पद को प्राप्त होता है। सभी कर्मों को मुझ में (अपने इष्ट में) अर्पण कर, मेरे (इष्ट के) परायण होकर और बुद्धि-योग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझ में (इष्ट में) एक चित्त वाला हो। व्यक्ति जब अपने ध्येय में अनन्य भाव से व्यस्त रहता है तब :—

मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अपने इष्ट में निरन्तर मन (लगाने) वाला, इष्ट की कृपा से सब संकट एवं विघ्नों से पार हो जाता है। जिसका फल है।

सिद्धि—विभूति—सायुज्य

—: ० :—

उपसंहार

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

भगवन्, मैं विभूति मार्ग को छोड़ कर अकर्मण्य के मार्ग में अग्रसर हो रहा था—

'न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।'

आपने मेरी आँखें खोल दी। विभूति की उपेक्षा का जो भाव मेरे मन में था वह चला गया। अब विभूति की महिमा मेरी समझ में आ गयी, अतः आपके निर्देशानुसार मैं विभूतिमान् बनूँगा।

ॐ तत्सत्